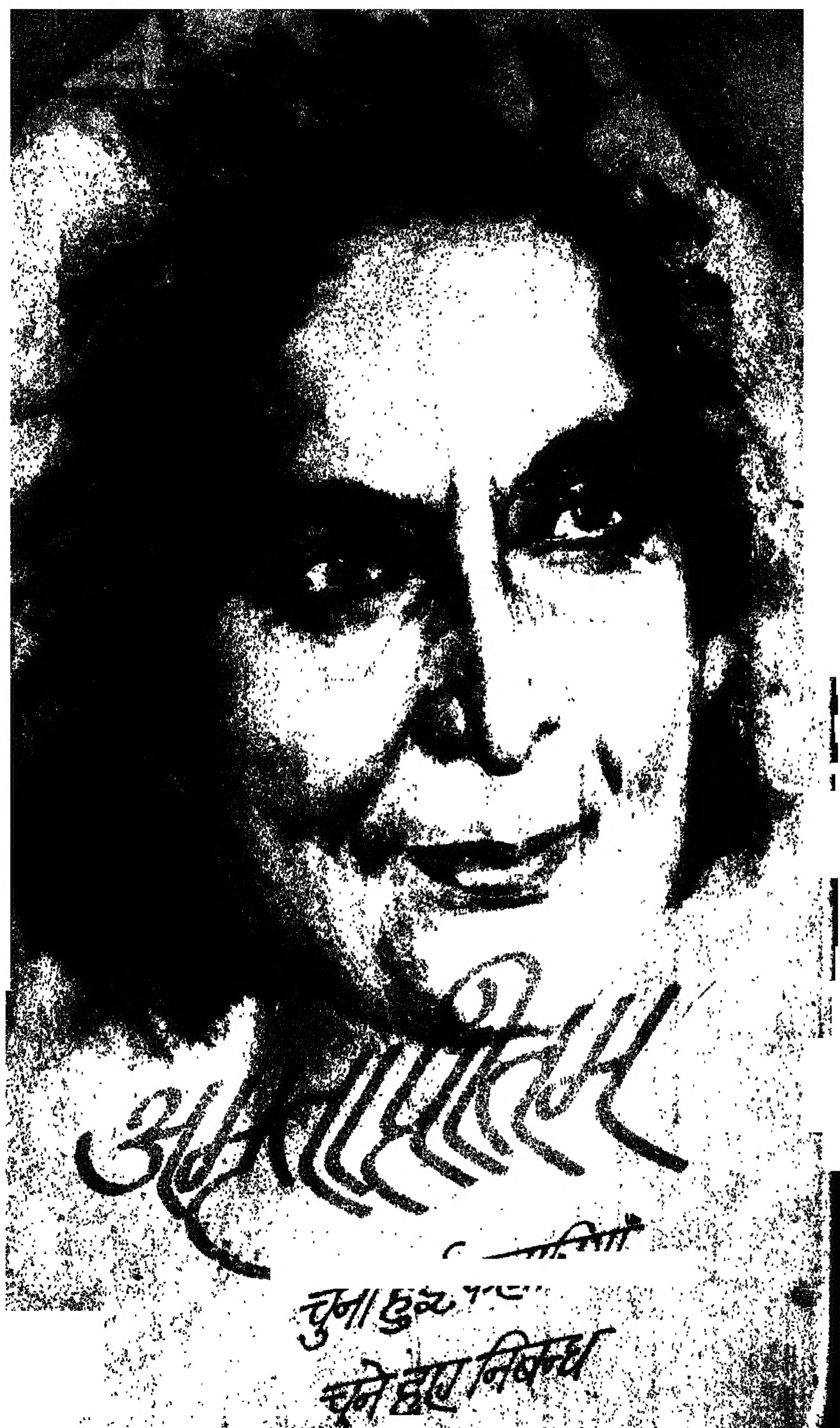

अमृता प्रीतम
चुने हुए निबन्ध

अमृता प्रीतम : चुनी हुई कहानियाँ
चुने हुए निबन्ध
मेरी सम्पादकीय डायरी

अमृता प्रीतम

चुनी हुई कहानियाँ

चुने हुए निबन्ध



अमृता प्रीतम : चुनी हुई कहानियाँ,
चुने हुए निबन्ध

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ,
18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110003

मुद्रक :
शकुन प्रिंटर्स,
पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110032

आवरण-शिल्पी
इमरोज



AMRITA PRITAM : CHUNEE HUI KAHANIYAN, CHUNE HUE NIBANDHA. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003. Printed at Shakun Printers. Panchsheel Garden, Naveen Shahdara. Delhi-110032.

अपनी बेटी कंदला के नाम

कहानियाँ

जंगली बूटी 3
गुलियाना का खत 11
बू 18
अजनबी 25
एक निश्वास 31
लटिया की छोकरी 38
गाँजे की कली 47
पांच बरस लम्बी सड़क 60
एक मर्द : एक औरत 69
शाह की कजरी 77
दो खिड़कियाँ 83
एक शहर की मौत 96
मलिका 103
आत्मकथा 115
न जाने कौन रंग रे 123
जरी का कफ़न 131
अँधेरे का कमण्डल 133
कल और आज 139
गौ का मालिक 144
तहखाना 148
पिघलती चट्टान 153
अपना-अपना कर्ज़ 158
धन्नो 169
सात सौ बीस कदम 173
पच्चीस छब्बीस और •
सताइस जनवरी 181
अपने-अपने छेद 188
वह दूसरा 193
यह कहानी नहीं 199
वह आदमी 207
तीसरी औरत 218
और नदी बहती रही 223

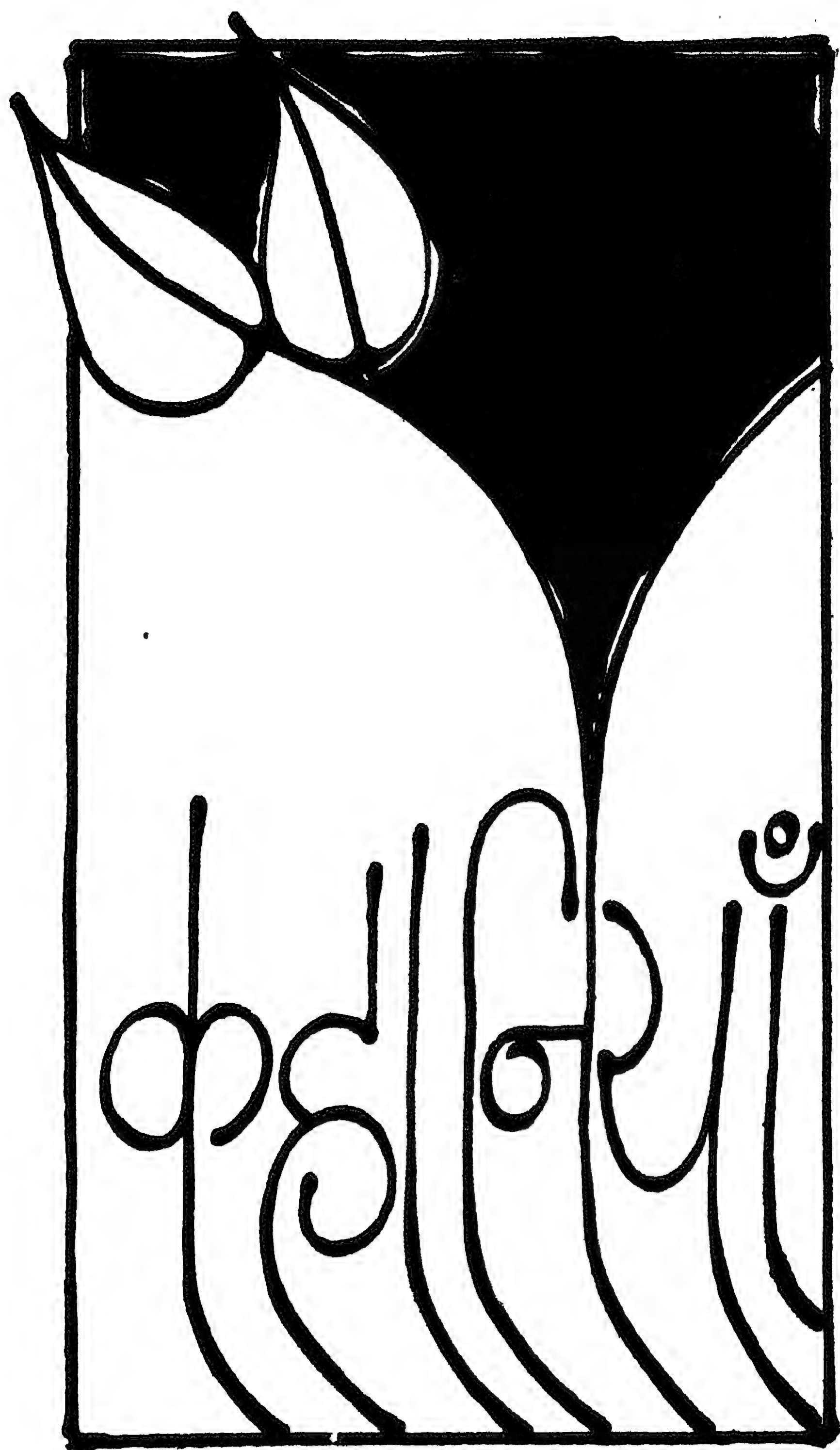
निबन्ध

नेपाल की एक गाती हुई रात 231
तारों की हुंकार 236
धरती का सम्बन्ध 243
आँसुओं का रिश्ता 248
नाचते पानियों के किनारे एक शाम 254

259 पैंतालीस वर्षीय शहर यिरेवान
264 खामोशी का गीत
266 चुप की बन्द गली
269 एक गीत का जन्म, एक अवस्था का जन्म
276 द्रुग्रोवनिक (छब्बीस थियेटरों का शहर)
283 आग के फूल : आग की लकीर
288 एक बैठक : एक दुपहर
292 इतालवी धरती

मेरी सम्पादकीय डायरी

295 हैलो ! प्यारे माइक।
297 बार्दो होंद
299 कला वृक्ष
301 संजीवनी विद्या
303 तर्क का शिष्टाचार
305 अंकुश
307 हम ग़द्दार
309 सिरकाट राजा की बेटी
312 एक आवाज़
315 छोटे-छोटे ख़ुदा
317 एक सतर : एक तक़दीर
319 खट्टण गयों है खट्टू के ले आयों
321 एक लफ़्ज का इतिहास
323 गुण और प्रतीक
326 दीवारों मे चिनी हुई लड़कियाँ
328 मोहब्बत:एक वक्री ग्रह
331 कौन आदमी
333 एक कर्म : अनेक रूप
335 एक नज़्म का विस्तार
336 वाक्य रचना
338 स्वयं कृष्ण और स्वयं अर्जन
341 अपना कोना
343 अक्षर शक्ति
345 पहचान
347 आबेहयात
349 यथार्थ जो है और यथार्थ जो होना चाहिए
352 जवानी की बावरी लटें
355 शुद्ध स्वर
357 सूर्य नाड़ी—चन्द्र नाड़ी
359 ऊँचा आसमान



जंगली बूटी

अंगूरी, मेरे पड़ोसियों के पड़ोसियों के पड़ोसियों के घर, उन के बड़े ही पुराने नौकर की बिलकुल नयी बीवी है। एक तो नयी इस बात से कि वह अपने पति की दूसरी बीवी है, सो उस का पति 'दुहाजू' हुआ। जू का मतलब अगर 'जून' हो तो इस का पूरा मतलब निकला 'दूसरी जून में पड चुका आदमी,' यानी दूसरे विवाह की जून मे, और अंगूरी क्योकि अभी विवाह की पहली जून में ही है, यानी पहली विवाह की जून में, इसलिए नयी हुई। और दूसरे वह इस बात से भी नयी है कि उस का गौना आये अभी जितने महीने हुए है, वे सारे महीने मिलकर भी एक साल नही बनेगे।

पाँच-छह साल हुए, प्रभाती जब अपने मालिको से छुट्टी लेकर अपनी पहली पत्नी की 'किरिया' करने के लिए अपने गाँव गया था, तो कहते है कि किरिया-वाले दिन इस अंगूरी के बाप ने उस का अंगोछा निचोड दिया था। किसी भी मर्द का यह अंगोछा भले ही अपनी पत्नी की मौत पर आँसुओं से नही भीगा होता, चौथे दिन या किरिया के दिन नहाकर बदन पोछने के बाद वह अंगोछा पानी से ही भीगा होता है, पर इस साधारण-सी गाँव की रस्म से किसी और लड़की का बाप उठकर जब यह अंगोछा निचोड़ देता है तो जैसे कह रहा होता है—"उस मरनेवाली की जगह मै तुम्हें अपनी बेटी देता हूँ और अब तुम्हे रोने की जरूरत नही, मैं ने तुम्हारा आँसुओ से भीगा हुआ अंगोछा भी सुखा दिया है।"

इस तरह प्रभाती का इस अंगूरी के साथ दूसरा विवाह हो गया था। पर एक तो अंगूरी अभी आयु की बहुत छोटी थी, और दूसरे अंगूरी की माँ गठिया के रोग से जुडी हुई थी इसलिए गौने की बात पाँच सालों पर जा पडी थी।···फिर एक-एक कर पाँच साल भी निकल गये थे। और इस साल जब प्रभाती अपने मालिकों से छुट्टी लेकर अपने गाँव गौना लेने गया था तो अपने मालिको को पहले ही कह गया था कि या तो वह अपनी बहू को भी साथ लायेगा और शहर मे अपने साथ रखेगा, या फिर वह भी गाँव से नही लौटेगा। मालिक पहले तो दलील

करने लगे थे कि एक प्रभाती की जगह अपनी रसोई में से वे दो जनों की रोटी नहीं देना चाहते थे। पर जब प्रभाती ने यह बात कही कि वह कोठरी के पीछेवाली कच्ची जगह को पोतकर, अपना अलग चूल्हा बनायेगी, अपना पकायेगी, अपना खायेगी, तो उस के मालिक यह बात मान गये थे। सो अंगूरी शहर आ गयी थी। चाहे अंगूरी ने शहर आकर कुछ दिन महल्ले के मर्दों से तो क्या औरतों से भी घूंघट न उठाया था, पर फिर धीरे-धीरे उस का घूंघट झीना हो गया था। वह पैरों में चाँदी की झाँजरें पहनकर छनक-छनक करती महल्ले की रौनक बन गयी थी। एक झाँजर उस के पांवों में पहनी होती, एक उस की हँसी में। चाहे वह दिन का अधिकतर हिस्सा अपनी कोठरी में ही रहती थी पर जब भी बाहर निकलती, एक रौनक उस के पाँवों के साथ-साथ चलती थी।

"यह क्या पहना है, अंगूरी ?"

"यह तो मेरे पैरों की छैल चूड़ी है।"

"और यह उँगलियों में ?"

"यह तो बिछुआ है।"

"और यह बाँहों में ?"

"यह तो पछेला है।"

"और माथे पर ?"

"आलीबन्द कहते हैं इसे।"

"आज तुम ने कमर में कुछ नहीं पहना ?"

"तगड़ी बहुत भारी लगती है, कल को पहनूंगी। आज तो मैं ने तौक भी नहीं पहना। उस का टाँका टूट गया है। कल सहर में जाऊँगी, टाँका भी गढ़ाऊँगी और नाक की कील भी लाऊँगी। मेरी नाक को नकसा भी था, इत्ता बड़ा, मेरी सास ने दिया नहीं।"

इस तरह अंगूरी अपने चाँदी के गहने एक नख़रे से पहनती थी, एक नख़रे से दिखाती थी।

पीछे जब मौसम फिरा था, अंगूरी का अपनी छोटी कोठरी में दम घुटने लगा था। वह बहुत बार मेरे घर के सामने आ बैठती थी। मेरे घर के आगे नीम के बड़े-बड़े पेड़ हैं, और इन पेड़ों के पास जरा ऊँची जगह पर एक पुराना कुआँ है। चाहे महल्ले का कोई भी आदमी इस कुएँ से पानी नहीं भरता, पर इस के पार एक सरकारी सड़क बन रही है और उस सड़क के मजदूर कई बार इस कुएँ को चला लेते हैं जिस से कुएँ के गिर्द अकसर पानी गिरा होता है और यह जगह बड़ी ठण्डी रहती है।

"क्या पढ़ती हो, बीबीजी ?" एक दिन अंगूरी जब आयी, मैं नीम के पेड़ों के नीचे बैठकर एक किताब पढ़ रही थी।

"तुम पढ़ोगी ?"

"मेरे को पढ़ना नहीं आता ।"

"सीख लो ।"

"ना ।"

"क्यों ?"

"औरतों को पाप लगता है पढ़ने से ।"

"औरतों को पाप लगता है, मर्द को नहीं लगता ?"

"ना, मर्द को नहीं लगता

"यह तुम्हें किस ने कहा है ?"

"मैं जानती हूँ ।"

"फिर मैं तो पढ़ती हूँ । मुझे पाप लगेगा ?"

"सहर की औरत को पाप नहीं लगता, गाँव की औरत को पाप लगता है ।"

मैं भी हँस पड़ी और अंगूरी भी। अंगूरी ने जो कुछ सीखा-सुना हुआ था, उस में उसे कोई शंका नहीं थी, इसलिए मैं ने उस से कुछ न कहा। वह अगर हँसती-खेलती अपनी ज़िन्दगी के दायरे में सुखी रह सकती थी, तो उस के लिए यही ठीक था। वैसे मैं अंगूरी के मुँह की ओर ध्यान लगाकर देखती रही। गहरे सांवले रंग में उस के बदन का मांस गुँथा हुआ था। कहते हैं—औरत आटे की लोई होती है। पर कइयों के बदन का मांस उस ढीले आटे की तरह होता है जिस की रोटी कभी भी गोल नही बनती, और कइयों के बदन का मांस बिलकुल ख़मीरे आटे जैसा, जिसे बेलने से फैलाया नहीं जा सकता। सिर्फ़ किसी-किसी के बदन का मांस इतना सख्त गुँथा होता है कि रोटी तो क्या चाहे पूरियाँ बेल लो।...मैं अंगूरी के मुँह की ओर देखती रही, अंगूरी की छाती की ओर, अंगूरी की पिण्डलियों की ओर...वह इतने सख्त मैदे की तरह गुँथी हुई थी कि जिस से मठरियाँ तली जा सकती थीं और मैं ने इस अंगूरी का प्रभाती भी देखा हुआ था, ठिगने क़द का, ढलके हुए मुँह का, कसोरे जैसा। और फिर अंगूरी के रूप की ओर देखकर मुझे उस के ख़ाविन्द के बारे में एक अजीब तुलना सूझी कि प्रभाती असल में आटे की इस घनी गुँथी लोई को पकाकर खाने का हक़दार नहीं—वह इस लोई को ढककर रखनेवाला कठवत है।...इस तुलना से मुझे खुद ही हँसी आ गयी। पर मैं अंगूरी को इस तुलना का आभास नहीं देना चाहती थी। इसलिए उस से मैं उस के गाँव की छोटी-छोटी बातें करने लगी।

माँ-बाप की, बहन-भाइयों की, और खेतों-खलिहानों की बातें करते हुए मैं ने उस से पूछा, "अंगूरी, तुम्हारे गाँव में शादी कैसे होती है ?"

"लड़की छोटी-सी होती है, पांच-सात साल की, जब वह किसी के पाँव पूज लेती है ।"

"कैसे पूजती है पांव ?"

"लड़की का बाप जाता है, फूलों की एक थाली ले जाता है, साथ में रुपये, और लड़के के आगे रख देता है।"

"यह तो एक तरह से बाप ने पांव पूज लिये। लड़की ने कैसे पूजे ?"

"लड़की की तरफ़ से तो पूजे।"

"पर लड़की ने तो उसे देखा भी नहीं ?"

"लड़कियां नहीं देखनी।"

"लड़कियाँ अपने होनेवाले खाविन्द को नहीं देखतीं ?"

"ना।'

"कोई भी लड़की नहीं देखती ?"

"ना।"

पहले तो अंगूरी ने 'ना' कर दी पर फिर कुछ सोच-सोचकर कहने लगी, "जो लड़कियां प्रेम करती है, वे देखती है।"

"तुम्हारे गाँव में लड़कियाँ प्रेम करती है ?"

"कोई-कोई।"

"जो प्रेम करती है, उन को पाप नहीं लगता ?" मुझे असल में अंगूरी की वह बात स्मरण हो आयी थी कि औरत को पढ़ने से पाप लगता है। इसलिए मैं ने सोचा कि उस हिसाब से प्रेम करने से भी पाप लगता होगा।

"पाप लगता है, बड़ा पाप लगता है।" अंगूरी ने जल्दी से कहा।

"अगर पाप लगता है तो फिर वे क्यों प्रेम करती हैं ?"

"जे तो···बात यह होती है कि कोई आदमी जब किसी छोकरी को कुछ खिला देता है तो वह उस से प्रेम करने लग जाती है।"

"कोई क्या खिला देता है उस को ?"

"एक जंगली बूटी होती है। बस वही पान में डालकर या मिठाई में डालकर खिला देता है। छोकरी उसे प्रेम करने लग जाती है। फिर उसे वही अच्छा लगता है, दुनिया का और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

"सच ?"

"मैं जानती हूँ, मैं ने अपनी आँखों से देखा है।"

"किसे देखा था ?"

"मेरी एक सखी थी। इत्ती बड़ी थी मेरे से।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? वह तो पागल हो गयी उस के पीछे। सहर चली गयी उस के साथ।'

"यह तुम्हें कैसे मालूम है कि तेरी सखी को उस ने बूटी खिलायी थी ?"

"बरफ़ी में डालकर खिलायी थी। और नहीं तो क्या, वह ऐसे ही अपने माँ-बाप को छोड़कर चली जाती? वह उस को बहुत चीज़ें लाकर देता था। सहर से धोती लाता था, चूड़ियाँ भी लाता था शीशे की, और मोतियों की माला भी।"

"ये तो चीज़ें हुईं न! पर यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि उस ने जंगली बूटी खिलायी थी!"

"नहीं खिलायी थी तो फिर वह उस को प्रेम क्यों करने लग गयी?"

"प्रेम तो यों भी हो जाता है।"

"नहीं, ऐसे नहीं होता। जिस से माँ-बाप बुरा मान जायें, भला उस से प्रेम कैसे हो सकता है?"

"तू ने वह जंगली बूटी देखी है?"

"मैं ने नहीं देखी। वो तो बड़ी दूर से लाते हैं। फिर छिपाकर मिठाई में डाल देते हैं, या पान में डाल देते हैं। मेरी माँ ने तो पहले ही बता दिया था कि किसी के हाथ से मिठाई नहीं खाना।"

"तू ने बहुत अच्छा किया कि किसी के हाथ से मिठाई नहीं खायी। पर तेरी उस सखी ने कैसे खा ली?"

"अपना किया पायेगी।"

'किया पायेगी।' कहने को तो अंगूरी ने कह दिया पर फिर शायद उसे सहेली का स्नेह आ गया या तरस आ गया, दुखे हुए मन से कहने लगी, "बावरी हो गयी थी बेचारी! बालों में कंघी भी नहीं लगाती थी। रात को उठ-उठकर गाने गाती थी।"

'क्या गाती थी?"

"पता नहीं, क्या गाती थी। जो कोई बूटी खा लेती है, बहुत गाती है। रोती भी बहुत है।"

बात गाने से रोने पर आ पहुँची थी। इसलिए मैं ने अंगूरी से और कुछ न पूछा।

और अब बड़े थोड़े ही दिनों की बात है। एक दिन अंगूरी नीम के पेड़ के नीचे चुपचाप मेरे पास आ खड़ी हुई। पहले जब अंगूरी आया करती थी तो छन-छन करती, बीस गज़ दूर से ही उस के आने की आवाज़ सुनायी दे जाती थी, पर आज उस के पैरों की झांजरें पता नहीं कहाँ खोयी हुई थीं। मैं ने किताब से सिर उठाया और पूछा, "क्या बात है, अंगूरी?"

अंगूरी पहले कितनी ही देर मेरी ओर देखती रही, फिर धीरे से कहने लगी, "बीबीजी, मुझे पढ़ना सिखा दो।"

"क्या हुआ अंगूरी?"

"मुझे नाम लिखना सिखा दो।"

"किसी को ख़त लिखोगी ?"

अंगूरी ने उत्तर न दिया, एकटक मेरे मुँह की ओर देखती रही।

"पाप नहीं लगेगा पढ़ने से ?" मैं ने फिर पूछा।

अंगूरी ने फिर भी जवाब न दिया और एकटक सामने आसमान की ओर देखने लगी।

यह दुपहर की बात थी। मैं अंगूरी को नीम के पेड़ के नीचे बैठी छोड़कर अन्दर आ गयी थी। शाम को फिर कहीं मैं बाहर निकली, तो देखा, अंगूरी अब भी नीम के पेड़ के नीचे बैठी हुई थी। बड़ी सिमटी हुई थी। शायद इसलिए कि शाम की ठण्डी हवा देह में थोड़ी-थोड़ी कंपकँपी छेड़ रही थी।

मैं अंगूरी की पीठ की ओर थी। अंगूरी के होठों पर एक गीत था, पर बिलकुल सिसकी जैसा—"मेरी मुन्दरी में लागो नगीनवा, हो बैरी कैसे काटूँ जोबनवाँ।"

अंगूरी ने मेरे पैरों की आहट सुन ली, मुँह फेर देखा और फिर अपने गीत को अपने होठों में समेट लिया।

"तू तो बहुत अच्छा गाती है, अंगूरी !"

सामने दिखायी दे रहा था कि अगूरी ने अपनी आँखों में काँपते आँसू रोक लिये और उन की जगह अपने होठो पर एक काँपती हँसी रख दी।

"मुझे गाना नहीं आता।"

"आता है···"

"यह तो "

"तेरी सखी गाती थी ?"

"उसी से सुना था।"

"फिर मुझे भी तो सुनाओ।"

"ऐसे ही गिनती है बरस की। चार महीने ठण्डी होती है, चार महीने गरमी, और चार महीने बरखा···"

"ऐसे नहीं, गा के सुनाओ।"

अंगूरी ने गाया तो नहीं, पर बारह महीनों को ऐसे गिना दिया जैसे यह सारा हिसाब वह अपनी उँगलियों पर कर रही हो—

"चार महीने, राजा, ठण्डी होवत है;
थर-थर काँपे करेजवा।
चार महीने, राजा, गरमी होवत है;
थर-थर काँपे पवनवा।

चार महीने, राजा, बरखा होवत है;
थर-थर कांपे बदरवा।"

"अंगूरी ?"

अंगूरी एकटक मेरे मुंह की ओर देखने लगी। मन में आया कि इस के कन्धे पर हाथ रखके पूछूं, "पगली, कहीं जंगली बूटी तो नही खा ली ?" मेरा हाथ उस के कन्धे पर रखा भी गया। पर मैं ने यह बात पूछने के स्थान पर यह पूछा, "तू ने खाना भी खाया है, या नहीं ?"

"खाना ?" अंगूरी ने मुंह ऊपर उठाकर देखा। उस के कन्धे पर रखे हुए हाथ के नीचे मुझे लगा कि अंगूरी की सारी देह कांप रही थी। जाने अभी-अभी उस ने जो गीत गाया था—बरखा के मौसम में कांपनेवाले बादलों का, गरमी के मौसम में कांपनेवाली हवा का, और सर्दी के मौसम में कांपनेवाले कलेजे का—उस गीत का सारा कम्पन अंगूरी की देह में समाया हुआ था !

यह मुझे मालूम था कि अंगूरी अपनी रोटी खुद ही बनाती थी। प्रभाती मालिकों की रोटी बनाता था और मालिकों के घर से ही खाता था, इसलिए अंगूरी को उस की रोटी की चिन्ता नहीं थी। इसलिए मैं ने फिर कहा, "तू ने आज रोटी बनायी है, या नहीं ?"

"अभी नहीं।"

"सवेरे बनायी थी ? चाय पी थी ?"

"चाय ? आज तो दूध ही नहीं था।"

"आज दूध क्यों नहीं लिया था ?"

"वह तो मैं लेती नहीं, वह तो···"

"तू रोज चाय नहीं पीती ?"

"पीती हूँ।"

"फिर आज क्या हुआ ?"

"दूध तो वह रामतारा···"

रामतारा हमारे महल्ले का चौकीदार है। सब का साझा चौकीदार। सारी रात पहरा देता है। वह सबेरसार खूब उनींदा होता है। मुझे याद आया कि जब अंगूरी नहीं आयी थी, वह सवेरे ही हमारे घरों से चाय का गिलास मांगा करता था। कभी किसी के घर से और कभी किसी के घर से, और चाय पीकर वह कुएँ के पास खाट डालकर सो जाता था।—और अब, जब से अंगूरी आयी थी वह सवेरे ही किसी ग्वाले से दूध ले आता था; अंगूरी के चूल्हे पर चाय का पतीला चढ़ाता था, और अंगूरी, प्रभाती और रामतारा तीनों चूल्हे के गिर्द बैठकर चाय पीते थे।···और साथ ही मुझे याद आया कि रामतारा पिछले तीन दिनों से छुट्टी लेकर अपने गांव गया हुआ था।

मुझे दुखी हुई हँसी आयी और मैं ने कहा, "और अंगूरी, तुम ने तीन दिन से चाय नहीं पी ?"

"ना," अंगूरी ने ज़ुबान से कुछ न कहकर केवल सिर हिला दिया।

"रोटी भी नहीं खायी ?"

अंगूरी से बोला न गया। लग रहा था कि अगर अंगूरी ने रोटी खायी भी होगी तो न खाने जैसी ही।

रामतारे की सारी आकृति मेरे सामने आ गयी। बड़े फुर्तीले हाथ-पाँव, इक-हरा बदन, जिस के पास हलके-हलके हँसती हुई और शरमाती आँखें थीं और जिस की ज़ुबान के पास बात करने का एक ख़ास सलीक़ा था।

"अंगूरी !"

"जी !"

"कहीं जंगली बूटी तो नहीं खा ली तू ने ?"

अंगूरी के मुँह पर आँसू बह निकले। इन आँसुओं ने बह-बहकर अंगूरी की लटों को भिगो दिया। और फिर इन आँसुओं ने बह-बहकर उस के होठों को भिगो दिया। अंगूरी के मुँह से निकलते अक्षर भी गीले थे, "मुझे कसम लागे जो मैं ने उस के हाथ से कभी मिठाई खायी हो। मैं ने पान भी कभी नहीं खाया। सिर्फ़ चाय ''जाने उस ने चाय में ही···"

और आगे अंगूरी की सारी आवाज़ उस के आँसुओं में डूब गयी।

गुलियाना का एक ख़त

टहनी पत्तों से भर गयी थी, पर उस पर फूल नहीं लगते थे। मैं रोज़ पत्तों का मुह देखती थी और सोचती थी कि चम्पा कब खिलेगी। गमला कितना भी बड़ा हो, पर गमले में चम्पा नहीं फूलती—मुझे एक माली ने बताया था और कहा था कि इस पौधे की जड़ों को धरती की ज़रूरत होती है। और मैं उस पौधे को गमले में से निकालकर धरती में रोप रही थी कि एक औरत मुझ से मिलने के लिए आयी।

"तुम्हें कहाँ-कहाँ से पूछती और कहाँ-कहाँ से खोजती आयी हूँ।"

"तुम ? नीली आँखोंवाली सुन्दरी ?"

"मेरा नाम गुलियाना है।"

"फूल-सी औरत।"

"पर लोहे के पैरों चलकर पहुँची हूँ। मुझे दो साल होने को आये है, चलते हुए।"

"किस देश से चली हो ?"

"यूगोस्लाविया से।"

"भारत में आये कितना समय हुआ ?"

"एक महीना। बहुत लोगों से मिली हूँ। कुछ औरतों से बड़ी चाह से मिलती हूँ। तुम से मिले बग़ैर मुझे जाना नहीं था, इसलिए कल से तुम्हारा पता पूछ रही थी।"

मैं ने गुलियाना के लिए चाय बनायी और चाय का प्याला उसे देते हुए भूरे बालों की एक लट उस के माथे से हटायी और उस की नीली आँखों में देखा और कहा, "अच्छा, अब बताओ, गुलियाना ! तुम्हारे पाँव लोहे के ही सही, पर ये क्या अभी तुम्हारे हुस्न और तुम्हारी जवानी का भार उठाकर थके नहीं ? ये देश-देशान्तर में भटकते क्या खोज रहे है ?"

गुलियाना ने एक लम्बी साँस लेकर मुसकरा दिया। जब किसी की हँसी में

एक विश्वास घुला हुआ हो, उस समय उस की आँखों में जो चमक उतर आती है, मैं ने वह चमक गुलियाना की आँखों में देखी।

"मैं ने अभी तक लिखा कुछ नहीं, पर लिखना बहुत कुछ चाहती हूँ। मगर कुछ भी लिखने से पहले मैं यह दुनिया देखना चाहती हूँ। अभी बहुत दुनिया बाक़ी पड़ी है जो मैं ने देखी नही है, इसलिए मैं अभी थकने की नहीं। पहले इटली गयी थी, फिर फ़्रांस, फिर ईरान और जापान…"

"पीछे कोई तुम्हारी बाट देखता होगा?"

"मेरी माँ मेरी बाट देख रही है।"

"उसे जब तुम्हारा ख़त मिलता होगा, तब कितनी चहक उठती होगी वह!"

"वह मेरे हरेक ख़त को मेरा आखिरी ख़त समझ लेती है। उसे यह यक़ीन नहीं आता कि फिर कभी मेरा और ख़त भी आयेगा।"

"क्यों?"

"वह सोचती है कि मैं इसी तरह चलती-चलती रास्ते में कहीं मर जाऊँगी। मैं उसे खूब लम्बे-लम्बे खत लिखती हूँ। आँखें तो वह खो बैठी है, पर मेरे ख़त किसी से पढ़वा लेती है। इस तरह वह मेरी आँखों से दुनिया को देखती रहती है।"

"अच्छा, गुलियाना, तुम ने जितनी भी दुनिया देखी है, वह तुम्हें कैसी लगी? किसी जगह ने हाथ बढ़ाकर तुम्हें रोका नहीं कि बस, और कहीं मत जाओ?"

"चाहती थी कि कोई जगह मुझे रोक ले, मुझे थाम ले, बाँध ले। पर…"

"ज़िन्दगी के किसी हाथ में इतनी ताक़त नहीं आयी?"

"मैं शायद ज़िन्दगी मे कुछ अधिक माँगती हूँ ज़रूरत से ज़्यादा। मेरा देश जब गुलाम था, मैं आज़ादी की जंग में शामिल हो गयी थी।"

"कब?"

"1141 में हम ने लोकराज्य के लिए बग़ावत की। मैं ने इस बग़ावत में बढ़कर भाग लिया था, चाहे मैं तब छोटी-सी ही रही हूँगी।"

"वे दिन बड़ी मुश्किल के रहे होंगे?"

"चार साल बड़ी मुसीबतों भरे थे। कई-कई महीने छिपकर काटने होते थे।"

"कई बार दुश्मन हमारा पता पा गये। हमें एक पहाड़ी से चलकर दूसरी पहाड़ी पर पहुँचना होता था। एक रात हम साठ मील चले थे।"

"साठ मील! तुम्हारे इस नाज़ुक-से बदन में इतनी जान है, गुलियाना?"

"यह तो एक रात की बात है। तब हम क़रीब तीन सौ साथी रहे होंगे। पर सारी उमर चलने के लिए कितनी जान चाहिए, और वह भी अकेले!"

"गुलियाना !"

"चलो, कोई ख़ुशी की बात करें। मुझे कोई गीत सुनाओ।"

"तुम ने कभी गीत लिखे हैं, गुलियाना ?"

"पहले लिखा करती थी। फिर इस तरह महसूस होने लगा कि मैं गीत नहीं लिख सकती। शायद अब लिख सकूंगी।"

"कैसे गीत लिखोगी, गुलियाना ? प्यार के गीत ?"

"प्यार के गीत लिखना चाहती थी, पर अब शायद नहीं लिखूंगी। हालांकि एक तरह से वे प्यार के गीत ही होंगे, पर उस प्यार के नही जो एक फूल की तरह गमले में रोपा जाता है। मैं उस प्यार के गीत लिखूंगी, जो गमले में नहीं उगता, जो सिर्फ़ धरती में उग सकता है।"

गुलियाना की बात सुनकर मैं चौक उठी। मुझे वह चम्पा का पेड़ याद हो आया जिसे अभी-अभी मैं ने गमले से निकालकर धरती में लगाया था। मैं गुलियाना के चेहरे की ओर देखने लगी। ऐसा लग रहा था जैसे इस धरती को गुलियाना के दिल का और गुलियाना के हुस्न का बहुत सा क़र्ज़ा देना हो। गुलियाना मुझे लेनदार प्रतीत हो रही थी। पर मुझे उस की ओर देखते लगा कि इस धरती ने कभी भी उस का ऋण नहीं चुका पाया था।

"गुलियाना !"

"मैं इसी लिए कहती थी कि मैं शायद ज़िन्दगी से कुछ अधिक चाहती हूं—ज़रूरत से ज़्यादा।"

"यह ज़रूरत से ज़्यादा नहीं, गुलियाना ! सिर्फ़ उतना, जितना तुम्हारे दिल के बराबर आ सके।"

"पर दिल के बराबर कुछ नही आता। हमारे देश का एक लोकगीत है—

"तेरी डोली को कहारों ने उठाया,
खाट को कौन कन्धा दे,
मेरी खाट को कौन कन्धा देगा ?"

"गुलियाना, तुम ने क्या किसी को प्यार किया था ?'

"कुछ किया ज़रूर था, पर वह प्यार नहीं था। अगर प्यार होता, तो ज़िन्दगी से लम्बा होता। साथ ही मेरे महबूब को भी मेरी उतनी ही ज़रूरत होती जितनी मुझे उस की ज़रूरत थी। मैं ने विवाह भी किया था, पर यह विवाह उस गमले की तरह था जिस में मेरे मन का फूल कभी न उगा।"

"पर यह धरती…"

"तुम्हें इस धरती से डर लगता है ?"

"धरती तो बड़ी ज़रखेज़ है, गुलियाना। मैं धरती से नहीं डरती, पर…"

"मुझे मालूम है, तुम्हें जिस चीज़ से डर लगता है। मुझे भी यह डर लगता

है। पर इसी डर से रुष्ट होकर तो मैं दुनिया में निकल पड़ी हूँ। आखिर एक फूल को इस धरती में उगने का हक़ क्यों नहीं दिया जाता !"

"जिस फूल का नाम 'औरत' हो ?"

"मैं ने उन लोगों से हठ ठाना हुआ है जो किसी फूल को इस धरती में उगने नहीं देते, ख़ासकर उस फूल को जिस का नाम औरत हो। यह सभ्यता का युग नहीं। सभ्यता का युग तब आयेगा जब औरत की मरज़ी के बिना कोई औरत के जिस्म को हाथ नहीं लगायेगा !"

"सब से अधिक मुश्किल तुम्हें कब पेश आयी थी ?"

"ईरान में। मैं ऐतिहासिक इमारतों को दूर-दूर तक जाकर देखना चाहती थी, पर मेरे होटलवालों ने मुझे कहीं भी अकेले जाने से मना कर दिया। मैं वहाँ दिन में भी अकेले नहीं घूम सकती थी।"

"फिर ?"

'बीच-बीच में कुछ अच्छे लोग भी होते हैं। उसी होटल में एक आदमी ठहरा हुआ था जिस के पास अपनी गाड़ी थी। उस ने मुझ से कहा कि जब तक वह होटल में है, मैं उस की गाड़ी ले जाया करूँ। वह मेरे साथ कभी कहीं न गया, पर उस ने अपनी गाड़ी मुझे दे दी। ड्राइवर भी दे दिया। मुझे वह सहारा ओढ़ना पड़ा। पर ऐसा कोई भी सहारा हमें क्यों ओढ़ना पड़े ?"

"जापान में भी मुश्किल आयी ?"

"वहाँ मुझे सब से बड़ी मुश्किल पड़ी। सिर्फ़ एक रात एक शराबी ने मेरे कमरे का दरवाज़ा खटखटाया था। मैं ने उसी समय कमरे में से टेलिफ़ोन कर के होटलवालों को बुला लिया था। एक बार फ्रांस में जाने क्या हो जाता, अगर कही ज़ोरों की बरसात न शुरू हो गयी होती। मैं एक बग़ीचे में बैठी हुई थी। सामने कुछ दूरी पर एक पहाड़ था। मैं वहाँ जाना चाहती थी। दो आदमी काफ़ी देर से मेरा पीछा कर रहे थे। मैं जानती थी कि अगर मैं पहाड़ की किसी निर्जन जगह पर चली गयी, तो ये आदमी वहाँ जाकर जाने क्या करें। पर मेरे दिल में गुस्सा खौल रहा था कि मैं इन गुण्डों से डरकर पहाड़ पर क्यों न जाऊँ। इसलिए मैं बग़ीचे में से उठकर उस तरफ़ चल पड़ी। कुछ दूर गयी थी कि ज़ोरों से बरसात होने लगी। मुझे अपने होटल में लौटना पड़ा। पर यह सब ग़लत है। मैं यही सोचती हुई चलती जाती हूँ कि आख़िर यह सब अभी तक इतना ग़लत क्यों बना हुआ है जब मनुष्य अपने को इतना सभ्य और इतना उन्नत मानने लगा है !"

"तुम अपने गुज़ारे के लिए क्या करती हो, गुल ?"

"छोटे-छोटे सफ़रनामे लिखती हूँ। छपने के लिए अपने देश में भेज देती हूँ। कुछ पैसे मिल जाते हैं। कुछ अनुवाद कर के भी कमा लेती हूँ। मुझे फ्रेंच अच्छी आती है। मैं फ्रेंच की पुस्तकों का अपनी भाषा में अनुवाद करती हूँ। वापस

जाकर मैं एक बड़ा सफ़रनामा लिखूँगी। शायद गीत भी लिखूँ। आजकल जब मैं सोती हूँ, तो एक गीत मेरे दिल में मँडराने लगता है। पर जब मैं जागती हूँ, तो मैं उसे खोज नहीं पाती।"

"अच्छा, गुलियाना, और बातें छोड़ो, मुझे उस गीत की बात सुनाओ। मैं ने गीत नहीं कहा, गीत की बात कही है।"

"बात ही तो मुझे अभी तक मालूम नहीं है। मैं वह बात खोज रही हूँ जिस में से गीत उगते हैं। बिना बात के ही दो पंक्तियाँ जोड़ी हैं। इस से आगे नहीं जुड़तीं। बात के बिना भला गीत कैसे जुड़ेगा?" गुलियाना ने कहा और एक टूटे हुए गीत की तरह मेरी ओर देखा। फिर गुलियाना ने गीत की दो कड़ियाँ सुनायीं—

"आज किस ने आसमान का जादू तोड़ा?
आज किस ने तारों का गुच्छा उतारा?
और चाबियों के गुच्छे की तरह बाँधा,
मेरी कमर से चाबियों को बाँधा?"

और गुलियाना ने अपनी कमर की ओर संकेत कर मुझ से कहा, "यहाँ चाबियों के गुच्छे की तरह मुझे कई बार तारे बँधे हुए महसूस होते हैं।"

मैं गुलियाना के चेहरे की ओर देखने लगी। तिजोरियों की चाबियों को चाँदी के छल्लों में पिरोकर बना गुच्छा उस ने अपनी कमर में बाँधने से इनकार कर दिया था और उस की जगह वह तारों के गुच्छे अपनी कमर में बाँधना चाहती थी। गुलियाना के चेहरे की ओर देखती हुई मैं सोचने लगी कि इस धरती पर वे घर कब बनेंगे जिन के दरवाजे तारों की चाबियों से खुलते हों।

"तुम क्या सोच रही हो।"

"सोचती थी कि तुम्हारे देश में भी औरतें अपनी कमर में चाबियों का गुच्छा बाँधती हैं?"

"हमारी माँ-दादियाँ अपनी कमर में चाबियाँ बाँधा करती थीं।"

"चाबियों से घर का ख़याल आता है और घर से औरत के आदिम सपने का।"

"देखो, इस सपने को खोजती-खोजती मैं कहाँ पहुँच गयी हूँ। अब मैं अपने गीतों को यह सपना अमानत दे जाऊँगी।"

"धरती के सिर तुम्हारा क़र्ज़ और बढ़ जायेगा।"

क़र्ज़ की बात सुनकर गुलियाना हँसने लगी। उस की हँसी उस लेनदार की तरह थी जिस के काग़जों पर लिखी हुई क़र्ज़ की सारी गवाहियाँ झूठी निकल आयी हों।

गुलियाना के चेहरे की ओर देखते मुझे ऐसा लगा कि थाने के किसी सिपाही

को अगर गुलियाना का हुलिया अपने काग़ज़ों में दर्ज करना पड़े, तो वह इस तरह लिखेगा—

नाम : गुलियाना सायेनोबिया।

बाप का नाम : निकोलियन सायेनोबिया।

जन्म शहर : मैसेडोनिया।

क़द : पाँच फुट तीन इंच।

बालों का रंग : भूरा।

आँखों का रंग : सलेटी।

पहचान का निशान : उस के निचले होंठ पर एक तिल है और बायीं ओर की भौं पर छोटे-से जन्म का निशान है।

और गुलियाना की बातें सुनते हुए मुझे इस तरह लगा कि किसी दिलवाले इनसान को अगर अपनी ज़िन्दगी के कागज़ों मे गुलियाना का हुलिया दर्ज करना हो, तो वह इस तरह लिखेगा—

नाम : फूल की महक-सी एक औरत।

बाप का नाम : इनसान का एक सपना।

जन्म शहर : धरती की बड़ी ज़रख़ेज़ मिट्टी।

क़द : उस का माथा तारों से छूता है।

बालों का रंग : धरती के रंग जैसा।

आँखों का रंग : आसमान के रंग जैसा।

पहचान का निशान : उस के होंठों पर ज़िन्दगी की प्यास है और उस के रोम-रोम पर सपनों का बौर पड़ा हुआ है।

हैरानी की बात यह थी कि ज़िन्दगी ने गुलियाना को जन्म दिया था, पर जन्म देकर उस की ख़बर पूछना भूल गयी थी। पर मैं हैरान नही थी, क्योंकि मुझे मालूम था कि ज़िन्दगी को बिसार देनेवाली बड़ी पुरानी आदत है। मै ने हंसकर गुलियाना से कहा, "हमारे देश में एक बूटी होती है जिसे हम ब्राह्मी बूटी कहते है। हमारी पुरानी किताबों मे लिखा हुआ है कि ब्राह्मी बूटी पीसकर जो कुछ दिन पी ले, उस की स्मरणशक्ति लौट आती है। मेरा ख़याल है कि ज़िन्दगी को ब्राह्मी बूटी पीसकर पीनी चाहिए।"

गुलियाना हँस पड़ी और कहने लगी, "तुम जब कोई प्यारा गीत लिखती हो, या कोई भी, जब कोई बड़ा प्यारा लिखता है, तो वह जंगल मे से ब्राह्मी बूटी की पत्तियाँ ही तोड़ रहा होता है। शायद कभी वह दिन आयेगा जब ज़िन्दगी को हम अपनी बूटी पिला देंगे कि उसे भूल जाने की यह आदत नहीं रहेगी।"

गुलियाना उस दिन चली गयी, पर ब्राह्मी बूटी की बात पीछे छोड़ गयी। मैं जब भी कहीं कोई प्यारा गीत पढ़ती, मुझे उस की बात याद आ जाती कि

हम सब मन के जंगल में से ब्राह्मी बूटी की पत्तियाँ बीन रहे हैं। हम किसी दिन जिन्दगी को शायद इतनी बूटी पिला देंगे कि उसे हम याद आ जायेंगे।

पाँच महीने होने को है। मुझे गुलियाना का एक भी खत नही मिला। और अब महीने पर महीने बीतते जायेंगे, गुलियाना का ख़त कभी नहीं आयेगा। क्योंकि आज के अखबार मे यह ख़बर छपी हुई है कि दो देशो की सीमा पर कुछ फ़ौजियो ने एक परदेशी औरत को खेतों मे घेर लिया। औरत को बड़ी चिन्ताजनक हालत मे अस्पताल पहुँचाया गया। अस्पताल मे पहुँचते ही उस की मौत हो गयी। उस का पासपोर्ट और उस के कागज आग से जली हुई हालत मे मिले। औरत का कद पाँच फुट तीन इञ्च है। उस के बालों का रग भूरा और आँखों का रग सलेटी है। उस क निचले होठ पर एक तिल है और उस की बायी भौं पर एक छोटे-से जख्म का निशान है।

यह अख़बार की खबर नही! सोच रही हूँ, यह गुलियाना का एक खत है। जिन्दगी के घर से जाते हुए उस ने जिन्दगी को एक ख़त लिखा है और उस ने ख़त मे जिन्दगी से सब से पहला सवाल पूछा है कि आखिर इस धरती मे उस फूल को आने का अधिकार क्यों नही दिया जाता जिस का नाम औरत हो? और साथ ही उस ने पूछा है कि सभ्यता का वह युग कब आयेगा जब औरत की मरज़ी के बिना कोई मर्द किसी औरत के जिस्म को हाथ नही लगा सकेगा? और तीसरा सवाल उस ने यह पूछा है कि जिस घर का दरवाजा खोलने के लिए उस ने अपनी कमर मे तारो के गुच्छे को चाबियो के गुच्छे की तरह बाँधा था, उस घर का दरवाजा कहाँ है?

बू

घोड़ी हिनहिनायी। गुलेरी दौडकर अन्दर से बाहर आयी। उस ने घोड़ी की आवाज़ पहचान ली थी। वह घोड़ी उस के मायके की थी। उस ने घोड़ी की गरदन के साथ अपना सिर टेक दिया। जैसे वह घोड़ी की गरदन न होकर उस के मायके का द्वार हो।

गुलेरी का मायका चम्बे शहर में था। ससुराल का गाँव लक्कड़मण्डी एवं खजियार के रास्ते में एक ऊँची समतल जगह पर था। खजियार से लगभग एक मील आगे चलकर पहाड़ी का एक ऐसा मोड़ आता था, जहाँ पर खड़े होकर चम्बा शहर बहुत दूर और बहुत नीचा दिखायी देता था। कभी-कभी गुलेरी जब उदास हो जाती तो अपने मानक को साथ लेकर उस मोड़ पर आकर खड़ी हो जाती। चम्बे शहर के मकान उस को एक जगमगाते बिन्दु के समान दिखायी देते, फिर वे बिन्दु उस के मन में एक चमक पैदा कर देते।

मायके वह वर्ष भर में एक बार आश्विन के महीने में जाती थी। हर साल इन दिनों उस के मायके में चुगान का मेला लगता था। माता-पिता उस को लिवाने के लिए आदमी भेज देते थे। सिर्फ़ गुलेरी के ही नहीं गुलेरी की सभी सहेलियों के मायके अपनी लड़कियों को बुलावा भेज देते थे। सभी सहेलियाँ जब एक-दूसरे के गले मिलतीं तो वर्ष-भर की सभी ऋतुओं के दुख-सुख की बातें एक-दूसरी से कह-सुन लेती और अपने मायके की गलियों मे हिरनियों के समान चौकड़ी भरती स्वच्छन्द घूमतीं।

दो-दो, तीन-तीन बच्चों की माताएँ बड़े बच्चों को उन के दादा-दादी के पास छोड़ आतीं और गोदवाले को मायके पहुँचते ही ननिहालवालों के हवाले कर देतीं। मेले के लिए नये कपड़े सिलवातीं। चुनरियों को रँगवातीं और अबरक लगवातीं। मेले में से काँच की चूड़ियाँ और चाँदी की बालियाँ ख़रीदतीं। मेले में से खरीदी हुई सुगन्धित साबुन की टिक्कियों को अपने बदन पर ऐसे मलतीं जैसे वह अपने खोये हुए कुंआरे यौवन की गन्ध को फिर सूंघना चाहती हों।

गुलेरी कितने ही दिनों से आज के दिन की इन्तज़ार कर रही थी। आश्विन का आसमान जब सावन-भादों की बरसात के साथ हाथ-पाँव धोकर निखर बैठता था, गुलेरी और गुलेरी जैसी ससुराल में बैठी लड़कियाँ पशुओं को दाना-पानी डालतीं, सास-संसुर के लिए दाल-चावल राँधतीं और हर रोज़ हाथ-पाँव धोकर बन-सँवर बैठतीं तो मन में सोचने लगतीं आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों कोई न कोई उन के मायके से उन को लेने के लिए आता होगा।

आज गुलेरी के घर के दरवाज़े के सामने उस के मायके की घोड़ी हिनहिनायी तो गुलेरी चंचल हो उठी। घोड़ी लेकर आये नत्थू कामे को गुलेरी ने बैठने के लिए चौकी दी।

गुलेरी को कुछ कहने की ज़रूरत नहीं थी। उस के मुँह का रंग स्वयं सब कुछ बता रहा था। मानक ने तम्बाकू का एक लम्बा कश खींचा और आँखें बन्द कर लीं, जाने उस से तम्बाकू का नशा न झेला गया या गुलेरी के मुँह का रंग।

"इस बार तो मेला देखने आयेगा न, चाहे दिन का दिन ही सही।" गुलेरी ने मानक के पास बैठकर बड़े दुलार से कहा।

मानक के हाथ काँपे, उस ने हाथों में पकड़ी हुई चिलम को एक ओर रख दिया।

"बोलता क्यों नहीं ?" गुलेरी ने रोष के साथ कहा।

"गुलेरी, एक बात कहूँ ?"

"मैं जानती हूँ, तू ने क्या कहना है। क्या यह बात तुझे कहनी चाहिए ? साल भर में एक बार तो मैं मायके जाती हूँ। फिर तू मुझे ऐसे क्यों रोकता है ?"

"आगे तो मैं ने तुझे कभी भी कुछ नहीं कहा ?"

"फिर इस बार क्यों कहता है ?"

"इस बार···बस इस बार··" मानक के मुँह से एक लम्बी आह निकल गयी।

"तेरी माँ तो मुझे कुछ कहती नहीं, फिर तू क्यों रोकता है ?" गुलेरी की आवाज़ में बच्चों जैसी ज़िद थी।

"मेरी माँ···" मानक ने अपना मुँह बन्द कर लिया। जैसे आगे की बात को उस ने दाँतों-तले दबा लिया हो।

दूसरे दिन गुलेरी मुँह अँधेरे बन-सँवरकर तैयार हो गयी। गुलेरी का न कोई बड़ा बच्चा था, न गोद का। न किसी को ससुराल में छोड़ना था, न किसी को मायके ले जाना था। नत्थू ने घोड़ी पर काठी कसी और गुलेरी के सास-ससुर ने उस के सिर पर प्यार दिया।

"चल, दो कोस मैं भी तेरे साथ चलूँगा।" मानक ने कहा। गुलेरी ने ख़ुश होकर मानक की बाँसुरी अपने आँचल में रख ली।

वे खजियार पार कर गये। आगे एक कोस और लाँघ गये। फिर चम्बे क उतराई आरम्भ हो गयी। गुलेरी ने आँचल में से बाँसुरी निकाली और मानक के हाथ में थमा दी।

सामने कठिन उतराई थी। पाँव जैसे फिसल रहे थे। गुलेरी ने मानक का हाथ पकड़ा और रुककर कहने लगी, "बजाता क्यों नहीं बाँसुरी ?"

सोच भी जैसे उतराई उतर रही थी। मानक का मन फिसलता जा रहा था। गुलेरी ने जब मानक का हाथ पकड़ा तो मानक ने चौंककर उस की ओर देखा।

"बजाता क्यों नहीं बाँसुरी ?" गुलेरी ने फिर कहा।

मानक ने बाँसुरी होंठों के साथ लगायी, फूँक मारी पर बाँसुरी में से ऐसा स्वर निकला जैसे बाँसुरी की ज़बान पर छाले पड़ गये हों।

"गुलेरी, तू मत जा ! मैं तुझे फिर कहता हूँ, मत जा। इस बार मत जा।"

मानक ने हाथ की बाँसुरी गुलेरी को वापस कर दी।

"कोई बात भी तो हो ? अच्छा तू मेले के दिन चला आइयो। मैं तेरे साथ लौट आऊँगी। पीछे नहीं रहूँगी, सच्च कहती हूँ, पक्की बात।"

मानक ने कुछ न कहा पर उस ने गुलेरी के मुँह की ओर ऐसे देखा जैसे वह कहना चाहता हो, 'गुलेरी यह बात पक्की नहीं। यह बहुत कच्ची है।' पर मानक ने कुछ न कहा···जैसे उस को कुछ कहना न आता हो।

गुलेरी और मानक सड़क से थोड़ा-सा हटकर एक पत्थर के साथ अपनी पीठ टेककर खड़े हो गये। नत्थू ने दस क़दम आगे बढ़कर घोड़ी खड़ी कर दी थी पर मानक का मन कहीं भी खड़ा नहीं हो रहा था।

मानक का मन घूमता-फिसलता आज से सात वर्ष पीछे तक चला गया। यही दिन थे जब मानक अपने मित्रों के साथ इस सड़क को लाँघता हुआ चौगान का मेला देखने चम्बे गया था। मेले में काँच की चूड़ियों से लेकर गायों-बकरियों तक कुछ न कुछ ख़रीद और बेच रहे थे। इसी मेले में मानक ने गुलेरी को देखा था और मानक को गुलेरी ने। फिर दोनों ने एक-दूसरे का दिल ख़रीद लिया था।

वे दोनों अवसर देखकर एक-दूसरे को मिले थे। 'तू तो दुधिया भुट्टे जैसी है।' मानक ने यह कहकर गुलेरी का हाथ पकड़ लिया था।

'पर कच्चे भुट्टे को पशु मुँह मारते है।' यह कहकर गुलेरी ने हाथ छुड़ा लिया था और मुसकराते हुए कहा था, 'इनसान तो भुट्टे को भूनकर खाते हैं। यदि साहस है तो मेरे पिता से मेरा रिश्ता माँग ले।'

मानक के दूर-पास के सम्बन्धियों में जब भी किसी का ब्याह होता था तो लड़केवाले मूल्य चुकाते थे।



मानक डर रहा था कि पता नहीं गुलेरी का पिता कितना रुपया माँग ले। पर गुलेरी का बाप खाता-पीता आदमी था। और फिर वह दूर शहर में भी रह आया था। वह अपने मन में यह निश्चय किये हुए था कि वरवालों से बेटी के पैसे नहीं लूँगा। जहाँ पर अच्छा घर और वर मिलेगा वहीं पर अपनी लड़की का ब्याह कर दूँगा। मानक के इस काम में कोई कठिनाई नहीं हुई। दोनों के दिल मिले हुए थे। दोनों ने ब्याह का रास्ता ढूँढ़ लिया था।

"आज तू क्या सोच रहा है? तू मुझे अपने मन की बात क्यों नहीं बताता ?" गुलेरी ने मानक के कन्धे को हिलाते हुए कहा।

मानक ने गुलेरी की ओर ऐसे देखा जैसे उस की ज़बान पर छाले पड़ गये हों।

घोडी हिनहिनायी। गुलेरी को आगे का रास्ता स्मरण हो आया। वह चलने के लिए तैयार हुई और मानक से कहने लगी, "आगे चलकर नीले फूलों का वन आता है। कोई दो मील होगा। तू जानता है न, उस वन को पार करनेवालों के कान बहरे हो जाते हैं।"

"हाँ," मानक ने धीरे से कहा।

"मुझे ऐसा लग रहा है जैसे हम उस वन में से गुज़र रहे हैं। तुझे मेरी कोई बात सुनायी ही नहीं देती है।"

"तू सच कहती है, गुलेरी। मुझे तुम्हारी कोई बात सुनायी नही देती और तुझे मेरी कोई बात सुनायी नहीं देती।" मानक ने एक लम्बी साँस ली।

दोनों ने एक-दूसरे के मुँह की ओर देखा। पर दोनों एक-दूसरे की बात नहीं समझ सके।

"मैं अब जाऊँ? तू वापस चला जा। तू बड़ी दूर आ गया है।" गुलेरी ने धीरे से कहा।

"तू इतना रास्ता पैदल चलती आयी, घोड़ी पर नहीं बैठी। अब घोड़ी पर बैठ जाना।" मानक ने उसी प्रकार धीरे से कहा।

"यह ले पकड़ अपनी बाँसुरी।"

"तू अपने साथ ही ले जा।"

"मेले के दिन आकर बजायेगा ?" गुलेरी हँस दी। उस की आँखों में धूप चमक रही थी।

मानक ने अपना मुँह दूसरी ओर कर लिया। शायद उस की आँखों में बादल उमड़ आये थे।

गुलेरी ने मायके का रास्ता लिया और मानक लौट आया।

"माँ···!" घर पहुँचकर मानक इस तरह खाट पर गिर पड़ा जैसे वह बड़ी मुश्किल से खाट तक पहुँच पाया हो।

"बड़ी देर लगायी। मैं तो सोचती थी शायद तू उस को आख़िर तक छोड़ने चला गया है।" माँ ने कहा।

"नहीं, माँ, आख़िर तक नहीं गया। रास्ते के बीच ही छोड़ आया हूँ।" मानक का गला रुँध गया।

"औरतों की तरह रोता क्यों है? मर्द बन।" माँ ने रोष से कहा।

मानक के मन में आया कि वह माँ से कहे, 'पर तू तो औरत है, एक बार औरतों की तरह रोती क्यों नहीं?'

मानक को गुलेरी की एक बात स्मरण हो आयी।

'हम नीले फूलोंवाले वन में से गुज़र रहे हैं जहाँ पर सभी के कान बहरे हो जाते हैं।' मानक को ऐसे महसूस हुआ कि आज किसी को उस की बात सुनायी नहीं देती। सारा संसार जैसे नीले फूलों का वह वन है और सभी के कान बहरे हो गये हैं।

सात वर्ष हो गये थे। गुलेरी की अभी तक कोख नहीं हरियायी थी। माँ कहती थी, "अब मैं आठवाँ वर्ष नहीं लगने दूँगी।" माँ ने पाँच सौ रुपया देकर भीतर ही भीतर मानक के दूसरे ब्याह की बात पक्की कर ली थी। वह उस समय के इन्तज़ार में थी कि जब गुलेरी मायके जायेगी, वह नयी बहू का डोला घर ले आयेगी।

इस के बाद मानक को ऐसे महसूस हुआ जैसे उस के दिल का मांस सो गया था। गुलेरी का प्यार उस के दिल में चुटकी भर रहा था। पर उस के दिल को कुछ महसूस नहीं हो रहा था। नयी बहू की कोख से उत्पन्न होनेवाले बच्चे की हँसी उस के दिल को गुदगुदा रही थी, पर उस के दिल को कुछ नहीं हो रहा था। जाने उस के दिल का मांस सो गया था।

सातवें दिन मानक के घर उस की नयी बहू बैठी हुई थी।

मानक के सभी अंग जाग रहे थे, एक उस के दिल का मांस सोया हुआ था। दिल के सोये हुए मांस को उस के जाग रहे अंग सभी स्थानों पर ले गये थे। नयी ससुराल में भी और नयी बहू के बिछौने पर भी।

मानक मुंह अँधेरे अपने खेत में बैठा हुआ तम्बाकू पी रहा था जब मानक का एक पुराना मित्र वहाँ से गुज़रा।

"इतने बड़े सवेरे कहाँ चला है, भवानी?"

भवानी एक मिनट चौंककर ठहर गया। चाहे उस ने अपने कन्धे पर एक छोटी-सी गठरी उठायी हुई थी फिर भी धीरे से कहने लगा, "कहीं नहीं।"

"कहीं तो चला है। आ बैठ, तम्बाकू पी ले।" मानक ने आवाज़ दी।

भवानी बैठ गया और मानक के हाथ से चिलम लेकर पीता हुआ कहने लगा, "चम्बे चला हूँ, आज वहाँ मेला है।"

मेले के शब्द ने मानक के दिल में जाने कैसी सुई चुभो दी, मानक को महसूस हुआ उस के भीतर कहीं पीड़ा हुई थी।

"आज मेला है?" मानक के मुँह से निकला।

"हर वर्ष आज के दिन ही होता है।" भवानी ने कहा। फिर मानक की ओर ऐसे देखा जसे वह यह भी कह रहा हो, 'तू भूल गया है इस मेले को? सात वर्ष हुए जब तू मेले में गया था। मैं भी तो तेरे साथ था। तू ने तो इसी मेले में मुहब्बत की थी।'

भवानी से कहा कुछ नहीं, पर मानक को ऐसे महसूस हुआ कि जैसे उस ने सब कुछ सुन लिया था। उस को भवानी पर गुस्सा आ रहा था कि वह सब कुछ क्यों सुन रहा है।

भवानी मानक की चिलम छोड़कर उठ खड़ा हुआ। उस की पीठ पर लटक रही गठरी में से उसकी बाँसुरी का सिरा बाहर निकला हुआ था। भवानी चलता जा रहा था।

मानक उस की पीठ को देखता रहा। पीठ पर रखी हुई छोटी-सी गठरी को देखता रहा। गठरी में से निकले हुए बाँसुरी के सिरे को देखता रहा।

'भवानी और भवानी की बाँसुरी मेले जा रहे हैं।' मानक को अपनी बाँसुरी स्मरण हो आयी जब उस ने मायके जा रही गुलेरी को अपनी बाँसुरी देते हुए कहा था, 'इसे तू साथ ले जाना' फिर मानक को ख़याल आया, 'और मैं?'

मानक का मन आया कि वह भी भवानी के पीछे-पीछे दौड़ पड़े। वह अपनी उस बाँसुरी के पीछे दौड़ पड़े, जो उस से पहले मेले में चली गयी थी।

मानक ने हाथ से चिलम फेंक दी और भवानी के पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। फिर मानक की टाँगें काँपने लग पड़ीं। वह वहीं-का-वहीं बैठ गया।

मानक को सारा दिन और सारी रात मेले जा रहे भवानी की पीठ दिखायी देती रही।

दूसरे दिन तीसरे पहर का समय था जब मानक अपने खेत में बैठा हुआ था। उस को मेले में से आते हुए भवानी का मुँह दिखायी दिया।

मानक ने मुँह एक ओर कर लिया। उस ने सोचा कि मुझ को न तो भवानी का मुँह दिखायी दे और न भवानी की पीठ। इस भवानी को देखकर उस को मेले की याद आ जाती थी और यह मेला उस के सोये हुए दिल के मांस को जगा देता था। और जब वह मांस जाग पड़ता था उस में बहुत पीड़ा होती थी।

मानक ने मुंह फेर लिया, पर भवानी चक्कर काटकर भी मानक के सामने आ बैठा। भवानी का मुंह ऐसा था, जैसे किसी ने जल रहे कोयले पर अभी-अभी पानी डाला हो। और उसके ताप का रंग अब लाल न होकर काला हो।

मानक ने डरकर भवानी के मुंह की ओर देखा।

"गुलेरी मर गयी।"

"गुलेरी मर गयी?"

"उस ने तुम्हारे विवाह की बात सुनी और मिट्टी का तेल अपने ऊपर डाल-कर जल मरी।"

"मिट्टी का तेल···" इस के बाद मानक बोला नहीं।

पहले भवानी डरा। फिर मानक के माँ-बाप डर गये, और फिर मानक की नयी बहू डर गयी कि मानक को पता नहीं क्या हो गया था। वह न किसी के साथ बोलता था, और न किसी को पहचानता दीखता था।

कई दिन बीत गये। मानक समय पर रोटी खाता, खेती का काम भी करता और सभी के मुंह की ओर ऐसे देखता जैसे वह किसी को भी न पहचानता हो।

"मैं उस की औरत काहे की हूं? मैं तो सिर्फ़ इस के फेरों की चोर हूँ।" नयी बहू दिन-रात रोने लगी। यह फेरों की चोरी अगले महीने मानक की नयी बहू की और मानक की माँ की आशा बन गयी। बहू के दिन चढ़ गये थे। माँ ने मानक को अकेले में बैठाकर यह बात सुनायी। पर मानक ने माँ के मुँह की ओर ऐसे देखा जैसे यह बात उस की समझ में न आयी हो।

मानक को चाहे कुछ समझ में नहीं आया था पर वह बात बहुत बड़ी थी। माँ ने नयी बहू को हौसला दिया कि तू हिम्मत से यह वेला काट ले। जिस दिन मैं तुम्हारा बच्चा मानक की झोली में रखूँगी तो मानक की सभी सुधियाँ पलट आयेंगी। फिर वह वेला भी कट गयी। मानक के घर बेटा पैदा हुआ। माँ ने बालक को नहलाया-धुलाया, कोमल रेशमी कपड़े में लपेटकर मानक की झोली में डाल दिया।

मानक झोली में पड़े हुए बच्चे को देखता रहा, फिर जैसे चीख़ उठा, "इस को दूर करो, दूर करो! मुझे इस में मिट्टी के तेल की बू आती है।"

अजनबी

न जाने क्यों, लोकनाथ को अपने जीवन की हर बात किसी-न-किसी जानवर की सूरत में याद आती थी। बचपन के कितने ही पल एक अघायी हुई बिल्ली की तरह म्याऊँ-म्याऊँ करते हुए उसके पास से गुज़र जाते थे। इन पलों को जैसे उस की माँ ने अभी-अभी दूध से भरी हुई कटोरी पिलायी हो, और उस के भूरे झबरैले बालों को उस के बाप ने जैसे अभी-अभी अपने हाथों से सहलाया हो।

लोकनाथ का छोटा भाई प्रेमनाथ अब नेवी में था। इकहरे बदन का खूबसूरत-सा नौजवान। पर छुटपन में वह पढ़ाई में भी उतना ही कमज़ोर था जितना कि वह शरीर से दुबला था। लोकनाथ जब उसे पढ़ाने के लिए कभी अपने पास बिठाता था तो किताब के अक्षरों पर सिकुड़ी हुई उस की आँखें, कई बार अचानक सहमते-से फैलकर लोकनाथ का चेहरा ताकने लगती थीं। और फिर जब लोकनाथ उसे दिलासा देता था तो जैसे मिन्नत-सी करती हुई उसकी आँखें पिघलने लग जाती थीं। और अब नेवी का अफ़सर बनकर वह नये-नये बन्दरगाहों पर जाता था और वहाँ से तसवीरें खींचकर लोकनाथ को भेजता था तो लोकनाथ को उस के साथ बिताये हुए पलों की याद ऐसे आती थी जैसे एक छोटा-सा पिल्ला पूंछ हिलाते हुए अपनी गीली जीभ से उस की तली को चाटने लगा हो।

उस ने किसी राजनीतिक पार्टी में कभी दखल देना नहीं चाहा था। पर अनुभवों की भूख कई बार उसे मीटिंगों में ले जाती थी। वह नहीं जानता, कब खुफ़िया पुलिस ने अपने काग़जों में उस का नाम दर्ज कर लिया था और उस के बारे में अपनी लम्बी-चौड़ी राय बना रखी थी। उस की डिगरियों से घबराकर जब कभी कोई सरकारी दफ़्तर उसे नौकरी का वचन दे देता तो पुलिस की यही लम्बी-चौड़ी राय उस वचन को एक ही झटके में तोड़कर रख देती। अब जब कि लोकनाथ एक कॉलेज का प्रोफ़ेसर था और अपने लिए उस ने एक निश्चित स्थान बना लिया था तो कई परेशान लमहों की याद उसे उन चीलों और बन्दरों की

सूरत में याद आती थी जो न जाने कहाँ से आते थे और उस के हाथों को खरोंचकर रोटी का टुकड़ा छीनकर ले जाते थे।

सरकारी दफ़्तरों की ढीली रफ़्तार उसे केंचुओं-सी लगती। किसी भी क़ाबलियत के रास्ते में पेश आनेवाली ईर्ष्या उसे साँप की तरह फुंकारती सुनायी देती। कइयों की ईर्ष्या और जलन को उस ने अपने शरीर पर झेला था—भैंसे के सींगों की तरह। अपने सगे-सम्बन्धियों के फ़ुज़ूल उलाहनों और रूठने के पल उसे अलमारी में घुसे हुए चूहे मालूम होते थे जो क़ीमती काग़ज़ों को कुतरते चले जाते हैं।

लोकनाथ को अपनी बीवी बहुत पसन्द थी। इस बीवी को, लोकनाथ का दिल कहता था, कि उस ने क़िस्सा-कथाओं के इश्क़ से भी ज़्यादा इश्क़ किया था। उस के साथ बितायीं और बीत रही घड़ियाँ लोकनाथ की नज़र में ऐसे थीं जैसे नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाँ उस के आसपास चहकती हों, जैसे कुंजों की एक क़तार बादलों को काटकर गुज़री हो, जैसे घुग्गियों के कुछ जोड़े उस की खिड़की में आकर बैठ गये हों, जैसे सुग्गों का एक झुण्ड उस के आँगन के पेड़ पर आ बैठा हो। अपनी बीवी के ख़त, और बीवी के नाम लिखे हुए अपने ख़त लोकनाथ को हमेशा उन कबूतरों-से लगते थे जो किसी दीवार की ओट में घोंसला बनाने के लिए तिनके जोड़ते रहते हैं।

विवाह से पहले लोकनाथ अपनी बीवी को उस के जन्मदिन पर एक किताब भेंट किया करता था। विवाह के बाद हर साल उस के जन्मदिन पर उस के होंठ चूमता था और कहता था, 'मेरी उम्र का यह साल एक किताब की तरह तुम्हारी नज़र।' इस तरह लोकनाथ अपनी बीवी को अब तक अपनी उमर के पचीस साल पचीस किताबों की तरह सौग़ात में दे चुका था। उसे यक़ीन था कि उस के जीते जी उस की बीवी का कोई ऐसा जन्मदिन नहीं जायेगा जब कि वह अपनी ज़िन्दगी का कोई साल एक खुली किताब की तरह उसे भेंट नहीं करेगा।

सिर्फ़ एक बार ऐसा हुआ था—बाईस साल पहले की बात है—एक सुबह लोकनाथ चारपाई से उठा तो उस का बदन तप रहा था। रात को वह अच्छा-भला सोया था। गरीवाला एक केक लाकर उस ने अपनी अलमारी में रखा था। इस बार न जाने कैसे उस की बीवी को अपना जन्मदिन याद नहीं रहा था। शायद इसलिए कि उस की एक बहुत पुरानी सहेली कई सालों बाद उस दिन विदेश से लौट रही थी और उस ने उसे मिलने के लिए जाना था। लोकनाथ ने सुबह अपनी बीवी को चौंकाने के लिए केक लाकर अलमारी में छिपा दिया था। पर सुबह जब वह उठा तो उस के माथे में ज़ोरों का दर्द हो रहा था। बीवी के साथ उस ने चाय भी पी और केक भी खाया, उसे चौंकाया भी उस के होंठ चूमकर उसे अपनी उमर का एक साल किताब की तरह सौग़ात मे भी दिया। पर

उस के बाद वह सारा दिन चारपाई से नहीं उठ सका। उस दिन वह सोच रहा था कि जो किताब इस बार उस ने अपनी बीवी को दी थी, उस किताब का एक पन्ना उस में से फटा हुआ था। उस रात वह फटा हुआ पन्ना किसी जानवर के टूटे हुए पंख की तरह उस की छाती में हिलता रहा।

लोकनाथ की ज़िन्दगी के कुछ पल मासूम उड़ते परिन्दों की तरह थे, कुछ पालतू परिन्दों की तरह और कुछ जंगल के जानवरों की तरह। पर किसी पल से वह कभी डरा नहीं था, चौंका भी नहीं था। पर एक—लोकनाथ की ज़िन्दगी में एक वह घड़ी भी आयी थी—मुश्किल से पन्द्रह मिनटों के लिए - जो एक बार एक चमगादड़ की तरह उस के मन में चली आयी थी और बेशक होश-हवास की सारी खिड़कियाँ खुली थीं, पर वह घड़ी एक अन्धे चमगादड़ की तरह बार-बार दीवारों से टकराती रही थी और बार-बार लोकनाथ के कानों पर झपटती रही थी। लोकनाथ ने घबराकर कानों पर हाथ रख लिये थे और कुछ मिनटों के लिए उसे आवाज़ें सुनायी नहीं दी थीं, उस की ज़मीर की आवाज़ भी नहीं, पर एक आवाज़ थी जो उस समय भी कनपटियों में उसे सुनायी देती रही थी, और ख़ून की इस आवाज़ से छुटकारा पाने के लिए उस ने···

बाईस साल बीत गये थे। पर वह घड़ी, मुश्किल से पन्द्रह मिनटों की वह घड़ी, लोकनाथ को जब कभी याद आ जाती—याद नहीं आती थी बल्कि चमगादड़ की तरह उस के सिर पर उड़ती थी—तो लोकनाथ घबराकर उसे जल्दी बाहर निकाल देने के लिए उस के पीछे दौड़ने लगता था।

इस चमगादड़ जैसी घड़ी के आने का कोई समय नहीं था। कभी 'फ़ायड' के पन्ने उलटते हुए वह अचानक आ जाती थी तो कभी किसी ख़ूबसूरत कविता को पढ़ते हुए भी वह दिखायी दे जाती। एक बार अपने नये जनमे बेटे की गरदन में से दूध की महक सूँघते हुए भी लोकनाथ को वह चमगादड़ दिखायी दी थी। और आज जब लोकनाथ की बड़ी बेटी सुचेता, मायके में प्रसूत-काल काटकर ससुराल जाने लगी थी, और नन्हें-से बालक को झोली में लेकर जब उस ने अपने बाप से मिन्नत की थी कि उस की छोटी बहन रीता को वह कुछ दिनों के लिए उस के साथ ससुराल भेज दें क्योंकि छोटा-सा बालक शायद उस से अकेले न सँभले, तो लोकनाथ के चेहरे का रंग पीला पड़ गया था।···एक चमगादड़ उस के सिर पर मँडराने लगा था। आँगन में बैठी उसकी बीवी, उस की बेटी, उसे लेने आया उस का ख़ाविन्द, झोली में पड़ा बच्चा, कुछ दूर पर बैठी उस की दूसरी बेटी, आँगन में कैरम खेल रहा उस का बेटा—सारे-के-सारे जैसे ओझल हो गये। होश हवास की सारी खिड़कियाँ खुली थीं, पर एक अन्धा चमगादड़ दीवारों से सिर पटक रहा था, लोकनाथ के कानों पर झपट रहा था, और लोकनाथ उसे जल्दी से बाहर निकाल देने के लिए अपने मन की चारों नुक्कड़ों में दौड़ने लगा।

यह चमगादड़ एक स्मृति थी। बात बाईस साल पहले की थी—लोकनाथ के घर जब पहला बच्चा हुआ था, यही सुचेता। लोकनाथ की बीवी बेहद कमज़ोर हो आयी थी। अपनी बीवी को मायके से अपने घर लाने की जगह वह उसे पहाड़ पर ले गया था। छोटा-सा बच्चा न उस से सँभल पा रहा था न उस की बीवी से। इसलिए वह अपनी बीवी की छोटी बहन को भी अपने साथ पहाड़ पर ले गया था। पन्द्रह सालों की वह उर्मी उसे बिलकुल अपनी बहन-सी दिखायी देती थी या अपनी बेटी की तरह जो कुछ सालों बाद उसी की उमर की हो जानी थी। कई बार बच्ची जब सो रही होती थी तो उर्मी को घुमाने के लिए वह अपने साथ ले जाता था। उस की बीवी अभी चल नहीं सकती थी। कहीं-कहीं चीड़ के पेड़ों के नीचे झरे हुए तिनकों की तहें बैठ जाती थीं। उर्मी दौड़ पड़ती थी तो लोकनाथ उसे फिसलने से बचाने के लिए उस का हाथ पकड लेता था। उसने यह कभी नहीं सोचा था कि इस उर्मी को उस के हाथों कभी ठेस भी लग सकती थी। एक बार सैर के लिए जाते वक़्त उस ने अपनी बच्ची की गरदन को चूमा। सो रही बच्ची में से सौंफिया दूध और पाउडर की अजीब-सी गन्ध आ रही थी। बच्ची की माँ भी बच्ची के पास लेटी हुई थी। लोकनाथ ने उस के कान के पास होकर धीरे से अपने होठ छुआये तो बच्चीवाली गन्ध उसे अपनी बीवी के बालों में से भी आयी। और फिर उसी दिन की बात है, सैर करते हुए जब उस ने उर्मी का हाथ पकड़-कर उसे फिसलती चढ़ाई पर चढ़ने के लिए सहारा दिया तो उस के कन्धे को छूती हुई उस की साँस में से भी वही गन्ध आयी। लोकनाथ अपनी बीवी को मज़ाक करता आया था और उर्मी से भी बोला, "बेबी का सौंफिया दूध, लगता है, तुम दोनों को भी अच्छा लगने लगा है।"

इस के आगे लोकनाथ को नहीं मालूम कि क्या कैसे हुआ। एक गन्ध थी जो उस के गले सिमट आयी थी—सौंफिया दूध की, पाउडर की, गुदाज़ चमडी की, औरत के अंगों की, और चीड़ के पेड़ों की। और लोकनाथ को लगा कि जंगल की खुली हवा में भी उस का दम घुट रहा है। और फिर यह गन्ध कुहासे की तरह उठी और उस के गले से होकर माथे में छा गयी। और फिर सारे चेहरे उस कुहासे की ओट में छिप गये—उर्मी का चेहरा, उस की बीवी का चेहरा, उसकी बच्ची का चेहरा। चेहरों का अहसास होता था—पर पहचाने नहीं जाते थे। फिर लोकनाथ को लगा कि दूर-पास कहीं कोई बस्ती नहीं थी। जहाँ तक नज़र जाती थी—वहाँ तक सिर्फ़ खँडहर ही थे। फिर किसी खँडहर में से चमगादड़ों की एक तेज़ गन्ध उठी और उस के सिर में छा गयी। फिर उसे लगा कि किसी दीवार की ओट से निकल-कर एक चमगादड़ उस के कानों पर झपटने लगा था। उस ने घबराकर दोनों हाथ कानों पर रख लिये थे। कुछ मिनटों के लिए उसे कोई आवाज़ सुनायी नहीं दी थी—ज़मीर की आवाज़ भी नहीं, पर एक आवाज़ उसे अब भी सुनायी दे रही

थी—सुनायी कानों से नहीं दे रही थी बल्कि खून की हरेक बूंद से उठ रही दिखती थी।

यह जैसे एक बहुत बड़ी साज़िश थी। ज़मीर की आवाज़ के ख़िलाफ़ खून की आवाज़ की साज़िश थी—चेहरे की हर पहचान के ख़िलाफ़ एक बूंद की साज़िश थी—जंगल की खुली हवा के ख़िलाफ़ एक गन्ध की साज़िश थी—हर आबादी के ख़िलाफ़ हर खंडहर की साज़िश थी।

लोकनाथ किसी की कोई साज़िश न समझ सका। पन्द्रह मिनटों का वह समय जब उस की उमर से टूटकर एक अंग की तरह दूर जा पड़ा तो लोकनाथ को लगा कि उस की सारी ज़िन्दगी अपाहिज बनकर रह गयी थी।

उस शाम जब वह घर लौटा, उस की बीवी के कमरे में जो मोमबत्ती जल रही थी, लोकनाथ को लगा, उस मोमबत्ती की लपट उस के चेहरे की तरफ़ देखकर थरथराती हुई जैसे जल्दी से बुझ जाना चाहती थी।

जब रात घिर आयी तो अँधेरा लोकनाथ को अच्छा लगा। पर, फिर उसे लगा कि एक अँधेरा उस की छाती में घिर आया था। अँधेरे का एक टुकड़ा रात के अँधेरे से टूटकर अलग जा पड़ा था। रात का अँधेरा तालाब के पानी की तरह ठहरा हुआ था जिस में से एक गन्ध उठ रही थी। उस रात लोकनाथ को कितने ही ख़याल आये। उसे लगा कि वे सारे ख़याल इस तालाब में तैरते हुए मच्छरों जैसे थे।

दूसरे दिन वह पहाड़ से लौट आया था। उर्मी को उस के माँ-बाप के पास छोड़ आया था। और फिर उर्मी को उस के विवाह के दिन, एक बार भरे आँगन में मिलने के सिवा, वह कभी नहीं मिला था। यह एक माफ़ी थी, जिसे वह सारी उमर अपने को ग़ैरहाज़िर रखकर उर्मी से माँगता रहा था।

"पापाजी!" सुचेता ने एक मिन्नत से लोकनाथ की ख़ामोशी तोड़नी चाही। और धीरे से बोली, "आप क्या सोच रहे हैं, पापा? वैसे मैं जानती हूँ, आप 'न' नहीं करेंगे।"

"क्या?" लोकनाथ ने हैरान होकर अपनी बेटी की तरफ़ देखा। यह बेटी उसे बहुत प्यारी थी। उस की बात उस ने कभी नहीं टाली थी। पर वह हैरान था कि अगर कोई होनी वक़्त के साथ मिलकर एक साज़िश करने लगी थी, तो उस की बेटी को इस साज़िश की समझ क्यों नहीं लग रही थी।

"रीता को कुछ दिन मैं अपने साथ ले जाऊँ? यह सोनी मुझ से सँभलती नहीं···" सुचेता फिर कह रही थी। साथ में माँ ने भी हामी भरी, "एक महीने तक रीता का कॉलेज खुल जायेगा। यही छुट्टियों का एक महीना ही है···एक महीना ही सही···राजेन्द्र भी ज़ोर डाल रहे हैं।"

"राजेन्द्र बड़ा होनहार है," लोकनाथ को ख़याल आया और फिर अपने

जंवाई के चेहरे की तरफ़ देखते हुए उसे लगा कि कोई होनी एक पागल कुत्ते की तरह—इस अच्छे लड़के को काटने के लिए तिलमिला रही थी। वह तनकर खड़ा हो गया ऐसे जैसे वह उसे पागल कुत्ते से बचा सकता था। "मैं अगले महीने खुद आकर रीता को छोड़ जाऊँगा," राजेन्द्र ने धीरे से कहा।

"नहीं, बिलकुल नहीं।" लोकनाथ ने ज़रा सख्ती से कहा। सब ने घबराकर पहले लोकनाथ की ओर देखा, फिर एक-दूसरे की ओर, ऐसे जैसे उन्होंने लोकनाथ की आवाज़ नहीं सुनी थी, किसी बड़े अजनबी की आवाज़ सुनी थी।

एक निश्वास

करमो ने लोटे में लस्सी डलवायी और फिर आधे से भी कम भरे हुए लोटे को देखती हुई बोली, "आज बड़ी सरदारिन नहीं दिखती कहीं ! राज़ी-खुशी तो है ?"

सरदारिन निहालकौर अभी एक घड़ी पहले चौके में आयी थी। चूल्हे पर रखी खीर के नीचे ज़्यादा आँच देखकर उस ने लकड़ियाँ पीछे खींच ली थीं, "क्यों री, वीरो ! खीर भी कभी इतनी आँच पर बनी है ? इस के नीचे बहुत हलकी आँच चाहिए।" उस ने कहा था और फिर चूल्हे के पास लकड़ी की पटरी रख-कर और उस पर बैठकर पतीले में कलछी घुमाने लग गयी थी। सुबह दही उस ने खुद बिलोया था, पर लस्सी छानते हुए उस ने वीरो को कहा था कि वह कुछ पल अब आराम करेगी। जो भी आये, वीरो उसे लस्सी दे दे।

शायद औरों ने लस्सी लेते हुए यह बात पूछी थी, पर निहालकौर नहीं जानती। वह अन्दर के कमरे में थी। पर अब जब वह आंगन में थी तो दहलीज़ों के बाहर बैठी करमो की आवाज़ उस ने ख़ुद सुनी थी।

"राज़ी हूँ, करमो ! तुम तो ठीक हो ?" निहालकौर ने अन्दर से पूछा।

करमो ने जल्दी से दहलीज़ के पास आकर झांका और अपने एक हाथ को माथे से छुआती हुई बोली, "जुग-जुग जियो सरदारिन, आज तुम्हें देखा नहीं था ! मैं ने सोचा मेरी सरदारिन ठीक तो है !"

सभी लोग निहालकौर की बलाएँ लेते थे। यह नयी बात नहीं थी, फिर भी निहालकौर को लगा कि लस्सी लेते ही करमो ने उसे याद किया था तो ज़रूर कोई बात होगी। तभी जब निहालकौर ने करमो की तरफ़ देखा तो वह लोटा निहालकौर की तरफ़ झुकाकर खड़ी हुई थी। निहालकौर समझ गयी। वह वीरो की तरफ़ देखती हुई बोली, "सुनो ! करमो का लोटा भर दिया कर ! इस के छोटे-छोटे बच्चे लस्सी पर पलते हैं।"

"राम तुम्हें दुगना दे ! तुम्हारे हाथ इतने सन्तोषी हैं कि अनजाने ही दो-दो बार लस्सी ढार जाते हैं !" लोटे में और लस्सी लेती हुई करमो बोली। और

चाहे इस समय उस को तसल्ली देनेवाले हाथ वीरो के थे, पर वह कह रही थी निहालकौर के हाथों को।

करमो के चले जाने पर निहालकौर उस की दी हुई दुआएँ भूल गयी, उस का कहा हुआ सिर्फ़ एक शब्द उसे याद रह गया, 'बड़ी सरदारिन…'

निहालकौर एक ही दिन में सरदारिन से बड़ी सरदारिन बन गयी थी। मालूम नहीं उसे बड़ी सरदारिन कहने का ख़याल सब से पहले किसे आया था! शायद सब को एक साथ ही आ गया था! घर की महरी से लेकर कारखाने के सारे मुंशी, मुनीम उसे बड़ी सरदारिन कहकर बुलाने लगे थे। यहाँ तक कि घर के मालिक सरदार ने भी कल उसे बड़ी सरदारिन कहकर बुलाया था। और फिर निहालकौर को ख़याल आया कि परसों उस ने ख़ुद ही तो महरी से कहा था कि जाकर छोटी सरदारिन को कमरे से बुला लाये। अगर कोई छोटी सरदारिन हो तो बड़ी सरदारिन ख़ुद ही बन जानी थी। निहालकौर ने सोचा, और फिर कितने ही ख़याल छोटे-छोटे धान के दानों की तरह उस के मन के दूध में रँधने लगे।

रँधते हुए ख़यालों में एक ख़याल यह भी था कि वीरो जब से इस घर में छोटी बहू बनकर आयी थी, तभी से वह रात को सोने से पहले नियमपूर्वक निहालकौर के कमरे में आती थी और उस की चारपाई के पाये पर बैठकर उस के पाँवों को दबाती थी। निहालकौर ने न तो बेटी की डोली भेजनी थी न बेटे की डोली लानी थी, पर जब उस के हाथों ब्याही वीरो उस के पाँवों को दबाती थी तो उसे लगता था कि उस ने बेटी भी पा ली थी और बहू भी। और निहाल-कौर ने एक गहरा साँस लेकर हँसते हुए होठों से अपने आप को मना लिया था कि वीरो उस की बेटी भी थी और बहू भी।

निहालकौर ने अपने सरदार के दूसरे विवाह के लिए यह लड़की वीरो ख़ुद ही तलाश की थी। रिश्ते अच्छे घर से भी मिल रहे थे, पर वे सारे सरदार के लिए नहीं मिल रहे थे, सरदार की हवेली के निमित्त थे। सरदार की ढलती हुई उमर से डरते हुए जो भी लोग रिश्ता लेकर आते थे, वे रिश्ता करने से पहले हवेली को अपनी बेटी के नाम करवा लेना चाहते थे। सरदार अपनी हवेली का वारिस तो ज़रूर खोज रहा था, पर हवेली को उस औरत के नाम नहीं लिख सकता था जिस की कोख ने किसी वारिस को जाने कब जन्म देना था, और फ़िलहाल जिस ने वारिस की भविष्यवाणी ही करनी थी।

…और सरदार ने दूसरा विवाह करने से इनकार कर दिया था। पर इस इनकार में एक निश्वास मिला हुआ था। निहालकौर ने इस निश्वास को सुना था और इस तरह उस ने एक अदने-से परिवार की यह वीरो खोजकर अपने सरदार को दे दी थी, और उस के बदले में उस का निश्वास ख़ुद ले लिया था।

एक दिन सरदार ने दीवार में लगी अपनी लोहे की अलमारी खोली तो वह कितनी ही देर खुली अलमारी के सामने खड़ा कुछ सोचता रहा। "बड़ी सरदारिन कहाँ गयी हैं ?" सरदार ने वीरो से जल्दी से पूछा। बड़ी सरदारिन घर नहीं थी। सरदार ने अलमारी को बन्द कर दिया और चाबी जेब में रख ली और कारख़ाने को जाते हुए वीरो से कह गया कि निहालकौर जब भी घर आये, वह नीचे से मुंशी को आवाज़ देकर उसे कारख़ाने से बुला ले। जब निहालकौर घर पहुँची तो वीरो बाहर के दरवाज़े में घबरायी हुई बैठी थी, उस ने अभी क़ै की थी।

निहालकौर ने वीरो का हाथ थामा, उस के कन्धे दबाये और उसे चारपाई पर लिटाया। पर वीरो काँपते पैरों से चारपाई से नीचे उतरी और निहालकौर के पाँवों से लिपट गयी।

"सरदारिन, तुम ने मुझे एक दिन कहा था कि मैं तुम्हारी बेटी भी हूँ और बहू भी। आज तू मुझे अपनी बेटी समझकर बचा ले और चाहे बहू समझकर।" वीरो बिलख उठी। बिलखते-बिलखते वीरो ने निहालकौर को बताया कि जब कुछ दिन पहले उस का भाई उस से मिलने आया था तो उस के भाई को कुछ पैसों की बहुत जरूरत थी। वीरो ने उसे कुछ पैसे भी दिये थे, पर पैसे उस के पास बहुत कम थे। इसलिए उस ने सरदार की जेब से चाबी चुराकर लोहे की अलमारी खोली थी और अलमारी में से चाँदी के बरतन निकालकर अपने भाई को दे दिये थे।

"यह तुम्हारा अपना घर है, वीरो! अगर तुम अपने घर को अपने हाथों बरबाद करोगी···" बात अभी निहालकौर के मुँह में ही थी कि वीरो तमककर बोली, "यह घर मुझे अपना न कभी लगा है, न कभी लगेगा। पर यह मैं तुम से इक़रार करती हूँ, सरदारिन, आइन्दा मैं इस घर की कोई चीज़ कभी बाहर नहीं दूंगी। मैं ने उस दिन भी ग़लती की थी। यों ही कर बैठी। बाद में पछतायी भी। तुम्हें तो पता है मेरे विवाह के समय मेरे बाप ने मेरे भाई के कारोबार का वास्ता देकर तुम से दो हज़ार रुपया माँगा था। तुम ने वह दे दिया था। मेरे बाप ने विवाह कर दिया। मुझे बेचने में क़सर ही क्या रह गयी ? दो हज़ार रुपये के लिए मुझे इस बूढ़े खूंटे से बाँध दिया गया। बाप और भाई भी क्या सगे हुए—मैं किसी का घर बरबाद कर उस का घर भी क्यों भरूं ?"

"वीरो!···" निहालकौर चौंककर वीरो के चेहरे की तरफ़ देखने लगी।

निहालकौर ने वीरो की लाज रख ली। उस ने सरदार से कह दिया कि अलमारी में रखे चाँदी के बरतन पुराने ढब के थे। उस ने वह बरतन निकालकर साथ में कुछ और चाँदी मिलाकर सुनार को नये बरतन बनाने को दिये थे।

सरदार की चिन्ता जाती रही। पर निहालकौर अब ी वीरो के चेहरे की

तरफ़ देखती, तो उस के मन में एक चिन्ता घर कर जाती। वीरो की काले भँवरों जैसी आँखें थी। रंग की ज़रा साँवली थी, पर साँवले रंग में जवानी सख्त आटे की तरह गुँथी हुई थी। उस की बाँहें बेलनों की तरह गोल और सख़्त थीं। मांस में उँगली का एक पोर भी नहीं गड़ता था। सरदारिन को लगा कि सरदार से जो निश्वास लेकर उस ने अपने जिम्मे ले लिया था, वीरो ने वही निश्वास अपनी छाती में डाल लिया था।

और फिर वीरो के पाँव भारी हो गये। हवेली बहुत बड़ी थी, पर मुबारकें इतनी थीं कि हवेली में समाती नहीं थी। सरदार का पैर ज़मीन पर नहीं पड़ता था, और निहालकौर वीरो का पैर ज़मीन पर नहीं लगने देती थी। पर लोग न सरदार को इतनी मुबारक दे रहे थे, न वीरो को ही, जितनी मुबारक वे निहालकौर को दे रहे थे।

"मैं इस का जनम होते ही इसे अपनी झोली में ले लूं?···बाद में मत कहना ···मैं बड़ी सरदारिन हूँ, तुम छोटी सरदारिन। पहला बेटा बड़ी का होगा। बाद में जो जनम लेंगे वे तुम्हारे···" निहालकौर हँसकर वीरो से कहती। निहालकौर ख़ुद ही नहीं जान पा रही थी कि उस के मन में ज़रा-सी भी मलाल क्यों नहीं था। उस ने अपने हाथों अपना ख़ाविन्द एक परायी औरत को दे दिया था और अब उस ने सारी ज़मीन-जायदाद भी एक पराये बेटे को दे देनी थी।

"अरी टोनाहारिन! मैं ने कैसे तुम्हें अपनी बेटी और बहू कहा था! मैं इस समय सचमुच एक माँ की तरह ख़ुश हूं। मुझे यह कभी याद ही नहीं रहता कि तू मेरी ··" निहालकौर की इस बात पर वीरो बीच में ही हँसकर कहती, "सरदारिन! मैं बेशक तुम्हारी और कुछ लगती होऊँ या नहीं, पर यह तुम जानती हो कि मैं तुम्हारी सौत नहीं लगती।"

निहालकौर ने बढ़ई से जो झूला बनवाया, उस झूले में चाँदी के घुंघरू बाँधे। सच्चे रेशम की उस ने छोटी-सी रजाई बनवायी। शहर का एक अँगरेज़ अफ़सर एक महीने की छुट्टी पर विलायत जा रहा था, "विलायती स्वेटर रेशम जैसे होते हैं," निहालकौर ने कहा और अँगरेज़ से दो छोटे-छोटे स्वेटर विलायत से लाने की बात पक्की कर ली।

अपने समय में निहालकौर ने ख़ुद को दाइयों को भी दिखाया था और बड़े शहरों में जाकर डॉक्टरों को भी, पर उस ने अपने समय में कभी किसी देवता की मनौती नहीं की थी। वीरो को जब पूरे तीन दिन कमर में दर्द होता रहा, और फिर एक दिन जब ज़रा-सा ख़ून का दाग़ भी नज़र आया तो निहालकौर ने पहली बार अपनी ज़िन्दगी में मनौती मानी।

यह 'मान' करने का समय था। वीरो चाहती तो अब देश-देशान्तरों की फ़रमाइशें कर सकती थी। सरदार उस की आवाज़ के लिए अब उस का चेहरा

ताकता रहना था। पर निहालकौर जानती थी कि अब भी वीरो अचार के एक छोटे-से टुकड़े के लिए झिझककर दो बार उस का चेहरा निहारती थी। इसलिए निहालकौर ख़ुद ही वीरो की इच्छाओं का ध्यान रखती। इन सारे दिनों में वीरो ने अपने मुँह से ज़ोर देकर किसी बात को कहा था तो सिर्फ़ इतनी-सी बात को कि आँगन में रस्सी से टाँगे हुए शलजमों के हार उतारकर परे रख दिये जायें। "इन्हें देखकर मेरे मन में कुछ होता है। शलजमों का लटकना इस तरह लगता है जैसे किसी की चमड़ी लिजलिजा गयी हो।" वीरो ने कहा था और सूखते हुए शलजमों को देखती हुई उबकाने लगी थी।

फिर वीरो के मन में जाने क्या आया, जब उसे नवाँ महीना हो आया तो उस ने ज़िद् पकड़ ली कि वह अपने मायके जाकर ही प्रसूत-काल काटेगी। सरदार उस की ज़िद् नहीं मान रहा था। निहालकौर उस की मिन्नतें कर रही थी पर वीरो ने एक ही ज़िद् पकड़ रखी थी कि उस के गाँव की एक बूढ़ी दाई बहुत मयानी है। उसे सिर्फ़ उसी दाई पर भरोसा है, और किसी पर नहीं। और उस का विश्वास था कि अगर वह यहीं रहेगी तो शहरी डाक्टरनियों के हाथों वह मर जायेगी।

"यह डर बड़ी बुरी बला है," डॉक्टरों ने भी सरदार को राय दी। पर सरदार के मन में दूसरा ही डर था। वह निहालकौर को अलग ले जाकर बोला, "मुझे डर है कि अगर उसे वहाँ लड़की हुई तो वह किसी के लड़के से उसे बदल देगी। मैं ने पहले भी ऐसी कई बातें सुनी हैं। उसे लालच है कि अगर लड़का हुआ तो बड़ा होकर जायदाद का वारिस होगा..."

"तो फिर इस का तो एक ही इलाज है। मैं इस के साथ चली जाती हूँ। मेरे पास रहते वह कुछ नहीं कर सकेगी।" निहालकौर ने कुछ देर सोचने के बाद कहा।

सरदार मान गया। वीरो ने भी कोई आपत्ति न की। निहालकौर ने घर की महरी को भी ख़िदमत के लिए साथ ले लिया और वीरो के साथ उस के मायके चली गयी।

वीरो का प्रसव कठिन नहीं था। वह भर-जवान थी और तन्दुरुस्त भी थी। उस की माँ और भाभी चुटकी काटती हुई उसे कहतीं, "यों ही डरे जा रही है। जनम देने में क्या लगता है। एक बार चीख़ भर दिया कि बेटे ने जनम लिया।"

निहालकौर वीरो के मायके पर किसी तरह भी भार न बनी। खुले हाथ ख़र्च करती थी। घर के सब लोग उसे सरदारिन-सरदारिन कहते अघाते नहीं थे। निहालकौर हँसकर कहती, "एक बार चीख दिया कि बेटे ने जनम लिया। पर अगर बेटी को जनम देना हो तो?"

वीरो की भाभी खिलखिलाकर हँसती हुई कहती, "दो बार चीख़ने से बेटी

को जनम दिया जा सकता है।"

"बेटी के लिए दो चीख़ें?" निहालकौर हँसकर पूछती।

"एक चीख़ पीड़ा की और एक चीख़ ग़म की···" वीरो की भाभी कहती, "खुशी तो बेटों की होती है। बेटियों की क्या खुशी होगी !"

निहालकौर के दिल में एक गहरी टीस उठी। उस ने सोचा, मैं ने ज़िन्दगी में न एक बार चीख़कर देखा, न दो बार। पर उस ने अपने मुसकराते हुए होठों से अपनी कसक को इस तरह पी लिया कि उस का दर्द भी उस के चेहरे को देखकर लज्जित होकर रह गया।

और फिर जिस रात वीरो को प्रसव की पीड़ाएँ शुरू हुईं तो दाँतों तले दबे उस के जवान होठों ने उन पीड़ाओं को इस तरह सह लिया कि किसी को ख़बर भी न हुई। सिर्फ़ एक बार उस की एक चीख़ सुनायी दी तो वीरो के सिरहाने बैठी निहालकौर की तरफ़ देखकर दाई ने कहा, "सरदारिन, मुबारक हो ! आओ तुम्हारी झोली बेटे से भर दूँ !"

निहालकौर ने बेटे को भी आँचल में ले लिया और मुबारकबाद को भी। पर सुबह होते ही जब वह सरदार को तार भेजने लगी तो वीरो ने निहालकौर को अपने पास बुलाकर अपने दोनों हाथ उस के पाँवों पर रख दिये और बोली, "सरदारिन ! मैं दुनिया से झूठ बोल सकती हूँ, पर तुम से नहीं। यह लड़का तुम्हारे सरदार का नहीं···"

"वीरो···" निहालकौर को लगा जैसे उस की ज़बान लड़खड़ाकर रह गयी हो।

"मैं सरदार की किसी तरह ऋणी नहीं हूँ। पर मैं तुम्हारी ऋणी हूँ। अगर यह लड़का सिर्फ़ सरदार के आँगन में ही खेलता तो मुझे कोई उज़र नहीं था। पर इसे मैं तुम्हारी झोली में नही डाल सकती। यह तुम्हारी झोली के योग्य नही है।"

"क्या कह रही हो, वीरो !"

"किया तो मैंने हँसी-हँसी में था, शायद हँसी को समय इसी तरह डँसता है। सच कहती हूँ तुम से, मुझे अपने लिए कोई पछतावा नहीं। अगर दिल में पछतावा है तो तुम्हारे लिए···"

"वी···रो !"

"तुम्हें याद होगा कि मैं पिछले साल एक बार मायके आयी थी···आप का मुंशी मेरे साथ आया था, मुझे मायके मिलकर ले जाने के लिए। यहाँ सारे गाँव में यह बात फैली हुई थी कि मेरे माँ-बाप ने रुपया लेकर मेरा विवाह एक बूढ़े सरदार से कर दिया था। सरदार कभी इस गाँव में नहीं आया। मेरा बाप ही मुझे आप के शहर ले गया था और गुरद्वारे में विवाह के बाद मुझे आप के घर

छोड़ आया था···मेरे गाँव आने पर हर कोई मुझ से पूछने लगा कि मेरा सरदार कितना बूढ़ा था? मुझे जाने क्या सूझा, मैं ने उन से पीछा छुड़ाने के लिए कह दिया कि मेरा विवाह बूढ़े से नहीं हुआ था। आप का मुंशी बड़ा जवान था, सुन्दर भी था। उसे दिखाकर मैं ने उन से कहा कि यह मेरा घरवाला है। सारी की सारी बस्ती हैरान होकर रह गयी। मुंशी को मैं ने यह बात बता दी। मुंशी ने भी झूठ को ओढ़ लिया। जब मेरी सहेलियों ने उस से बुन्दों की माँग की तो अपने सुनार से चाँदी के बुन्दे ख़रीदकर उन्हें दे दिये। पाँच-छह दिन मैं यहाँ रही। रोज़ हँसते-हँसते मुझे भी यह महसूस होने लगा कि मेरा विवाह उसी के साथ हुआ था, और किसी के साथ नहीं।"

"हमारा मुंशी मदनसिंह···"

"मैं अब लौटकर सरदार के घर नहीं जाऊँगी। न ही इस लड़के को ले जाऊँगी। इसलिए ज़िद पकड़कर मैं यहाँ आयी हूँ। मेरा किया मेरे सामने आयेगा। मैं तुम से और कुछ नहीं माँगती सरदारिन! बस एक बात माँगती हूँ कि सरदार को उस मुंशी का नाम मत बताना। नहीं तो उस मुंशी को वह नौकरी से निकाल देगा।"

"पर मदनसिंह विवाहित है, वीरो! उस के घर दो बच्चे हैं···"

"इसी लिए वह डरता है कि सरदार को पता चल गया तो उस की नौकरी जाती रहेगी। उस ने कौन-सा मुझे अपने घर बसाना है कि मैं उस की नौकरी छुड़वाऊँ···वह जहाँ भी रहे खुश रहे···मैं ने एक बार देखा तो सही कि जवान आदमी कैसा होता है···"

निहालकौर ने घबराकर आँखें बन्द कर लीं। और फिर जब उस ने आँखें खोलीं तो उस ने देखा कि वीरो की झोली में पड़ा हुआ उस का बेटा उस की छाती का दूध पीने के लिए मुँह बिरा रहा था।

और निहालकौर को लगा—सरदार का जो 'निश्वास' उस ने अपने जिम्मे ले लिया था, और वीरो ने उस से वही 'निश्वास' लेकर अपनी छाती में रख लिया था, यह लड़का वीरो की छाती में से उसी निश्वास को पीने की कोशिश कर रहा था।

लटिया की छोकरी

पार्वती ने जब डोली में से पैर उतारा, सब से पहले उस के ससुर ने रुपयों की थैली में उस का हाथ डलवाया. फिर उस की सास ने सोने की कण्ठी उसे मुंह-दिखायी दी, फिर उस के देवर ने उसे सफ़ेद मोतियों की अंगूठी घूंघट उठायी में दी और फिर बाक़ी सगे-सम्बन्धियों ने अपने-अपने सम्बन्ध के अनुसार पाँच-पाँच या दो-दो रुपये उस की मुट्ठी में दिये। देसराज की बारी आधी रात के क़रीब आनी थी। सुहाग की सेज पर बैठी पार्वती सोच रही थी कि उस के ससुर ने उस का घर में स्वागत कर उसे बहू से बेटी बना लिया था, उस की सास ने उसका मुंह देखते हुए उसे घर का सिंगार कहा था, उस के देवर ने उस के रूप को सराहते हुए उसे फूलों जैसी भाभी कहा था और सगे-सम्बन्धियों ने उसे चन्दन की डाली कह-कहकर प्रशंसा की थी और वह सोच रही थी कि अगर देसराज उस का मुंह देखकर उसे अपने मन में उतार लेगा तब ही यह सब कुछ सार्थक होगा, नहीं तो यह सब कुछ निष्फल जायेगा।

देसराज ने बड़ी कोमलता से पार्वती का घूंघट उठाया और नज़र भरकर उस के मुंह की ओर निहारते हुए धीरे से कहने लगा, "पारो !"

जिस कोमल आवाज़ मे देसराज ने पार्वती को पारो बना दिया—पार्वती का तन-मन पूर गया। उस ने पलकें झपककर देसराज के मुंह की ओर देखा। देसराज के मुंह पर एक गहरी तसल्ली थी, उस ने कोट की जेब से एक तसवीर निकाली और पारो की झोली में डालकर कहने लगा, "तुम्हारी मुंह-दिखायी।"

पारो तसवीर की ओर देखती-की-देखती रह गयी। यह एक भरपूर जवान लड़की की तसवीर थी। लड़की के बदन पर एक छोटी-सी चोली थी, लाँग-वाली धोती बंधी थी और बालों में फूलों के गुच्छे टँके थे। लड़की के मुख पर रूप का ज्वार था और यह रूप जंगली फूलों जैसा था। पारो को क्षण-भर के लिए ऐसा लगा जैसे उस का दिल धड़कने से रह गया हो।

दूसरे क्षण देसराज ने पारो को उस के दिल की धड़कन लौटा दी। कहने लगा, "यह चारू की तसवीर है। मैं सोचता था, अगर तुम्हारा मुख उतना ही सुन्दर हुआ जितना मेरे मन में बसा हुआ है तो मैं चारू की तसवीर तुम्हें मुंह-दिखायी दूंगा।"

और देसराज ने पार्वती को अपनी पारो बनाकर चारू की कहानी इस तरह सुनायी :

"एक बार हमारा हाथ बहुत तंग हो गया था। पिताजी किसी के साथ साझेदारी कर बैठे थे। अधिक विश्वास का बदला हमें यह मिला था कि घर का सारा छाप-छल्ला बेचकर बाज़ार का क़र्ज़ चुकाया था। लेना डूब गया था और हम रोटी के भी मुंहताज थे। मेरे ताऊ के बेटे, बोधराज और कर्मचन्द, पिछले कुछ सालों से मध्यप्रदेश में रहते थे। सुना था ठेकेदारी करते हैं। वे कुछ सालों में ही बड़ी असामी बन गये थे। उन्होंने मुझे लिख भेजा कि मैं भी अगर कुछ थोड़ा-बहुत पैसा लेकर उन के पास पहुँच जाऊँ तो कुछ दिनों में ही घर की हालत सुधर सकती है।

"मैं सोनीपत छोड़कर विलासपुर चला गया। बोधराज और कर्मचन्द जिस ढंग से लखपती बने थे, वह ढंग देखकर मेरा दिल कांप गया। वे बीस रुपये सैकड़ा ब्याज लेकर अपना रुपया ब्याज पर दे देते थे। दावं लगे तो पचीस रुपये भी लगा लेते थे। आसपास के गाँवों में ग़रीबों का जीना भी गिरवी पड़ा हुआ था और मरना भी। मैं साहूकारी का काम न कर पाया, लेकिन पास-पड़ोस के गाँवों में काम का अवसर देखते हुए मैं ने विलासपुर से उन्नीस मील दूर अक्लतरे में साबुन का कारख़ाना खोल दिया।

"जो गाँव रेलवे-लाइन के पास पड़ते हैं, वहाँ के आदिवासी चाहे अपनी जंगल की आज़ादी को खो बैठे हैं, फिर भी नाच-गाने की आज़ादी उन की हड्डियों में रमी हुई है। होली के दिनों मे मैं ने किसी से पूछा कि अगर मैं लोगों के नाच-गानों की महफिल में चला जाऊँ तो किसी को एतराज़ तो नहीं? मालूम हुआ कि किसी को एतराज़ नहीं था। मैं एक साँझ को गाँव के उस 'इकट्ठ' में चला गया जहाँ मृदग और बाँसुरी बज रही थी, स्त्रियाँ और पुरुष कांसे की कटोरियों में ताड़ी पी रहे थे और गा रहे थे। लाल-पीले रंग में डूबी हुई औरतों ने पूरे हाथों में काँच की चूड़ियाँ पहनी हुई थीं, पैरों में चाँदी की नाग-मोरियाँ और नाक में मोटी-मोटी तीलियाँ। गेंदे के फूल उन के बालों में बँधे हुए थे। उन का गीत आज तक याद है :

'मोर अँगना में आयो रसिया,
का करूँ दाई एक न माने !

चले न मोरे बसिया
मोर अँगना में आयो रसिया !'

"यह जवान लड़की ग़जब की खूबसूरत थी। उस ने सारे 'इकट्ठ' की फेरी ली और बाँहें लटकाकर एक लम्बा-सा गीत गाया। उस गीत की एक ही पंक्ति मुझे याद रह गयी है, 'लटपट पाग से लपेट मन ले गयो।'—हर बार जब वह यह पंक्ति बोलती थी, सारे 'इकट्ठ' की स्त्रियाँ उस के साथ मिलकर इस पंक्ति को गुंजा देती थीं। उस ने बड़ा रंग बाँधा। पर मृदंगवाला उस से भी अधिक मस्ती में था, उस ने बड़ी लटक से एक गीत गाया :

'तोला देखे रहियो री,
लटिया की छोरी मोरे जिया में भा गयी।
नागन-सी छोरी मोरे हिया में छा गयी।
जहिर चड़् ह गयो री,
तोला देखे रहियो री।'

"लोग यह गीत गा रहे थे और साथ में गुटक रहे थे। मैं ने देखा कि मृदंगवाला भी और कई दूसरे भी, बार-बार जिस ओर देख रहे थे, वहाँ पन्द्रह-सोलह साल की एक वही लड़की खड़ी थी जिस ने लड़कों की तरह कमर में एक अंगोछा बाँधा हुआ था और गले में एक चारख़ानी कुरती पहनी हुई थी। उस ओर औरतें अपने बाल खूब लम्बे रखती हैं। पर उस लड़की ने लड़कों की तरह अपने बाल काटे हुए थे और गानेवाली औरतों से परे खड़ी बीड़ी पी रही थी।

"मैं ने पिछले दिनों गाँव की बोली सीख ली थी। मेरे पास साबुन की फेरी लगानेवाला चेटू काका खड़ा था, मैं ने उस से पूछा कि यह लड़की कौन थी। चेटू काका ने बड़ी ताक़ीद से मुझे बताया, 'अरे, ए छोकरी चारू ! ए बड़ी चंट ए। ऐकर नजीक झन जावे, थोड़ कुन कोनो एला छेड़ी से, कि जूती एकर हाथ में आयी से। ए जौन ननकी मृदंग बजावत ए, एकर मौत आये, ऐसना मौला दीखत ए, ए चारू ला प्यार करत ए।' और चेटू काका ने मुझे यह भी बताया कि यह चारू लटियापारे में रहती थी इसी लिए यह मृदंगवाला ननकी अपने गीत में कह रहा था कि लटिया की छोरी मोरे जिया में भा गयी।

"मैं कितनी ही देर चारू की ओर देखता रहा। मैं हैरान था कि चारू ने जान-बूझकर अपना रूप क्यों बिगाड़ा हुआ था। वह अगर दूसरी लड़कियों की तरह रंगीली धोती बाँधती, बाँहों में काँच के गजरे पहनती, आँखों में काजल डालती और लम्बे बालों का जूड़ा बनाकर उस में फूल टाँकती, तो वह बहुत सुन्दर लग सकती थी···पर ग्वालों जैसी वह लड़की उस समय बिलकुल लड़की नहीं लग रही थी। सिर्फ़ उस के मुख पर उस की आँखें ऐसी थीं जो उस के रूप की चुग़ली खा रही थीं। नहीं तो उस की ओर दूसरी बार देखने का भी

ख़याल न आता ।

"दूसरे दिन चेटू काका ने मुझे फिर बताया कि वह लटियापारे की छोकरी बड़ी ख़तरनाक थी । आठ आने महीना पर एक खपरैल किराये पर लेकर अकेली रहती थी । छुटपन में माँ डूबकर मर गयी थी । बाप पागल हो गया था और अब वह शेरनी की तरह किसी से भी नहीं डरती थी । बीड़ियाँ फूकती थी, जुआ खेलती थी और ठेके पर जाकर पउवा शराब एक ही बार चढ़ा लेती थी । कभी वह ओखली में लोगों का धान कूटकर चार-पाँच आने रोज कमा लेती थी और कभी वह स्टेशन पर जाकर एक-एक आने में लोगों का सामान ढो देती थी । और चेटू काका ने मुझे चेताया कि कभी राह जाते मैं उसे बुला न लूं । वह किसी की इज़्ज़त नहीं देखती थी और दूसरे का हाथ झटककर पाँव में से जूती निकाल लेती थी ।

"यह सब कुछ बड़ा अजीब था । मैं अकसर बैठा-बैठा चारू के बारे में सोचता रहता, कइयों से पूछताछ भी करता । सभी चेटू काका की बात दोहराते थे । वैसे होली के दिनों से, जिस दिन ननकी ने वह गीत गाया था, चारू का नाम सारे गाँव में 'लटिया की छोकरी' पड़ गया था ।

"एक दिन चारू बीड़ी पीती हुई मेरे कारख़ाने में चली आयी और आते ही मुझ से कहने लगी, 'ठाकुर ! मोला नौकर रखवे का ?'

" 'का काम जानत अस ?'

" 'जौन काम तै देबे ।'

" 'कारख़ाना में तो कतको काम ऐ, पानी भरवे ? साबुन कटाई करवे ? पेटी उठावे ?'

" 'सब काम करी हो ।'

" 'छह आना रोज़ी मीली ।'

" 'मोला मंजूर ए ।'

"चारू मेरे कारख़ाने में छ: आने रोज़ पर मजदूरी करने लगी । चारू को आये अभी एक महीना भी नहीं हुआ था कि ननकी भी मेरे कारख़ाने में नौकरी करने आ गया । मुझे ननकी के इश्क़ का पता था, इसलिए मैं ने उसे बारह आने रोज पर अपने कारख़ाने में रख लिया । उन दिनों औरत को छह आने रोज़ और मर्द को बारह आने रोज़ मिलते थे ।

"ननकी का इश्क़ सारे गाँव में मशहूर था । मैं ने कुछ दिनों बाद ननकी को बुलाकर कहा, 'ननकी ! तोर प्यार के बात तो खूब फैल गये, अब तै चारू से ब्याह कर ले ।'

" 'ए साली तो मोर हाथ ही नहीं आवे ।' ननकी ने मुंह लटकाकर मुझे जवाब दिया ।

"'तो फिर तैं एकर ख़याल ना छोड़ दे।' मैं ने ननकी के मन को देखने के लिए फिर कहा।

"'का करूँ, ठाकुर ! एकर प्यार के ज़हर तो मोर रूयाँ-रूयाँ में समा गये।' ननकी ने जिस समय यह उत्तर दिया, ननकी का मुख देखते ही बनता था।

"'तौर गाँव में तो एकर ले बड़ीया-बड़ीया पड़ें ए।' मैं ने ननकी से हँसकर कहा।

"पर ननकी का इश्क़ पक्का था। बड़ी गम्भीरता से कहने लगा, 'पता नहीं ठाकुर ! ए साली लटिया की छोकरी मोर ऊपर का जादू कर देई से।'

'कई महीने बीत गये। ननकी उसी तरह बड़े सब्र से इश्क़ करता रहा और चारू उसी तरह ननकी से भी और गाँव के और मर्दों से भी तनी रही। एक दिन ननकी घबराया हुआ मेरे पास आया और कहने लगा, 'ठाकुर ! एह जौन नया ठोनेदार आये से, ए मौल ठीक नहीं दीखत ए। एसेना लागत ए कि कोई दिन ए कोई गड़बड़ जरूर करे।'

"'क्यों, ननकी, क्या बात है ?' मैं ने उस से पूछा।

"'कल साँझ के चारू जब तालाओं ते लौट के आत रही से, तो ठोनेदार उकर हाथ ला धर लई से।' ननकी ने मुझे बताया।

"'फिर ?' मैं ने कुछ चिन्तित होकर पूछा।

"'फिर का ? चारू गुस्सा गयी। अऊ, ख़ूब, गाली दयी से, अऊ तान के एक थप्पड़ मारी से।'

"ननकी ने जब मुझे यह बताया, चिन्ता तो मुझे भी हुई, पर मैं ने ननकी को ढारस देकर भेज दिया। बात यह थी कि गाँव में शराबबन्दी हो रही थी। पहले लोग आम पीते थे, अब चोरी से पीनी पड़ती थी। लोग पुलिसवालों पर खीझे हुए थे और पुलिस लोगों पर। इन दिनों बात-बात पर पुलिसवालों और लोगों में तन जाती थी। मैं ने कभी चारू से पूछा नहीं था, पर मैं ने गाँव में से अफ़वाह सुनी थी कि चारू हफ़्ते में एक-आध बार बिलासपुर से शराब की बोतल छिपाकर ले आती थी और यहाँ आकर बेच देती थी। बिलासपुर में शराब-बन्दी नहीं थी। मेरा डर सच्चा निकला। एक दिन संध्या समय गाँव का नया इन्स्पेक्टर ओमप्रकाश दो सिपाहियों को लेकर मेरी ओर आया क्योंकि उसे लटियापारे जाकर चारू की खपरैल की तलाशी लेनी थी और मुझे साथ ले जाकर सरकारी गवाह बनाना था।

"मुझे इन्स्पेक्टर के साथ जाना पड़ा। चारू को जलती हुई आँखों से देखता हुआ वह सिपाहियों से खपरैल का चप्पा-चप्पा ढुंढ़वाने लगा। महुए का एक पउवा मिल गया। पर बाक़ी परछती पर सिर्फ़ ख़ाली बोतलें पड़ी हुई थीं। पउए को एक झरोखे में रखकर इन्स्पेक्टर और सिपाहियों ने आँगन में पड़े लक-

ड़ियों और उपलों के ढेर में ढूंढ़ना शुरू किया।

"चारू से बात करने का मुझे मौक़ा मिल गया। उस ने मेरे कहने पर एक खाली पउए में पानी भरके शराब के पउए से बदल दिया और बाहर उपलों के ढेर के पास जा खड़ी हुई। उपलों के ढेर से कुछ न निकला। इन्स्पेक्टर ने उसी एक पउए को सँभाल लिया। रिपोर्ट लिखकर उस ने मेरे दस्तख़त करवाये और चारू का अंगूठा लगवाया और चारू को दूसरे दिन सवेरे नौ बजे थाने में आने के लिए कह गया।

"जाते-जाते उसने चारू को बड़ी तनी हुई आँखों से देखा और कहने लगा, 'लटिया की छोकरी! अब तोला मालूम पड़ी कि आटा, दाल के का भाओ होते, पुलिस के चक्कर में अबी नहीं पड़े अस ना।'

"चारू की हँसी मुझे कभी नहीं भूलेगी। वह ठहाका मारकर हँसी और कहने लगी, जा, जा, तोर जैसना कतकों देख डारे आ।'

"सवेरे थाने में मुझे भी जाना था। जाकर देखा कि गाँव के कुछ और मुखिया भी इन्स्पेक्टर ने गवाहियाँ देने के लिए बुलाये हुए थे। चारू को आने में ज़रा देर हो गयी थी। पर वह जब आयी, बड़ी बेपरवाही से मेज़ की ओर खड़ी होकर बीड़ी पीने लगी। मेज़ पर इन्स्पेक्टर ने अपने काग़ज़ों आदि के साथ शराब का पउआ रखा हुआ था। गाँव के मुखियों से काग़ज़ पर दस्तख़त करवाते हुए,. उस ने बोतल दिखायी। बोतल को हाथ में लेकर जब एक आदमी न हिलाया तो शराब की झाग न उठी। दूसरे ने हैरान होकर ढक्कन उतारा और उसे सूँघा। शराब की बू भी नहीं थी। एक आदमी को एक घूंट पिलाया गया तो उस ने बताया कि यह तो निरा पानी है। इन्स्पेक्टर बड़ा हैरान हुआ। ऊँची-ऊँची गालियाँ सिपाहियों को देने लगा कि उन्होंने रात को चारू से रिश्वत लेकर शराब को पानी में बदल दिया था। इन्स्पेक्टर ने सैकड़ों गालियाँ दीं। पर अब क्या हो सकता था! बात टल गयी और चारू उसी तरह बीड़ी पीती हुई थाने से सुर्ख़रू होकर चली गयी।

"एक-दो दिनों के बाद मैं ने चारू को अपने पास बुलाया और कहा, 'देख चारू! तैं अकेले रहत अस ना? ऐकरे खातर तोर ऊपर ए सब मुसीबत आत है ए।'

" 'मैं जानत हों ठाकुर!' चारू ने बड़ी हलीमी से जवाब दिया।

"मैं ने फिर उस से कहा, मोर समझ में ननकी बहुत अच्छा छोकरा ए, अऊ तोर सिऊ प्यार करत है ए।'

" 'मैं जानत हों।' उस ने फिर वही जवाब दिया।

"तैं उकर सेथों ब्याह काहे नहीं कर लेत अस?" मैं ने उससे सीधा सवाल किया।

" 'करिओं, पर थोड़ा ठहरि के।' चारू ने बड़ी तसल्ली से मुझे बताया।

" 'कतब दिन ठहिर के बे ?' मैं ने उस से जब पूछा तो चारू कितनी देर कुछ न कह सकी, फिर धीरे से यह कहकर कि 'को जाने' वह बीड़ी पीती मेरे कमरे में से चली गयी।

"चारू के मन की गहराई कोई न नाप पाया। दिन उसी तरह गुमसुम बीतने लगे। सिर्फ़ मेरे कहने पर चारू ने इतना कर लिया कि उस ने अंगोछा बाँधने की जगह औरतों की तरह रंगदार धोती बाँधनी शुरू कर दी और औरतों की तरह बाल भी लम्बे करने लगी।

" 'एक दिन गाँव में बड़ा शोर मचा कि गाँव का पुराना मालगुज़ार कितने ही दिनों के बाद गाँव लौटा था और रात अपने खेतों की झोंपड़ी में सोया पड़ा था कि झोंपड़ी को आग लग गयी। मालगुज़ार बीच में ही जल मरा था।' चेटू काका ने मुझे विस्तार से बताया : " 'अरे, ओ मानसिंह, मालगुज़ार रही से ना ! जौन गाँजा के चिलम में अफ़ीम डाल के नशा करत रही से, आज रात के उकर झोंपड़ी में आग लग गये, उई में बिचारा जल मरी से।' लोग कहते थे कि सठियाये हुए बूढ़े ने शायद रात को चिलम में अफीम की डली अधिक डाल ली थी जिस के नशे में चिलम उस के हाथ से छूट गिरी थी और उस की खाट को आग लगती-लगती पूरी खपरैल में लग गयी थी। फिर धीरे-धीरे यह ख़बर भी चल निकली कि रात को मालगुज़ार ने अपने किसी आदमी के हाथ चारू को अपनी झोंपड़ी में बुलवाया था और उस पर ज़बरदस्ती हाथ डालना चाहा था। यह सारे गाँव को मालूम था कि अगर कोई चारू को हाथ डालना चाहे तो उस का क्या हशर होता था। लोग कहते थे कि चारू ने ज़रूर उसे अपनी जूती से पीटा होगा और झोंपड़ी से भाग गयी होगी। बूढ़े को उसी की आह लग गयी थी, इसलिए वह रात को दैवी आग से जल मरा था।

"चारू से पूछने की किसी को हिम्मत नहीं थी। मैं ने भी कुछ न पूछा।

"तीसरे दिन पूर्णिमा थी। पूर्णिमा के दिन ननकी दौड़ता-दौड़ता मेरे पास आया, उस की साँस फूली हुई थी। कहने लगा, 'ठाकुर साहिब ! आज मोर मन खूब खुश ए ! को जाने लटिया की छोकरी के मन में का आयी से कि मोना बुला के आपन मुँह ले मोर संग ब्याह करे बर कही से।'

" 'सच ?' मैं ननकी की तरह ख़ुश भी हुआ और हैरान भी।

" 'सच ठाकुर साहिब ! मैं तो तुमन ला न्योता दे बर आये हों। आज रात के चारू तुमन ला आपन घर में खाये-पिये बर बुलायी से।' ननकी ने मुझे कहा और मुझ से दिन भर की छुट्टी लेकर चला गया।

"मैं ने उपहार के रूप में चारू के लिए एक रंगीली धोती खरीदी और रात को उस के घर चला गया। चारू की खपरैल में ढोलकी बज रही थी। खपरैल

के दरवाजे में बहुत-से फूल टाँके गये थे और बरामदे में चावल पक रहे थे।

"रायोतों की जाति में और दूसरी छोटी जातियों में विवाह की कोई रस्म नहीं होती। लड़का लड़की के हाथों में काँच की चूड़ियाँ पहना देता है, बस विवाह हो जाता है। ननकी की माँ, रायोतों की तीन-चार और स्त्रियाँ और गाँव के दो मुखिया इस दावत में आये हुए थे। बस और कोई नहीं था। रोहू मछली पकी हुई थी, लुचई चावल बने हुए थे और चारू सब को महुए की शराब पिला रही थी। वैसे चारू आज कोई दूसरी ही चारू दिखायी दे रही थी। उस ने पीले रंग की कुरती पहनी हुई थी, लाल रंग की धोती बाँधी थी, हाथों में काँच की चूड़ियाँ और शीशे के गजरे पहने हुए थे। माथे पर बिन्दु लगाया था और बालों में मोगरे के फूल गुंथे हुए थे।

"रायोतों की स्त्रियाँ और गाँव के मुखिया जब खा-पीकर विदा हो गये तो मैं ने शराब की बोतलों की ओर देखकर चारू से पूछा, 'चारू, तोला डर नहीं लगे, जो ऊपर ले थानेदार आ जाये तो ?'

"चारू के मुख पर पहले रूप ही चढ़ा हुआ था, अब एक और चमक आ गयी और वह बिजली की तरह चमककर बोली, 'अब मोला थानेदार कबी तंग करीमे तो मैं उला उहीं जगा भेजूँ जहाँ मालगुज़ार गये से।'

"मैं भौचक्का रह गया। मेरी तरह ननकी का मुँह भी खुले का खुला रह गया। ननकी बोल न पाया, मैं ने ही चारू से पूछा, 'सच बता, चारू ! मालगुज़ार ला तहीं मारे अस ?'

" 'मैं काबर मारीओं, उकर पाप ही उला मारे ई।' चारू तमककर बोली।

" 'ओ तोला छेडी रही से ?' इस बार ननकी ने चारू से पूछा।

"चारू ने दाँत पीसकर जवाब दिया, 'ओ बढ़ऊ के का हिम्मत रही से जैस मोला छेड़तीस।'

" 'फिर ?' मैं ने और ननकी ने हैरान होकर पूछा।

"ओ मोर दाई ला मरवाये रही से।' चारू के मुख पर रोष का एक नया रूप चढ़ गया।

" 'तोर दाई ला ?' मेरे मुँह से निकला।

"चारू ने हाथ में पकड़ी हुई शराब की कटोरी एक ओर रख दी और अँगड़ाई लेकर कहने लगी, 'मोर दाई गाऊँ भर में सब से खूबसूरत रही से। मालगुज़ार के मन खराब हो गयी से। मो टाई एला खूब डाँटो से। आउ एक दिन जब मोर दाई कुआँ ले पानी भरत रहा से, तो ए आपन कोनों आदमी के हाथ उला कूआँ में धकेल देई से। मोर दाई मर गये। एइ दुख मा मोर दादा पागल हो गये। मैं आपन मन में कसम खाये रहियों के अपन दाई के बदला चुका के छोड़ियों।'

" 'चारू ! इहि खातर तैं ब्याह नहीं करत रहे अस ?' ननकी ने चारू की बाँह अपने हाथ में पकड़ ली और उसे गर्व से पूछा ।

" 'हाँ, ननकी ! मैं आपन मन में प्रतग्या करे रहओ कि मैं आपन हाथ में काँच की एक चूड़ी तक ना पहनूँ...'

"ननकी ने चारू को गले से लगा लिया। उस के मुँह से बार-बार यही निकल रहा था, 'ए मोर चारू ! ओ मोर लटिया की छोकरी ! तैं अतका दुख अकेले बोहे-बोहे घूमत रहे अस, मोला पहिले काबर नहीं बताये अस। मैं तोर सब के सब दुख ला आपन ऊपर ले लेत।'

"चारू ने ननकी को बड़ा दुलराया और कहने लगी, 'ओ ननकी ! मैं तोल शुरू ले प्यार करत रहियों। मैं तोला कोई खतरा में कैसे डालत ? अऊ फिर जब तक मैं आपन हाथ ले बदला नहीं लेते, मोर दाई के आतमा कैसे चैन पातीस !'

"और पारो..." कहानी सुनाते हुए देसराज की आवाज़ भर्रा गयी थी, वह पारो को गले से लगाकर कहने लगा :

"चारू के रूप में मैं ने औरत के मन का जो रूप देखा है, उस के आगे मेरा सिर झुक जाता है। मैं ने इसी लिए चारू की तसवीर तुम्हें मुंह-दिखायी में दी है।"

देसराज के सीने से सिर लगाकर पारो ने एक बार फिर चारू की तसवीर की ओर देखा और उसे अपनी आँखों में सँजोती हुई सोचने लगी कि वह चारू के रूप को अपने रोम-रोम में बसा लेगी और वह देसराज के मन में उसी तरह अंकित हो जायेगी...जिस तरह उस के मन में चारू के मन का रूप अंकित है।

गाँजे की कली

"अघनिया ! ओ अघनिया !"

"जा मैं नहीं गुठियाऊँ।"

"काबर नहीं गुठियाबे ?"

"तैं मोर नाम अघनिया काबर रखे अस ?"

"मैं तोला कै बार बता चुके हों के तैं 'अघन' में पैदा होए रहे अस, एकरे सेती तोर दादा तोर नाम अघनिया रख दे रही से, ए मा मोर का कसूर ए ?"

"दाई, मोला तो ए नाम अच्छा नहीं लगे। अच्छा बता तो, भला जो मैं कहीं जेसठ में पैदा हो जाती तो मोर दादा मोर नाम जेसठी रख दैतीस ?"

अघनिया की माँ मन में गुटक उठी। अघनिया उस की बड़की बेटी थी। और वह भी ढलती उमर में हुई थी। वह कई साल पीपलों तले नहाती रही थी। कोई टोना उस ने छोड़ा नहीं था। एक बार किसी अघोरी के कहने पर उस ने अपने आप को शिवलिंग को भी समर्पित किया था। और फिर कहीं जाकर यह बेटी उस की कोख में पड़ी थी। एक तो बेटी लाड़ली और वह भी झलमला गाँव के मालगुज़ार की बेटी। और वह भी क़िस्मतवाली। क्योंकि उस के बाद उस की माँ ने एक के बाद एक तीन बेटे जन्मे थे। माँ ने लाड़ से पूछा :

"तोर का नाम रखे के मन ए ? जौन नाम तोर मन ला अच्छा लगै तैं ओई रख लै। सगुणा नाम तोला अच्छा लागत ए ? सगुणा···शबरी···पोखरी··· मंगली···पर एमन सब नाम तो नीच जातीवाला मन के नाम एँ। हमर जाति में तो पुस्कर, राधा, सीता···ऐसना नाम अच्छा लगे।"

"ना दाई ना ! मोर तो गुलबत्ती नाम रखे के मन एँ। एई नाम मोला खूब अच्छा लागत ए।"

"तो जा नारियल ले के मन्दिर में चढ़ा आ, और पुजारी जी ला कहो आज ले मैं आपन नाम गुलबत्ती रख लै हों।"

अघनिया उर्फ़ गुलबत्ती खुशी से मचल उठी और दोनों बाँहें माँ के गले में

डालकर कहने लगी :

"देख दाई, तैं आज मोर एक और बात ला मान ले, बता तो मानबे ना ?"

"लै लँ, मोर गला ला तो छोड़ ! तैं जौन बात कबे ओई ला मैं मान लूं।"

"ओ जो दादा टीपा में सौंफिया दारू रखे एना, ओमा के थोडकुन मोला दे दे, आज मोर पिए के अडबड मन ए।"

"चल हट ! देख तो एकर बात ला, काल के छोकरी अऊ दारू पिए बर माँगन ए, कौनो सुनी तो का कही ?"

"लै अब मैं बारह साल के तो हों गये ओं।"

"बारह साल के हो गये अस तो कौन मार तैं जवान हो गये अस, दारू पिए बर···दारू पिए वर करत ए, जाना जा के खेत मन ला, देख सब तो खेता होत ए···ओती दादा दारू में, जूआ में उड़ात ए, ओती नौकर मन सब कुछ खाँवजात ए।"

"तै फिकर झन कर, मैं सब देख लूं, अब तो मैं बड़े हो गये ऊँ।"

"बड़े हो गये अस तो तैवरैं सेती तो तोर दादा तोला घर से निकालत।"

"मोर दादा मोना घर से निकाली ?"

"हाँ, अब तो तोर ब्याह के सब बात पक्का हो गये हुए।"

अघनिया से अभी अभी बनी गुलबत्तो के मन में एक घबराहट-सी उठी। वह नारियल की बात भी भूल गयी और दारू की भी। कमर में बंधी हुई चाँदी की करधनी जैसे उस के गले में लिपट गयी। और वह खुलकर सांस लेने के लिए एक ही झटके से करधनी उतारकर बाहर कँवल फूलों के तालाब की ओर चल दी।

गुलबत्ती को लड़कियों के साथ मिलकर आंखमिचौनी खेलना बिलकुल पसन्द नहीं था। वह जब गांव के जवान लड़कों को 'डुडुया ! कबड्डी !' खेलते देखती थी तो वह भी सांस रोककर 'डो-डो' करती हुई उन की जवानी के बराबर उतरना चाहती थी। पर गुलबत्ती हमेशा अपनी माँ के कहने में रहती थी, उस की माँ ने उसे लड़कों के साथ खेलने से मना किया हुआ था, इसलिए गुलबत्ती ने अपने मन को एक लगाम डाली हुई थी—आज जब वह तालाब की ओर जा रही थी, मन्दिर के पीछे कितने ही कुर्मी लड़के डुडुया खेल रहे थे—गुलबत्तो को लगा कि आज उस के मन की लगाम टूट जायेगी। 'यों तो जवानी सब की खूबसूरत होती है,' वह सोचने लगी, 'पर चमरों (चमारों), राउतों (माशकियों) और पनकों (जुलाहों) के लड़कों से कुर्मी लड़के बड़े तीखे-तने होते हैं,' गुलबत्ती सोचने लगी, 'शायद इसलिए कि वे मछलियों को पकड़ते हुए पानी में मछलियों की तरह तैरना भी जानते हैं।'

गुलबत्ती कुछ देर तक जवान कुर्मी लड़कों के तेल से चुपड़े हुए बदन देखती रही। उन की बांहों में मछलियाँ फड़क रही थीं। और गुलबत्ती को लगा

कि अगर वह भी डो-डो करती हुई उन के पास खेलने चली आये तो वह इन लड़कों की बाँहों में से मछलियाँ पकड़ सकती थी।

शिवाले का घण्टा बजा और गुलबत्ती ने देखा कि उस की सहेली सोनिया मन्दिर से प्रसाद लेकर बाहर निकल रही थी। गुलबत्ती को नारियल की बात याद हो आयी और कुर्मी लड़कों की बाँहों में से मछलियाँ पकड़ने की बात भूल गयी।

गुलबत्ती ने सहेली को साथ लेकर मन्दिर मे नारियल चढ़ाया और शिव की मूर्ति के सामने खड़ी होकर अघनिया से पक्की तरह गुलबत्ती बन गयी।

गुलबत्ती बनकर वह ख़ुश थी पर उतनी ख़ुश नहीं जितनी ख़ुश उसे होना चाहिए था। आज माँ ने उसे जो विवाह की बात बतायी थी, वह बात उस के दिल में डूब-उतरा रही थी। वह अपनी सहेली को साथ लेकर जब कँवल फूलों के तालाब की ओर गयी तो फूलों की नीली और गुलाबी आभा उस के कलेजे में घिर उठी। गुलबत्ती की सहेली गुलबत्ती से दो साल बड़ी थी। वह कभी-कभी एक गीत गाया करती थी जो गुलबत्ती की समझ में कभी नहीं आया था। आज गुलबत्ती ने उसे वही गीत गाने के लिए कहा :

"घर ला फोड़ के बनाये हों कुरिया,
तोर मया के मारे जाओं नहीं दुरिया।"

सहेली ने आज जब यह गीत गाया तो गुलबत्ती को लगा कि आज यह गीत उस की समझ में आ गया था। उसे लगा कि कँवल फूलों की नीली और गुलाबी आभा थी जिस की माया उस के मन को लग गयी थी। वह इस माया की मारी कहीं दूर नहीं जा सकती थी और शायद इसी लिए विवाह की बात से उस का मन घबरा रहा था।

गुलबत्ती का बाप इस झलमला गाँव का मालगुज़ार था—कचकौलप्रसाद पुष्करणा। गाँव में कोई सौ घर होंगे। ये सभी कुर्मियों, पनकों और नीची जातिवालों के घर थे। पुष्करणों के केवल चार घर थे और उन में से भी कच-कौशलप्रसाद का एक घर था जो पक्का बना हुआ था, बाक़ी सभी खपरैलें थीं।

कचकौलप्रसाद को ढलती आयु में औलाद हुई थी। अब चाहे इस बड़की बेटी के अलावा उस के घर तीन बेटे थे, पर तीनों बेटे अभी बहुत छोटे थे। एक तो अभी पालने में था। कचकौलप्रसाद को कामकाज सँभालने के लिए सहारा चाहिए था, इसलिए वह चाहता था कि अपनी बेटी को किसी समझदार आदमी से ब्याह कर अपना सहायक बना ले।

झलमला गाँव से कुछ कोस के फ़ासले पर चण्डीपारा गाँव था। इस चण्डी-पारे का मालगुज़ार रंगीलाल कचकौलप्रसाद के मिलने-जुलनेवालों में से था।

कई बार वे नशा-पानी एक साथ करते थे। रंगीलाल की औरत जब मर गयी तो कचकौलप्रसाद ने इस मौक़े को जाने नहीं दिया। रंगीलाल कचकौलप्रसाद जैसा बड़ा मालगुज़ार नहीं था, पर कचकौलप्रसाद जानता था कि वह कारोबार में उम्र से भी बढ़कर था। बीस साल आयु का अन्तर कचकौलप्रसाद की दृष्टि में कोई बड़ा अन्तर नहीं था। उस ने गुलबत्ती की सगाई रंगीलाल से कर दी।

अकस्मात् गुलबत्ती ने देखा कि एक दिन उस के पैरों को महावर लगने लगा। घर के आँगन में शामियाना लगा और गाँव की औरतें गुलबत्ती के इर्द-गिर्द घेरा डालकर गाने लगी :

"ऐ बेरा कौन जगी
जगी तो दुलहन छोरी
ऐ बेरा कौन जगी।
दुलहन जगी तो काहे जगी
गोरी नहाये तो काबर नहाये
गोरी घर दूल्हा के जाये
ऐ बेरा कौन जगी!"

गुलबत्ती की भाँवरें पड़ीं। महीने भर में उस का गौना हुआ, उस की पठौनी। पठौनी की रात गुलबत्ती ने देखा कि एक जो अधेड़ उमर का काला कंकाल-सा आदमी बैठक में बैठकर दोनों तलियों मे गांजे की कलियाँ मसलकर गुड़गुड़ी पी रहा था वह उस का ख़ाविन्द रंगीलाल था। उस का दूल्हा। जिस के लिए वह मल मल न्हायी थी, और जिस के लिए गाँव की औरतों ने गीत गाये थे, 'गोरी नहाये तो काबर नहाये, गोरी घर दूल्हा के जाये।'

"रौतायन! ओ रौतायन! चूल्हा ले थोउकुन आगि तो ला!" गुड़गुड़ी पीते हुए रंगीलाल ने महरी को जब एक बार आवाज़ दी तो गुलबत्ती को जाने क्यों यह ख़याल आया कि वह गांजे की एक कली थी, नशे की एक कली, जिसे इस रंगीलाल ने सारी उमर अपनी तलियों में मसलकर अपनी गुड़गुड़ी की आग में फूंकना था। गुलबत्ती का मन डूबने लगा। वह किसी के मन की आग में जलना जरूर चाहती थी, किसी का नशा भी बनना चाहती थी पर जाने क्यों उस का कलेजा छीज रहा था कि वह इस रंगीलाल की गुड़गुड़ी में जलने के लिए नहीं बनी थी।

उस ने एक-एक कर कई जवान कुर्मी युवकों की कल्पना की। पर किसी भी देखे हुए और परिचित चेहरे का उसे ध्यान न आया। शायद इसलिए कि उस की माँ ने उसे आरम्भ से ही चेता दिया था कि कुर्मी युवक बहुत नीची जाति के थे, और गुलबत्ती हमेशा अपनी माँ के कहने में रही थी। गुलबत्ती को न कोई कुर्मी युवक याद आया और न कोई और। पर उस का मन उस से पूछ रहा

था कि यह रंगीलाल किस जाति से था। पर फिर उस का मन उसे खुद ही कह रहा था कि यह रंगीलाल चाहे कितनी भी ऊँची जाति का हो, उस की अपनी जाति से मेल नहीं खाता।

समाज की बनायी हुई जाति मेल खा गयी, पर गुलबत्ती के सपनों से सपनों की जाति न मिली, और गुलबत्ती रंगीलाल की गुड़गुड़ी में गाँजे की कली की तरह सुलगने लगी। सुलगती को एक-एक कर पाँच वर्ष हो गये।

हर साल की तरह इस साल भी धान के खेत लहलहा उठे। रौताही का त्यौहार आया। मुजारों के गीतों से धरती गुनगुना उठी—और हर साल की तरह इस साल भी गुलबत्ती सूनी आँखों से यह सब कुछ देखती रही। फिर फ़सलों की कटाई हुई। वर्षा ऋतु आ गयी और मोजली का त्यौहार आ गया। औरतों ने थालियों में जौ बोये और हरियायी थालियों में दिये जलाकर मन्दिरों में चढ़ा आयीं।

गुलबत्ती की महरी सोगिया बात-बात पर चहक उठती थी। वह ज़बरदस्ती गुलबत्ती को रंगीला 'लुगड़ा' पहनाती, उस की कुरती पर कौड़िया टाँक देती और आती-जाती उस के मन को कचोट जाती। इस बार भी माँडली के मेले पर जाने का गुलबत्ती का मन नहीं था, पर सोगिया ने उस का प्यार से सिंगार किया और हठ ठानकर उसे मेले में ले गयी।

मेले में तरह-तरह की चीज़ें थीं। कलकत्ता अधिक दूर नहीं पड़ता था। कई बनजारे शहरों की सौग़ातें लाये थे। गुलबत्ती साबुनों की खुशबूदार टिकियों को सूँघती रही; तरह-तरह के मोतियों की मालाएँ देखती रही। दो मालाएँ उस ने ख़रीदीं भी। पर मेले में घूमते एक फेरीवाले ने उस के मन को विचलित कर दिया, जिस से खीझकर उस ने सोगिया से कितनी बार कहा कि वह मेला देखते-देखते थक गयी है इसलिए अब वह घर लौटना चाहती है।

फेरीवाला छरहरे बदन का बाँका जवान था। पर वह इतना गोरे रंग का था कि उस का परदेशी होना गुलबत्ती को खल रहा था। उस की आँखें शोख भी लगती थीं और शर्मीली भी। उस ने कितनी ही बार गुलबत्ती के मुख की ओर देखते हुए होका लगाया, "कुरती जम्पर वर, कपड़ा ले लो, धोती ले लो, लुगड़ा ले लो।" पर जब गुलबत्ती नज़र भरकर उस की ओर देखती थी तो वह अपनी आँखें झुका लेता था। गुलबत्ती चाहती तो कपड़ों की गठरी खुलवाकर जितनी देर मन में आता देखती रहती, पर वह गठरी खुलवाकर कपड़े देखने की जगह उस से आँखें चुराने लगी। आँखें चुराते हुए उस ने कितनी ही बार रास्ता बदला। पर जाने यह क़िस्मत का कौन-सा छल था, कि गुलबत्ती का बार-बार उस फेरीवाले से सामना हो जाता। आख़िर में वह घबराकर मेले से लौट पड़ी। इस बार जब फेरीवाला लौटती हुई गुलबत्ती के सामने पड़ा तो

उस के मुँह से अनायास निकल पड़ा .

"ठाकुर कौन गाँव के अस ?"

"नरिएरा के ।" फेरीवाले ने चौंककर जवाब दिया।

"कौन देश से आये अस ?" गुलबत्ती फिर पूछ बैठी ।

"पंजाब ले ।"

"कतन दूर ए इयाँ ले ?' गुलबत्ती के मुँह से यों आहिस्ता से निकला जैसे वह मन ही मन में ये दूरी नाप रही हो ।

"खूब दूर पड़त ए ।"

'खूब दूर पड़त ए ?' गुलबत्ती होंठों में इन गिनती के अक्षरों को दोहराती मेले में से लौट आयी ।

घर लौटकर आयी गुलबत्ती ने जब रसोई की, और फिर बाहर आँगन में दीया जलाया तो उस ने बाहर चौंककर देखा कि सामने मन्दिर के बरामदे में वही फेरीवाला चटाई बिछाकर बैठा हुआ था और उपलों की आग जलाकर अपने लिए रोटी सेंक रहा था । गुलबत्ती जल्दी से बाहर का दरवाज़ा भिड़काकर चौके में लौट आयी और अपने उखड़े हुए मन को भुलाने लगी ।

उस दिन तो नहीं पर दूसरे दिन गुलबत्ती की रौतायन ने टकटकी बाँधकर गुलबत्ती की ओर देखा और फिर हँसकर पूछने लगी, "नोनी ! आज तैं कैसे चुपे के चुपे अस ? काल मेला में कुछ गँवा तो नहीं आये अस ?"

"मेला में ?" गुलबत्ती ने हैरान होकर सोगिया की ओर देखा, पर आगे न कुछ महरी ने कहा और न गुलबत्ती ने बात को बढ़ाया ।

महरी जब सन्ध्या समय अपने घर चली गयी तो गुलबत्ती ने बाहर का दरवाज़ा भिड़काते हुए मन्दिर के बरामदे की ओर देखा । वही फेरीवाला आज फिर उपले जलाकर रोटी सेंक रहा था । गुलबत्ती आज फिर जल्दी से चौके में लौट आयी और मन को सँभालने के लिए अपना निचला होंठ दाँतों में काटने लगी ।

बाहर के दरवाज़े पर आहट हुई । महरी जाने क्यों लौट आयी थी फिर और हँसकर गुलबत्ती से पूछ रही थी, "नोनी ! आज कौन चावल राँधे अस ? खूब खुशबू आवत ए ।"

"क्यूँ तोर खाये के मन ए का ? आज मैं तो तिलकस्तूरी चावल राँधे हों ।"

"ए नोनी ! हमर एसन भाग कहाँ, हमन लाइ तो गुरमटिया ही तिलकस्तूरी ए ।"

"चल आज तो खा के देख ले । रामकेलिया के साग औ राहर के दाल के साथ तिलकस्तूरी चावल कैसना मिठात ए ?"

"ए दाई, तैं अतन कुछ राँधे अस, तोर घर के सामने जौन पंजाबी ठाकुर पड़े ए, ओ लो सुक्खा बाटी खात ए।"

"मोला का करना।" गुलबत्ती ने एक लापरवाही से कहा। पर उस का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा।

सोगिया हँस उठी और कहने लगी, "अच्छा तो नोनो थोड़कुन आमा के अथान ही दे दे, मैं ओ बेचारा ला दे आओं।"

"चल कुटनी! तोर आपन खाये के मन होई ना?"

"नहीं नोनी! तोर क़सम।"

सोगिया क़सम खाती रही, गुलबत्ती हँसकर यही कहती रही कि उस का अपना मन था अचार खाने को। वह यों ही पंजाबी ठाकुर का बहाना बना रही थी। पर साथ ही गुलबत्ती ने एक कटोरी में आम का अचार डाल दिया। एक में अरहर की दाल, और एक ढकने में तिलकस्तूरी चावल।

कई दिन बीत चले। फेरीवाले ने मन्दिर के बरामदे में डेरा लगा दिया। दिन भर वह इस गाँव में और आसपास के गाँवों में कपड़ा बेचता। रात को इस मन्दिर के बरामदे में लौट आता। रोज़ उपले जलाता, गेहूँ का आटा मलकर उस के पेड़े बनाता, उन में घी भरता और उन्हें उपलों की आग पर सेंक लेता। रोटी बनाने का यह ढंग पंजाबी नहीं था। और इस पंजाबी यात्री ने मध्यप्रदेश की छत्तीसगढ़ी भाषा की तरह यह ढंग भी सीख लिया था। और इस तरह वह रोटी जिसे मध्यप्रदेश की भाषा में बाटी कहते हैं, सेक लेता। गुलबत्ती की महरी ने रोज़ उसे दाल, सब्ज़ी या अचार देने का नियम बना लिया था।

"कसे सोगिया तोर फेरीवाला ठाकुर के का हाल-चाल ए? आजकल तो तोर-ओकर ख़ूब पटत ए, कभी अथान ले जात अस, कभी साग ले जात अस, ए का रग-ढग ए?"

एक दिन गुलबत्ती ने महरी को चुटकी भरी।

सोगिया ने हँसकर ऐसी नज़रों से गुलबत्ती को देखा कि गुलबत्ती को लगा यह नज़र गहरे तक उस के मन में झाँक गयी थी। गुलबत्ती ने खुद ही सोगिया से मज़ाक़ किया था, खुद ही लजा गयी। सोगिया का साहस बढ़ा। कहने लगी, 'हमन ला तो मालिक के मन ला देखना पड़त ए।"

"मोर मन?" गुलबत्ती ने घबराकर पूछा।

"तैं घबरा काबर गये अस नोनी? तोर मन के बात, मोर मन के बात ए। मोर जी छूट जाई, तो छूट जाई, पर तोर बर तो मोर जान भी हाज़र ए।"

सोगिया ने यह बात जाने कितने सच्चे दिल से की थी। गुलबत्ती का मन स्नेह के सेंक से पिघल गया और दो मोटे-मोटे आँसू उस की आँखों में भर आये।

'तोर दुखा ला मैं जानत ओ नोनी, तोर दादा तोला चण्डीपारा में ब्याह

के भारी गलती करी से।"

गुलबत्ती को महिरम मिल गयी। गुलबत्ती की जिन्दगी में यह पहली रात थी जिस रात उस ने अपने मन में खुलकर सोचा कि—उस की ज़िन्दगी अगर गाँजे की कली थी तो वह इस पंजाबी ठाकुर की तलियों में मसली जाकर उस की उपलों की आग में सुलगना चाहती थी। वह एक तीखा नशा बनकर इस गोरे, चिट्टे और सुकुमार युवक की आँखों में चढ़ जाना चाहती थी, वह··· गुलबत्ती आगे सोचती-सोचती काँप भी गयी और झूम भी गयी।

दूसरे दिन प्रात काल गुलबत्ती ने घर के पीछे बने कँवल फूलों के तालाब पर जाकर बहुत-से फूल तोड़े और थाली में डालकर मन्दिर में ले गयी। मन्दिर के बरामदे में से गुज़रते हुए गुलबत्ती ने पंजाबी ठाकुर को जी भरकर देखा और आज से पाँच साल पहले की एक छोटी-सी बात उसे बहुत याद आयी।— आज से पाँच साल पहले, जिस दिन उस ने अघनिया से अपना नाम गुलबत्ती रखा था और अपनी सहेली सोनिया को लेकर कँवल फूलों के तालाब पर गयी थी, उस दिन जब उस की सहेली ने गाया था, 'बर ला फोड़के बनाये हों कुरिया, तोर मया के मारे जाओं नहीं दुरिया,' और उस दिन उसे लगा कि कँवल फूलों की नीली और गुलाबी आभा की उसे माया लग गयी थी। वह वास्तव में कवल फूलों की माया नहीं थी, वह इस आनेवाली घटना की परछाईं थी। वह इस पजाबी ठाकुर की कँवल फूलों जैसी मोटी और काली आँखों की माया थी···

पंजाबी सरदार ने बड़ी तरसी हुई आँखों से गुलबत्ती की आँखों का हुकारा भरा जैसे कह रहा हो, 'माया तुझे तो नहीं लगी सुन्दरी! माया तो मुझे लग गयी तुम्हारी—देख मैं कितने दिनों से तुम्हारे घर के आगे धूनी लगाकर बैठा हूँ।'

पंजाबी सरदार हेमसिंह से गुलबत्ती का मन मिल गया। सोगिया के बग़ैर और चाँद-तारों के बग़ैर इस बात की ख़बर किसी को न हुई। पर गुलबत्ती जानती थी कि यह खुशबू अधिक देर गाँठ में बाँधकर नही रखी जा सकती थी। इसलिए एक रात गुलबत्ती ने हेमसिह के हाथों का सहारा लेकर चण्डीपारा गाँव छोड़ दिया।

रात गुज़रनी थी, गुज़र गयी। पर चण्डीपारे का दिन नहीं गुजर सकता था। रगीलाल ने पहले अपना गाँव ढुंढ़वाया। फिर गुलबत्ती के बाप कचकोलप्रसाद को साथ लेकर आसपास के गाँव ढुंढ़वाये और अगली रात ढलने से पहले नरिएरा गाँव में उस ने गुलबत्ती और हेमसिह का पता पा लिया।

एक ओर चण्डीपारेवाले और झलमला गाँव के लोग थे और दूसरी ओर नरिएरे के। नरिएरेवालों का कहना था कि उन के गाँव में जो भी कोई औरत

सहारा लेने के लिए आयी थी, वे उसे ज़रूर सहारा देंगे। दोनों गांवों के मुखिया मिल बैठे और बात को लड़ाई झगड़े से बचाने के लिए उन्होंने पंचायत बाँध ली। गुलबत्ती ने हेमसिंह का हाथ पकड़ा। भरी पंचायत में बैठकर अपने हाथों की चूड़ियाँ तोड़ दीं और रंगीलाल से कहने लगी, "ले ए पड़े ए तोर चूड़ी, आज ले तोर मोर कोई रिश्ता नहीं ए।"

पचायत ने हेमसिंह को दो सौ रुपये का दण्ड दिया और रंगीलाल को दो सौ रुपया दिलवाकर गुलबत्ती हेमसिंह के साथ कर दी।

हेमसिंह की खपरैल में जब गुलबत्ती ने पंचायत की ओर से सुर्ख़रू होकर चूल्हा जलाया तो उस के अगों में से खजूर के चीर खाये हुए तने से बूंद-बूंद बहती ताड़ी की तरह मस्ती टपक रही थी।

उस रात, और हर रात जब गुलबत्ती हेमसिंह की बाँहों में सोती थी, तो उसे एक ही ख़याल आता था कि वह गाँजे की कली थी जो हेमसिंह के साँसों की आग में सुलगकर पूरी नशा बन गयी थी। वह जी भरकर हेमसिंह की आंखों में देखती। उस की आँखों में एक बावलापन होता और वह सोचती, यह उसी के नशे की गुलाबी धारियाँ थीं। और वह सोचती कि उस की निष्फल जाती ज़िन्दगी सफल हो गयी थी।

तीन महीने बीत गये। एक दिन बैठी-बैठी गुलबत्ती के अन्तर से एक ललक उठी, 'को जाने का बात ए, आज मोर मन बीह खाये बर करत ए,' और गुलबत्ती ने जब तक तीन बड़े-बड़े अमरूद न खा लिये उस का मन अमरूदों में भटकता रहा। एक दिन, दो दिन, और फिर गुलबत्ती का मन शकरकन्दी खाने के लिए मचलने लगा। गुलबत्ती ने शकरकन्दी भूनी और पेट भरकर खायी। अगले दिन गुलबत्ती हैरान थी, 'आज मोर जोंदरी खाये के मन ए।' और गुलबत्ती के दूधिया भुट्टे भूनकर खाये। घर में झीना परागी चावल भी पड़े हुए थे और लुंचई चावल भी, पर गुलबत्ती के अन्तर से उठकर उस की नाक को दुबराज चावलों की ख़ुशबू चढ़ गयी थी। चावलों के माँड़ से उस के मन को उबकाई आ रही थी। उस ने प्याज़ भूनकर दुबराज चावलों का पुलाव पकाया। साथ तेल में मछली भूनी और उस का मन खिल उठा। 'आज मोर समझ में आयी सै। मैं भी कहूँ कैसे मोर मन खाये-खाये कर करत ए।' और गुलबत्ती मटक-मटक उठी कि आज जब हेमसिंह रात को घर आयेगा तो वे दोनों मिलकर अपने आनेवाले बच्चे की बातें करेंगे।

हेमसिंह फेरी लगाकर अभी घर नहीं लौटा था, मालगुज़ार के घर से एक आदमी ने आकर एक ख़त दिया। हेमसिंह को पहले भी कभी-कभी अपने गांव से अपने माँ-बाप का ख़त आया करता था और हमेशा मालगुज़ार के पते पर आता था। गुलबत्ती ने ख़त को सँभालकर रख दिया और बाहर बहलीज़ में

बैठकर हेर्मसिह की राह देखने लगी—आज वह मन में हेर्मसिह के लिए दोहरी खुशी लेकर बैठी हुई थी।

हेर्मसिह की झलक वह घने कुहासे में भी पहचान लेती थी। आज तो अभी सांझ झीनी झीनी थी। उस ने सामने खेत की मेंड़ पर से आते हुए हेर्मसिह को देख लिया। ख़ुशी की एक लहर उस के मन में उठी और वह सोचने लगी कि वह हेर्मसिह को पहले कौन-सी बात बतायेगी। बच्चेवाली बात बहुत बड़ी थी। और बड़ी बात हमेशा अन्त में खोली जाती है···गुलबत्ती ने सोचा, और अन्दर से ख़त लाकर अपने आँचल में छिपाती वह आगे उलझकर हेर्मसिह से मिली।

"तोर वर एक ठो चीज़ लाये हों, बता तो भला का ए?"

"महूँ तोर वर एक ठन चीज़ लाये हों। मोर सऊँ बदली कर ले।"

पहले तो गुलबत्ती ने हेर्मसिह को बनाया और कहने लगी, "पहले मोर मन के साथ आपन मन के बदला-बदली कर ले।"

पर जब हेर्मसिह ने गुलबत्ती को अपनी बाँहों में लेकर कहा, "ओ तो कब के हो चुके ए। अब मैं ओ नया मन कहाँ ले आऊँ," तो गुलबत्ती ने आँचल में छिपाया हुआ ख़त हेमसिह को दे दिया और हेर्मसिह से मोंगरे के फूल लेकर अपने बालों में टाँकने लगी।

हेर्मसिह ने ख़त पढ़ा और उस के माथे पर पसीने की बूंदें झलक आयीं। गुलबत्ती ने जल्दी से हेर्मसिह का हाथ थामा और अपनी खपरैल में चले आये। पर हेर्मसिह का मुख इस तरह हो आया था जैसे भरे दरिया में उस के हाथ से चप्पू छूट गया हो। गुलबत्ती ने महुए की शराब कसोरे में डाली और कसोरा हेर्मसिह की ओर बढ़ाती हुई कहने लगी, "ए मा घबराये के का बात ए? जितना पैसा की तोला ज़रूरत होई, मैं देहों।"

पिछले दिनों हेर्मसिह को जब गुलबत्ती के बदले इकट्ठे दो सौ रुपये देने पड़े थे तो उसका हाथ तंग हो गया था। उस ने बताया था कि पीछे पंजाब में उस के बूढ़े माँ-बाप उसी के सहारे थे। वह उन्हें हर महीने कम से कम डेढ़ सौ रुपया भेजा करता था, तो गुलबत्ती ने एक रात अपने बाप से चोरी अपनी माँ से हेर्मसिह को दो सौ रुपये ला दिये थे। इसलिए अब भी गुलबत्ती ने यही सोचा कि हेर्मसिह को रुपये की ज़रूरत आ पड़ी थी।

हेर्मसिह की आँखों से आँसू बह निकले और वह गुलबत्ती के मुँह की ओर बड़ी ऋणी आँखों से देखने लगा। गुलबत्ती घबरायी भी, पर घबराहट की अपेक्षा वह दिल थामकर तन बैठी। उस का मन हेर्मसिह के हिस्से की हिम्मत भी अपने पास से जुटा रहा था। धीरे-धीरे हेर्मसिह ने मन की बात कही। और उस ने गुलबत्ती को जो प्रेम किया था वह प्रेम सच्चा था। पर वह एक बहुत

बड़ा झूठ बोल बैठा जो उस ने गुलबत्ती को यह नहीं बताया था कि पीछे गांव में उस की एक औरत भी थी और एक बच्चा भी। और आज उस की औरत का मिन्नत-भरा ख़त आया था कि उन का इकलौता बेटा मोटर के नीचे आ गया था और अब वह अस्पताल में पड़ा हुआ था। और उस की औरत ने दुहाई दी थी कि वह घर लौट आये।

हरी टहनी जैसी गुलबत्ती एक पल-भर में झुर गयी। बोली कुछ नहीं, केवल हेर्मसिंह के मुंह की ओर देखती रही। देखते-देखते उस के मन में आया कि उस की सूखे पत्तों जैसी जान अपनी अ ग से आप ही जल उठे। वह भी जलकर राख हो जाये और उस की डाल पर बैठा हुआ यह पंछी भी जलकर राख हो जाये।

उदासी का एक सियाह बादल गुलबत्ती के मन में उठा और अँधेरी रात जैसे इस बादल को गुलबत्ती के मन में आयी एक बात बिजली की तरह चीर गयी। गुलबत्ती का सारा बदन बिजली की तरह चमका और बिजली की तरह कांपा। उस ने बिजली की लकीर की तरह हेर्मसिंह की ओर देखा और कहने लगी, "मो तोला एक ठन बात बतात हों।"

"का ?"

"मोर बच्चा होई लागत ए।"

हेर्मसिंह चकित रह गया। उस ने सोचा कि चाहे वह गुलबत्ती को पंचायत के सामने अपनी औरत बनाकर उसे पूरे अधिकार दे चुका था, पर इस समय गुलबत्ती ने अपने अधिकारों को और पक्का करने के लिए शायद बच्चेवाली बात अपने मन में गढ़ ली थी।

"सच कहत अस ?"

"मैं तोला सच कहत हों, ठाकुर ! जोन दिन मैं तोर घर आये रहेऊँ, मोला बिलकुल मालम नहीं रही से कि मोर घर में कुछ होनेवाला है..."

"तोर कहे के मतलब ए कि ए बच्चा रंगीलाल के हैवै ?"

"हाँ।"

हेर्मसिंह के मन से एकबारगी सारा भार उतर गया। उस के सुर्ख़रू होकर गुलबत्ती की ओर देखा। पहले तो गुलबत्ती के मन में धरती को कंपा देनेवाली बिजली की कड़क उठी, पर फिर यह कड़क उस के मन के सूने आसमानों में ही खो गयी। और गुलबत्ती ने शान्त होकर हेर्मसिंह को गांव लौटने के लिए तैयार कर दिया। अपने बारे में उस ने यही कहा कि वह रंगीलाल के पास लौट जायेगी और उसके बच्चे को उस के बाप के घर जन्म देगी।

हेर्मसिंह को रात की गाड़ी से गांव भेजकर गुलबत्ती ने वह रात ऩरिएरा गांव में ही काटी। रात का चौथा पहर था जब वह झलमला गांव के लिए चल

पड़ी।

गुलबत्ती से भी पहले गुलबत्ती की बात गाँव में पहुँच गयी थी। हेमसिंह जाते हुए नरिएरा गाँव के मालगुज़ार को मिलकर गया था। उस ने मालगुज़ार को यह बात बतायी थी और उस ने यह बात रातों-रात गुलबत्ती के बाप को पहुँचा दी थी।

गुलबत्ती जब झलमला गाँव में पहुँची, बाप का मुख खिचा हुआ था, पर गुलबत्ती की माँ ने उसे गले से लगा लिया और उस का दिल बहलाने लगी।

गिनती के तीन दिन निकले थे कि कचकौनप्रसाद ने रंगीलाल को बुला भेजा। रंगीलाल ने कुछ हेकड़ी तो दिखायी पर मन से शायद वह खुश था। उस ने कचकौलप्रसाद के घर आकर दारू-पानी पिया और गुलबत्ती को फिर से अपने घर डालने के लिए मान गया। गुलबत्ती पहले अपने बाप से उलझी, फिर रंगीलाल के सामने जाकर तन गयी, "तोर सच कहत हों, ए तोर नाहै।" और उस ने रंगीलाल के घर बसने से इनकार कर दिया।

माँ हैरान थी। सारा गाँव हैरान था। पर गुलबत्ती के लिए जैसे कुछ हुआ ही नहीं था। उस ने धैर्य से माँ की सयानी बेटी की तरह माँ का चौका-चूल्हा सँभाल लिया और बाप के सयाने बेटे की तरह बाप के खेतों का काम सँभाल लिया और अपने मन को समझा लिया कि हेमसिंह की आँखों में दिखते कँवल फूलों की जो माया उस के मन को लग गयी थी वह वास्तव में हेमसिंह की आँखों की माया नहीं थी, वह उस की अपनी कोख से पैदा होनेवाले कँवल फूल जैसे बच्चे की माया थी। और वह बड़ी उत्सुकता से अपने बच्चे के जन्म का इन्तज़ार करने लगी।

गुलबत्ती के मन की गहराई किसी ने न पायी। गाँव की औरतें और गाँव के मर्द कुछ इधर-उधर की चर्चा करते—खेतों की कटाई की बात कर सकते थे और मामले की बात भी कर सकते थे, पर कोई गुलबत्ती की छाती में धड़कते हुए दिल की बात नहीं कर सकता था, गुलबत्ती की कोख में पड़े हुए बच्चे की बात नहीं कर सकता था। केवल एक बार जब उस के बचपन की सखी सोनिया जब ससुराल से आयी, उस ने हिम्मत बाँध ली और गुलबती को कनेरों के तले बैठाकर पूछने लगी :

"गया। एक ठन बात पूछत हों बतावे?"

"पूछ ना। का पूछत अस?"

"ए तोर बचवा काकर अस ए?"

"मोर ए।"

"एकर दादा कौन ए?"

"मैं ही एकर दाई हों, मैं ही एकर दादा।"

सोनिया की जैसे ज़बान थथला गयी। पर फिर भी उस ने हिया बांधकर पूछा, "तोर मर्द कौन ए गुलबत्ती ?"

"मोर मर्द अबी पैदा नहीं होए ए। जौन बच्चा मोर घर में जनमे, ओई हर मोर मर्द होई। ना तो रंगीलाल मोर सच्चा मर्द ए, अऊ ना हेमसिंह। अब मोर सच्चा मर्द मोर पेट ले जन्मे···मोर बच्चा···मोर मर्द···" और गुलबत्ती एक नशे में झूम गयी। उसे लगा कि वह गांजे की कली ज़रूर थी पर किसी भी मर्द के पास उसे पीने के लिए दिल की आग नहीं थी। इस कली को पीने के लिए, उसे आग भी अपने दिल में ही जलानी पड़ी थी। कली भी वह ख़ुद थी, आग भी वह ख़ुद थी, पीनेवाली भी वह ख़ुद थी।

पाँच बरस लम्बी सड़क

सेंक मौसम का था, मन का नहीं।

हवाई जहाज़ वक़्त पर आया था, पर नीचे एयरपोर्ट से अभी सिगनल नहीं मिल रहा था। जहाज़ को दिल्ली पहुँचने की ख़बर देकर भी, अभी दस मिनट और गुज़ारने थे, इसलिए शहर के ऊपर उस को कुछ चक्कर लगाने थे।

उस ने खिड़की में से बाहर झाँकते हुए शहर के मुंडेरे पहचाने, मुंडेरे, क़िले, खँडहर, खेत···

'क्या पहचान सिर्फ़ आँखों की होती है? आँखें इस पहचान को अपने से आगे, कहीं नीचे तक, क्यों नहीं उतारतीं?'—उसे ख़याल आया। पर एक धुँन जैसी सोच की तरह नहीं, ऐसे ही राह जाता ख़याल।

मुंडेरे, क़िले, खँडहर, खेत—उस ने कई देशों के देखे थे। हर देश में इन चीज़ों के यही नाम होते हैं, चाहे हर देश में इन चीज़ों का अलग-अलग इतिहास होता है। इन के रंग, इन के क़द, इन की मुंह-मुहार भी अलग-अलग होती है—एक इनसान से अलग दूसरे इनसान की तरह। पर फिर भी इनसान का नाम इनसान ही रहता है। मुंडेरों का नाम भी मुंडेरे ही रहता है, क़िले का नाम भी क़िला ही···

सिर्फ़ एक हलका-सा फ़र्क़ था—हर देश में इन चीज़ों को देखते वक़्त एक ख़याल-सा रहता था कि वह इन्हें पहली बार देख रहा था। पर आज अपने देश में इन्हें देखकर उसे लग रहा था कि वह इन्हें दूसरी बार देख रहा था और उसे ख़याल आया अगर वह फिर कुछ दिनों बाद परदेश गया तो वहाँ जाकर, उन्हें देखकर भी, इसी तरह लगेगा कि वह उन को दूसरी बार देख रहा है। बिलकुल आज की तरह। यह देश और परदेश का फ़र्क़ नहीं था। यह सिर्फ़ पहली बार, और दूसरी बार देखने का फ़र्क़ था।

जहाज़ ने 'लैण्ड' किया। एयरपोर्ट भी जाना-पहचाना-सा लगा, दूसरी बार देखने की तरह। इस से ज़्यादा उस के मन में कोई सेंक नहीं था।

ओवरकोट उस के हाथ में था। गले का स्वेटर भी उतारकर उस ने कन्धे पर रख लिया।

सेंक मौसम का था, मन का नहीं।

कस्टम में से गुज़रते वक़्त उसे एक फ़ार्म भरना था कि पिछले नौ दिन वह कहाँ कहाँ रहा था। पिछले नौ दिन वह सिर्फ़ जरमनी में रहा था। उस ने फ़ार्म भर दिया। और उसे ख़याल आया—अच्छा है, कस्टमवाले सिर्फ़ नौ दिनों का लेखा पूछते हैं, बीस-पचीस दिनों का नहीं। नहीं तो उसे सिलसिलेवार याद करना पड़ता कि कौन-सी तारीख़ वह किस देश में रहा था। उस ने वापस आते समय कोई एक महीना सिर्फ़ इसी तरह गुज़ारा था— कभी किसी देश का टिकट ले लेता था, कभी किसी देश का। अगर किसी देश का वीज़ा उसे नहीं मिलता था तो वह दूसरे देश चल पड़ता था···

पासपोर्ट की चेकिंग करते समय, और पासपोर्ट वापस करते हुए, एक अफ़सर ने मुसकरा के कहा था, 'जनाब पाँच बरस बाद देश आ रहे हैं।'

बिलकुल उसी तरह जिस तरह एयर होस्टेस ने राह में कई बार बताया था कि इस वक़्त तक हम इतने हज़ार किलोमीटर तय कर चुके हैं। गिनती अजीब चीज होती है, चाहे मीलों की हो या बरसों की। उसे हँसी-सी आयी।

जहाज़ में से उस के साथ उतरे हुए लोगों को लेने आये हुए लोग—हाथ मिलाकर भी मिल रहे थे, गले में बाँहें डालकर भी मिल रहे थे। कइयों के गले में फूलों के हार भी थे। 'पसीने की और फूलों की गन्ध से शायद एक तीसरी गन्ध और भी होती है' उसे ख़याल आया। पर तीसरी गन्ध की बात उसे एक थीसिस लिखने के बराबर लगी। वह अभी-अभी एक परदेशी जबान सीखकर और उस के लिटरेचर पर थीसिस लिख के, एक डिगरी लेकर आया था। नये थीसिस की कोई बात वह अभी नहीं सोचना चाहता था। इसलिए सिर्फ़ पसीने और फूलों की गन्ध सूंघता हुआ वह एयरपोर्ट से बाहर आ गया।

घर में सिर्फ़ माँ थी।

जाते वक़्त बाप भी था, छोटा भाई भी, और एक लड़की···नहीं, वह लड़की घर में नहीं थी, वह सिर्फ़ उसी दिन उस के जानेवाले दिन आयी थी। माँ को सिर्फ़ ऐसे ही कुछ घण्टों के लिए भ्रम हुआ था कि वह लड़की···छोटा भाई ब्याह करा के अब दूर नौकरी पर रहता था, घर में नहीं था। बाप अब इस दुनिया में कहीं नहीं था। इसलिए घर में सिर्फ़ माँ थी।

कई चीजें अन्दर से बदल जाती हैं, पर बाहर से वही रहती हैं। कई चीजें बाहर से बदल जाती हैं, पर अन्दर से वही रहती हैं।

उस का कमरा बिलकुल उसी तरह था—उस का पीला ग़लीचा, उस की खिड़की के टसरी परदे, उस की मेज पर पड़ा हुआ हरी धारियों का फूलदान,

और दहलीज़ में पड़ा हुआ गहरा ख़ाकी पायदान। चांदनी का पौधा भी उस की खिड़की के आगे उसी तरह खिला हुआ था। पर पहले इस सब कुछ की गन्ध—दीवारों की ठण्डी गन्ध के समेत—उस के साथ लिपट-सी जाती थी। और अब उसे लगा कि वह उस के साथ लिपटने से सकुचाती, सिर्फ़ उस के पास से गुज़रती थी और फिर परे हो जाती थी। पता नहीं, उस के अन्दर कहाँ क्या बदल गया था।

माँ कश्मीरी सिल्क की तरह नरम होती थी और तनी-सी भी। पर उम्र ने उसे जैसे धो-सा दिया था। वह सारी-की-सारी सिकुड़ गयी लगती थी। माँ से मिलते वक्त उस का हाथ माँ के मुँह पर ऐसे चला गया था जैसे उसे हथेली से मांस की सारी सिकुड़नें निकाल देनी हों। माँ की आवाज़ भी बड़ी धीमी और क्षीण-सी हो गयी लगती थी। शायद पहले उस की आवाज़ का जोर उस के क़द जितना नहीं, उस के मर्द के क़द जितना था; और उस के बिना अब वह नीचा हो गया था, मुश्किल से उस के अपने क़द जितना। जब उस ने बेटे का मुँह देखा था, उस की आँखें उसी तरह सजग हो उठी थीं जैसे हमेशा होती थीं। उस के सीने की साँस उसी तरह उतावली हो गयी थी, जैसे हमेशा होती थी। वह कहीं किसी जगह, बिलकुल वही थी, जो हमेशा होती थी। सिर्फ़ उस के बाहर बहुत कुछ बदल गया था।

"मुझे पता था, तू आज या कल किसी दिन भी अचानक आ जायेगा," माँ ने कहा।

उस ने अपने कमरे में लगे हुए ताज़े फूलों को देखा, और फिर माँ की तरफ़।

माँ की आवाज़ सकुचा-सी गयी—"यह तो मैं रोज़ ही रखती थी।"

"रोज़? कितने दिनों से?" वह हँस पड़ा।

"रोज़," माँ की आवाज़ उस के जिस्म की तरह और सिकुड़ गयी, "जिस दिन से तू गया था।"

"पाँच बरसों से?" वह चौंक-सा गया।

माँ सकुचाहट से बचने के लिए रसोई में चली गयी थी।

उस ने जेब में से सिगरेट का पैकेट निकाला। लाइटर पर उँगली रखी, तो उस का हाथ ठिठक गया। उस ने माँ के सामने आज तक सिगरेट नहीं पी थी।

माँ ने शायद उस के हाथ में पकड़ा हुआ सिगरेट का पैकेट देख लिया था। वह धीरे से रसोई में से बाहर आकर, और बैठक में से ऐश-ट्रे लाकर उस की मेज़ पर रख गयी।

उसे याद आया—छोटे होते हुए माँ ने उसे एक बार चोरी से सिगरेट पीते देख लिया था, और उस के हाथ से सिगरेट छीनकर खिड़की से बाहर फेंक दी

थी···

मां शायद वही थी पर वक़्त बदल गया था।

मां फिर रसोई में चली गयी। वह चुपचाप सिगरेट पीने लगा।

"मुझे पता था, तू आज या कल किसी दिन भी आ जायेगा···" उसे मां की अभी कही गयी बात याद आयी। और उस के साथ मिलती-जुलती एक बात भी याद आयी। "मुझे पता लग जायेगा जिस दिन तुम्हें आना होगा, मैं ख़ुद उस दिन तुम्हारे पास आ जाऊँगी।"

बहुत देर हुई, जब वह परदेश जाने लगा था, उसे एक लड़की ने यह बात कही थी।

उस लड़की से उस की दोस्ती पुरानी नहीं थी, वाक़फ़ियत पुरानी थी, दोस्ती नहीं थी। पर पाँच बरसों के लिए परदेश जाने के वक़्त, जाने की ख़बर सुन-कर, अचानक उस लड़की को उस के साथ मुहब्बत हो गयी थी—जैसे जहाज़ में बैठे किसी मुसाफ़िर को अगले बन्दरगाह पर उतर जानेवाले मुसाफ़िर से अचानक ऐसी तार जुड़ी-सी लगने लगती है कि पलों में वह उसे बहुत कुछ दे देना और उस से बहुत कुछ ले लेना चाहता है।

और ऐसे वक्त पर बरसों में गुज़रनेवाला पलों में गुज़रता है।

उस ने यह 'गुज़रना' देखा था। अपने साथ नहीं, उस लड़की के साथ।

"तुम्हारा क्या ख़याल है, मैं जो कुछ जाते वक़्त हूँ, वही आते वक़्त होऊँगा?" उस ने कहा था।

"मैं तुम्हारी बात नहीं करती, मैं अपनी बात कहती हूँ," लड़की ने जवाब दिया था।

"तुम यहीं होगी, यह तुम्हें किस तरह पता है?"

"लड़कियों को पता होता है।"

"तो लड़कियाँ बावरी होती हैं।"

वह हँस पड़ा था। लड़की रो पड़ी थी।

जाने में बहुत थोड़े दिन थे। पाँच दिन और पाँच रातें लगाकर उस लड़की ने एक पूरी बाँहोंवाला स्वेटर बुना था। उसे पहनाया था और कहा था, "बस एक···इक़रार माँगती हूँ, और कुछ नहीं। जिस दिन तुम वापस लौटो, गले में यही स्वेटर पहनकर आना।"

"तुम्हारा क्या ख़याल है, मैं वहाँ पाँच बरस···" उस ने जो कुछ लड़की को कहना चाहा था, लड़की ने समझ लिया था।

जवाब दिया था, "मैं तुम से अनहोने इक़रार नहीं माँगती। सिर्फ़ यह चाहती हूँ कि वहाँ का वहाँ ही छोड़ आना।"

वह कितनी देर तक उस लड़की के मुंह की तरफ़ देखता रहा था।

और फिर उस को यह सब कुछ एक अनादि औरत का अनादि छल लगा था। वह बेवफ़ाई को छूट दे रही थी पर उस पर वफ़ा का भार लादकर।

कह रही थी, "मैं तुम्हें ख़त लिखने के लिए भी नहीं कहूँगी। सिर्फ़ उस दिन तुम्हारे पास आऊँगी, जिस दिन वापस आओगे।"

"तुम्हें किस तरह पता लगेगा, मैं किस दिन वापस आऊँगा?" लड़की को टीज़ करने के लिए उस ने कहा था।

और उस ने जवाब दिया था, "मुझे पता लग जायेगा, जिस दिन तुम्हें आना होगा।"

उस दिन वह हँस दिया था।

उस ने परदेश देखे थे, बरस देखे थे, लड़कियाँ भी देखी थीं।

पर किसी चीज़ में उस ने डूबकर नहीं देखा था, सिर्फ़ किनारों से छूकर।

और वह सोचता रहा था—शायद डूबना उस का स्वभाव नहीं, या वह चलता है, तो एक भार भी उस के साथ चलता है, और उस के पैरों को हर जगह कुछ रोक-सा लेता है···

इन बरसों में उस ने कभी उस लड़की को ख़त नहीं लिखा था। लड़की ने कहा भी इसी तरह था।

हर देश की दोस्ती उस ने उसी देश में छोड़ दी थी। यह शायद उस का अपना ही स्वभाव था, या इसलिए कि उस लड़की ने कहा था।

सिर्फ़ वापस आते वक़्त, जब वह अपना सामान पैक कर रहा था, उस स्वेटर को हाथ में पकड़कर वह कितनी देर सोचता रहा था कि वह उसे और चीज़ों के साथ पैक कर दे या उस लड़की की बात रख ले, और उसे पहन ले।

जो स्वेटर पहनकर जाना, पाँच बरसों बाद वही पहनकर आना, उसे एक मूर्खता की सी बात लगी थी। मूर्खता की सी भी और जज़्बाती भी।

और एक हद तक झूठी भी। क्योंकि जिस बदन पर यह स्वेटर पहनना था वह उस तरह नहीं था जिस तरह वह लेकर गया था।

पर उस ने स्वेटर को पैक नहीं किया। गले में डाल लिया। ऐसे जब वह स्वेटर पहनकर शीशे के सामने खड़ा हुआ—उसे आर्ट गैलरियों में बैठे वे आर्टिस्ट याद आ गये, जो पुरानी और क्लासिक पेंटिंग्ज़ की हूबहू नक़लें तैयार करते हैं।

और स्वेटर पहनकर उसे लगा—उस ने भी अपनी एक नक़ल तैयार कर ली थी।

इस नक़ल से वह शर्मिन्दा नहीं था, सिर्फ़ इस नक़ल पर वह हँस रहा था।

माँ को वह सब कुछ याद था, जो कभी उसे अच्छा लगता था। लेकिन वह स्वयं भूल गया था।

"देख तो अच्छा बना है ?" माँ ने जब पनीर का परांठा बनाकर उस के आगे रखा, तो उस को याद आया कि पनीर का परांठा उसे बहुत अच्छा लगता था। माँ ने जानेवाले दिन भी बनाया था।

उस ने एक कौर तोड़कर मक्खन में डुबाया, और फिर माँ के मुँह में डालकर हँस पड़ा—"वहाँ लोग पनीर तो बहुत खाते हैं पर पनीर का परांठा कोई नहीं बनाता।"

यह छुटपन से उस की आदतें थीं। जब वह बड़ा री में होता था, रोटी का पहला कौर तोड़कर माँ के मुँह में डाल देता था।

"तू सात विलायत घूमकर भी वही का वही है," माँ के मुंह से निकला और उस की आँखों में पानी भर आया। भरी आँखों से वह कह रही थी, "तू आया है, सब कुछ फिर उसी तरह हो गया है।"

वह 'वह' नहीं था। कुछ भी वह नहीं था, जाते वक़्त जो कुछ था वह सब बदल गया था। उस ने बाप की बात नहीं छेड़ी थी, सिर्फ़ उस के ख़ाली पलग की तरफ़ देखा था, और फिर आँखें परे कर ली थीं। माँ के दिन-ब-दिन मुरझाते मुँह की बात भी नहीं की थी। छोटे भाई की खैर-ख़बर पूछी थी, पर यह नहीं कहा था कि माँ को अकेला छोड़कर उसे इतनी दूर नहीं जाना चाहिए था। पर माँ कह रही थी, "सब कुछ फिर उसी तरह हो गया है..."

"झटपट जो कोई भुलावा पड़ जाये, क्या हरज है," उस ने सोचा भी यही था। माँ के मुँह में अपनी रोटी का कौर भी इसी लिए डाला था।

उस ने कोई और भी माँ की मरज़ी की बात करनी चाही। पूछा, "भाभी कैसी हैं? तुम्हें पसन्द आयी हैं ?"

माँ ने जवाब नहीं दिया। सिर्फ़ सवाल-सा किया, "मेरा ख़याल था, तू विलायत से कोई लड़की..."

वह हँस पड़ा।

"बोलता क्यों नहीं ?"

"विलायत की लड़कियाँ विलायत में ही अच्छी लगती हैं, सब वहीं छोड़ आया हूँ।"

"मैं ने तो इस महीने पिछले दोनों कमरे ख़ाली करवा लिये थे। सोचा था, तुझे ज़रूरत होगी।"

"ये कमरे किराये पर दिये हुए थे ?"

"छोटा भी चला गया था। घर बड़ा ख़ाली था इसलिए पिछले कमरे चढ़ा दिये थे। ज़रा हाथ भी खुला हो गया था..."

"तुम्हें पैसों की कमी थी ?" उसे परेशानी-सी हुई।

"नहीं, पर हाथ में चार पैसे हों तो अच्छा होता है।"

"छोटे की तनख़्वाह थोड़ी नहीं, वह…"

"पर वह भी अब परिवारवाला है, आजकल में ही उस के घर …"

"सो मेरी माँ दादी बन जायेगी…"

उस ने माँ को हँसाना चाहा, पर माँ कह रही थी, "मुझे तो कोई उज्र नहीं था जो तू विलायत से कोई लड़की…"

वह माँ को हँसाने के यत्न में था। इसलिए कहने लगा, "लाने तो लगा था पर याद आया कि तुम ने जाते समय पक्की की थी कि मैं विलायत से किसी को साथ न लाऊँ।"

उसे याद आया — जानेवाले दिन, वह लड़की जब मिलने आयी थी, वह माँ को अच्छी लगी थी। माँ ने उन दोनों को इकट्ठे देखकर, ताक़ीद दी थी, 'देख, कहीं विलायत से न कोई ले आना। कोई भी अपने देश की लड़की की रीस नहीं कर सकती…"

पर इस वक़्त माँ कह रही थी, "वह तो मैं ने वैसे ही कहा था। तेरी खुशी से मैं ने मुनकिर क्यों होना था। पीछे एक ख़त में मैं ने तुझे लिखा भी था कि जो तेरा जी चाहता हो…"

"यह तो मैं ने सोचा, तुम ने ऐसे ही लिख दिया होगा," वह हँस पड़ा और फिर कहने लगा, "अच्छा, जो तुम कहो तो मैं अगली बार ले आऊँगा।"

"तू फिर जायेगा ?" माँ घबरा-सी गयी।

"वह भी जो तुम कहो तो, नहीं तो नहीं।"

उसे लगा, उसे आते ही जाने की बात नहीं करनी चाहिए थी। आते वक़्त उसे एक यूनिवर्सिटी से एक नौकरी ऑफ़र हुई थी। पर वह इतने बरसों बाद एक बार वापस आना चाहता था। चाहे महीनों के लिए ही।

"जो तुम कहोगी तो नहीं जाऊँगा," उस ने फिर एक बार कहा।

माँ को कुछ तसल्ली आ गयी। कहने लगी, "तू सामने होगा, चूल्हे में आग जलाने की तो हिम्मत आ जायेगी, वैसे तो कई बार चारपाई पर से नहीं उठा जाता।"

"माँ, तुम इतनी उदास थीं, तो छोटे के साथ, उस के घर…"

"मैं यहाँ अपने घर अच्छी हूँ। अब तू आ गया है, मुझे और क्या चाहिए !"

उस को लगा माँ बहुत उदास थी। और शायद उस की उदासी का सम्बन्ध सिर्फ़ उस के अकेलेपन से नहीं, किसी और चीज़ से भी था।

खिड़की में से आती धूप की लकीर दीवार पर बड़ी शोख़-सी दिख रही थी। उस ने खिड़की के परदे को सरकाया। और उसे ग़लीचे का पीला रंग ऐसे लगा जैसे निश्चिन्त-सा होकर कमरे में सो गया हो।

"तू थक गया होगा। कुछ सो ले," माँ ने कहा, और मेज़ पर से प्लेटें उठा-

कर कमरे से जाने लगी।

"नहीं, मुझे नींद नहीं आ रही," उस ने हलका-सा झूठ बोला, और कहा, "मैं तुम्हारे लिए एक-दो चीज़ें लाया हूँ, देखूं पूरी आती हैं कि नहीं।"

उस ने सूटकेस खोला। एक गरम काली ऊन की शाल थी, पंखों जैसी हलकी। माँ के कन्धों पर डालकर कहने लगा, "यह जाड़े की चीज़ है, पर एक मिनट अपने ऊपर ओढ़कर दिखाओ। यह तुम्हें बड़ी अच्छी लगेगी।"

फिर उस ने फर के स्लीपर निकाले। माँ के पैरों में पहनाकर कहने लगा, "देखो, कितने पूरे आये हैं! मुझे डर था, छोटे न हों।"

"इस उम्र में मुझे अच्छे लगेंगे?" माँ की आँखों में पानी-सा भर आया था।

वह माँ का ध्यान बँटाने के लिए और चीज़ें दिखाने लगा। प्लास्टिक की एक छोटी-सी डब्बी में कुछ सिक्के थे—इटली के लीरा, यूगोस्लाविया के दीनार, बलगारिया के लेवा, हंगरी के फारेंटस, रोमानिया के लेई, जरमनी के दीनार··· उस ने सिक्कों को खनकाया और कहने लगा, "माँ, तुम ने कहा था न कि छोटे के घर बहुत जल्दी कोई बच्चा···"

"हाँ-हाँ, कहा था," माँ कमरे से जाने के लिए उतावली-सी लगी।

"यह अपने भतीजे को दूंगा।"

और फिर उस ने सूटकेस में से और चीज़ें निकालीं—"छोटे के लिए यह कैमरा, और भाभी के लिए यह···"

माँ रुआँसी-सी हो गयी।

उस का हाथ रुक गया।

"माँ, क्या बात है, तुम मुझे बताती क्यों नहीं?"

माँ चुप थी।

उस ने माँ के कन्धे पर हाथ रखा।

माँ को कोई कहीं क़ुसूरवार लगता था। पता नहीं, कौन? और सोच-सोचकर उसे अपना मुँह ही क़ुसूरवार लगने लगा था। उस ने एक विवशता से उस की तरफ़ देखा।

"माँ, तुम कुछ बताना चाहती हो, पर बताती नहीं।

"वह लड़की···"

"कौन-सी लड़की?"

"जो तुझे उस दिन मिलने आयी थी, जिस ने तेरे लिए एक स्वेटर···"

"हाँ, क्या हुआ उस लड़की को?"

"उस ने छोटे के साथ ब्याह कर लिया है।"

माँ के कन्धे पर रखा हुआ उस का हाथ कस-सा गया। एक पल के लिए उसे लगा कि हाथ ने कन्धे का सहारा लिया था, पर दूसरे पल लगा कि हाथ ने

कन्धे को सहारा दिया था।

और वह हँस पड़ा—"सो वह मेरी भाभी है !"

माँ उस के मुँह की तरफ़ देखने लगी।

"मुझे ख़त में क्यों नहीं लिखा था ?"

"क्या लिखती···यह उन्होंने लिखनेवाली बात की थी ?"

"छोटे ने सिर्फ़ ब्याह की ख़बर दी थी और कुछ नहीं लिखा था।"

"दोनों शरमिन्दे तुझे क्या लिखते !"

खुले सूटकेस के पास जो दूसरा बन्द सूटकेस था, उस पर उस का ओवरकोट और वह स्वेटर पड़ा हुआ था जो उस ने सुबह आते वक़्त पहना था।

वह एक मिनट स्वेटर की तरफ़ देखता रहा। स्वेटर गुच्छा-सा होकर अपने-आप को ओवरकोट के नीचे छिपाता-सा लग रहा था।

एक मर्द : एक औरत

अलमारी का शीशा बहुत लम्बा था—उस के क़द जितना।

वह अपने कोट के बटन खोलने लगा था, उस का हाथ पहले बटन पर ही रुक गया जैसे शीशे के बीचवाले हाथ ने उस का हाथ पकड़ लिया हो।

"कपड़े नहीं बदलोगे?" औरत की आवाज़ आयी।

मर्द हँस-सा दिया। शीशे में भी कुछ हिल-सा गया।

"तुम ने 'पिक्चर ऑफ़ डोरियन ग्रे' पढ़ी है?" मर्द ने पूछा।

"पिक्चर ऑफ़ डोरियन ग्रे?"

"आस्कर वाइल्ड का सब से मशहूर उपन्यास।"

"मेरा ख़याल है, कॉलेज के दिनों में पढ़ी थी, पर इस वक़्त याद नहीं··· शायद उस में एक पेण्टिंग की कोई बात थी···"

"हाँ, पेण्टिंग की। वह एक बड़े हसीन आदमी की पेण्टिंग थी···"

"फिर शायद वह आदमी हसीन नहीं रहा था, और उस के साथ ही उस की पेण्टिंग बदल गयी थी···कुछ ऐसी ही बात थी।"

"नहीं, वह उस की दिखती शक्ल के साथ नहीं बदली थी, उस के मन की हालत से बदली थी। रोज़ बदलती थी।"

"अब मुझे याद आ गया है। आदमी उसी तरह हसीन रहा था, पर पेण्टिंग के मुँह पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं···"

"उस के मन की सोचों की तरह।"

"अब मुझे सारी कहानी याद आ गयी है।"

"मेरा ख़याल है, यह शीशा···"

"यह शीशा?"

"सामने शीशे में देखो, मेरी शक्ल बदल गयी है।"

"आज पार्टी में तुम ने बहुत पी थी।"

"नहीं, बहुत नहीं, मैं अभी और पीना चाहता हूँ···यहाँ अकेले, इस शीशे

के सामने बैठकर···और देखना चाहता हूँ—यह शक्ल और कितनी बदल सकती है···"

औरत परे खड़ी थी, उधर पलंग के पास। इधर मर्द के पास आयी, शीशे के पास। उस की आवाज़ में दिलजोई थी। कहने लगी, "आज की पार्टी में कोई सब से हसीन आदमी अगर था, तो वह सिर्फ़ तुम। तुम ने उन की शक्लें नहीं देखीं ? उन सब की, जिन्हें तुम ने पार्टी पर बुलाया था···वे मांस के ढेर से···"

"मैं उन की बात नहीं कर रहा, सिर्फ़ अपनी कर रहा हूँ !"

"हाँ, देख लो शीशे में—तुम्हारा वही चन्दन की गेली जैसा जिस्म। माथा, आँखें···नाक···जैसे ख़ुदा ने फ़ुरसत में बैठकर गढ़े हों···" औरत ने कहा। वह अभी भी दिलजोई की रौ में थी।

"यह शब्दावली शायरों के लिए रहने दो···" मर्द खीझ-सा गया।

"मेरा ख़याल है, तुम थक गये हो। वैसे भी रात आधी होने को है···"

"पर तुम शीशे में क्यों नहीं देखतीं ? देखने से डरती हो ?"

"शीशे में कुछ और हो जायेगा ?"

"हो जायेगा नहीं, हो गया है।"

"कहाँ ? कुछ भी नहीं हुआ···"

"अभी हुआ था, मैं ने ख़ुद देखा था···मैं जब हँसा था, शीशे में मेरा यही मुँह रो पड़ा था···यह शीशा डोरियन ग्रे की पेण्टिग की तरह···"

"मैं ग़ुसलख़ाने में से नाइट-सूट ला देती हूँ, तुम कपड़े बदल लो।"

"कपड़े सभ्यता की निशानी होते है, इस निशानी के बग़ैर मैं क्या होऊँगा ···तुम ने ही कहा था कि इस पार्टी के लिए मुझे नया सूट सिलवाना चाहिए···"

'मैं ने ठीक कहा था, वह सब तुम से बड़े इम्प्रेस हुए लगते थे···"

"इसलिए मैं यह सूट उतारना नहीं चाहता।"

"पर अब घर में कोई नहीं।"

"अभी मैं हूँ···"

औरत को अब यक़ीन हो गया था कि वह अब बहक गया है इसलिए बोली नहीं।

मर्द ने ही कहा, "उस वक़्त मैं ने उन को इम्प्रेस किया था, पर इस वक़्त अपनेआप को करना है, इसलिए अभी यह सूट नहीं उतार सकता।"

औरत चुप थी।

"कुछ ह्विस्की बची है ?" मर्द ने पूछा।

औरत के मुँह पर से एक सोच की परछाईं गुज़र गयी। परछाईं को पसीने की तरह पोंछकर बोली वह, "नहीं।"

"मेरा खयाल है, तुम्हें झूठ बोलने का अभी ढंग नहीं आया।" मर्द हँस दिया।

"पर इस वक़्त मैं और नहीं पीने दूंगी।"

'सिर्फ़ एक गिलास···"

"नहीं।"

"तुम ने उन्हें किसी गिलास के लिए मना नहीं किया था।"

"वे गेस्ट थे ··"

"रिस्पेक्टेबल गेस्ट···रिस्पेक्टेबल सिर्फ़ वे थे, मैं नहीं ?"

"मैं ने रिस्पेक्टेबल नहीं कहा, सिर्फ़ गेस्ट कहा है।"

"तुम मुझे भी अपना गेस्ट समझ लो···"

"क्या ?"

"यह घर तुम्हारा है, मैं तुम्हारा गेस्ट हूँ।"

"यह घर सिर्फ़ मेरा है ?"

"घर सिर्फ़ औरत का होता है।"

औरत को इस वक़्त कुछ भी कहना ठीक नहीं लगा। उसे लगा कि इस वक़्त सिर्फ़ सो जाना चाहिए। वह चुपचाप ग़ुसलख़ाने में गयी, और मर्द का नाइट-सूट लाकर, पलंग की बाँही पर रख दिया।

मर्द ने कमरे के हलके नीले आयल-पेण्ट की तरफ़ देखा, पलंग की रेशमी सलेटी चादर की तरफ़, फिर टेबल लैम्प के आसमानी शेड की तरफ़···और उस का जी चाहा, वह औरत से कहे—इस कमरे का सारा कुछ बरसों से उस की कल्पना थी। इस कमरे की भी और बाहर के बड़े कमरे की भी·· इस सब कुछ को चाहती वह ख़ुद कहती थी कि उस के दफ़्तर से उसे कोई वास्ता नहीं, पर अपना घर वह अपनी मरज़ी से बनायेगी, घर औरत का होता है···

फिर उस ने नाइट-सूट की तरफ़ देखा। और सिर्फ़ इतना कहा, "यू आर ए वण्डरफ़ुल होस्ट···आई मीन होस्टेस···"[1]

औरत अभी भी चुप थी।

सिर्फ़ वही कह रहा था, "मेरी मेहरबान, अब एक गिलास ह्विस्की दे दो।"

औरत को लगा कि इस वक़्त गिलासवाली बात को टाला नहीं जा सकता। वह बाहर के कमरे में गयी, और कुछ मिनटों के बाद, उस ने एक गिलास लाकर मेज पर रख दिया।

"यू आर रीयली ए डार्लिंग।"[2] मर्द ने ह्विस्की के पहले नहीं, पर तीसरे

1. तुम बहुत अच्छी मेजबान हो···
2. तुम सच में प्रिय हो।

घूँट के साथ कहा।

औरत को कुछ याद आया—और वह खोल-सी गयी—"मुझे यह शब्द अच्छे नहीं लगते।"

"क्यों ?"

"आज की पार्टी में बिलकुल यही शब्द तुम्हारे एक मेहमान ने तुम्हारी सेक्रेटरी को कहे थे।"

"पर वह नाराज़ नहीं हुई थी।"

"वह सेक्रेटरी है, मैं बीवी हूँ।"

"यह फ़र्क़ कैसा लगता है ?"

"डिस्गस्टिग।"[1]

"डिस्गस्टिंग बीवी होना या कि सेक्रेटरी होना ?"

"मेरे ख़याल में सेक्रेटरी होना।"

"यू आर राइट।"

मर्द ने ह्विस्की का घूंट भरा, और कहने लगा, 'एक मैरिड औरत की पोज़ीशन सचमुच बड़ी शानदार होती है। वह जब चाहे नाराज़ हो सकती है। जिस बात पर, और जब चाहे···पर बेचारी सेक्रेटरी···"

"इस तन्ज़ का मतलब ?"

"यह तन्ज़ नहीं।"

"फिर यह क्या है ?"

"एक फ़ैक्ट।"

"उस से बड़ी हमदर्दी है ?"

"उस के साथ नहीं, सिर्फ़ उस के सेक्रेटरी होने से।"

"इसी लिए उस की हर दूसरे महीने तरक़्क़ी हो जाती है ?"

"यह तरक़्क़ी नहीं, डियर, यह रिश्वत है। सिर्फ़ यह रिश्वत का नया तरीक़ा है।"

"किस चीज़ की रिश्वत ?'

"हमारी एजेन्सी को जिस सेठ ने अपने मिल का ऐडवरटाईज़िंग एकाउण्ट दिया है, यह उसकी शर्त थी···उस लड़की की तरक़्क़ी भी उसी की शर्त है···"

"यह उस सेठ की···"

"ए कैप्ट विमॅन"।[2]

"इट इज़ आल डिस्गस्टिग।"[3]

1. घृणित।
2. रखैल।
3. यह सब बड़ा घृणित है।

"येस, इट इज़ आल डिस्गस्टिंग।"

"पर तुम्हें उस से हमदर्दी किस बात की है ?"

"क्योंकि मैं उस का हमपेशा हूँ।

"क्या मतलब ?"

"हम सब···सब ··उस के हमपेशा है···"

"किस तरह ?"

"वी आर नॉट मैरिड टु अवर वर्क···वी आर आल लाइक कैप्ट विमैन·· "[1] मर्द हँसा फिर कहने लगा, "आज की पार्टी से भी यह ज़ाहिर था। मैं ने उन को खुश करने के लिए यह सब कुछ किया था। पाँच लाख एक साल के बिज़नेस का सवाल था···"

मर्द ने ह्विस्की के गिलास का आख़िरी घूँट भरा, शीशे की तरफ़ देखा। पता नहीं उसे क्या नज़र आया, उस ने एक बार आँखें बन्द-सी कर लीं। फिर खोलीं तो वे उस शीशे की तरफ़ नहीं, खाली गिलास की तरफ़ देख रही थीं।

"मेरी मेहरबान, एक गिलास और।"

"नहीं, और नहीं।"

"आज जश्ने-ग़ुलामी है।"

औरत ने अपनी घबराहट को माथे पर से पसीने की तरह पोंछा।

"देख मेरी जान, आज की पार्टी ने अगले साल का बिज़नेस भी पक्का कर दिया है। इस का मतलब है अगले साल भी पाँच लाख का बिज़नेस। इस-लिए मैं ने नया सूट पहना था ··वे औरतें···मेरा मतलब है कैप्ट विमैन···इसी तरह नयी साड़ी पहनती हैं···फिर सारा वक़्त दिल-फ़रेब बातें···उन्हें किसी भी बात से नाराज़ होने का हक़ नहीं होता·· मैं भी किसी बात से नाराज़ नहीं हुआ···"

औरत ने मर्द के पास होकर उस के कोट के बटन खोले। बटन खोलते हुए वह काफ़ी देर तक उस के सीने के पास खड़ी रही। शायद मर्द के हाथ की किसी हरकत का इन्तज़ार कर रही थी···

रात कमरे में भी अडोल थी, दूर परे तक भी अडोल थी। मर्द के अंगों की तरह।

और फिर अचानक एक कुत्ते के भूँकने की आवाज़ आयी। और औरत को लगा—उस की छाती में भी कुछ था, जो इस वक़्त···

कुत्ते के भूँकने की आवाज़ बायें हाथवाली कोठी की तरफ़ से आयी थी। फिर अगले मिनट दायें हाथवाली कोठी की तरफ़ से भी आयी। शायद जवाब की सूरत में।

1. हमारी शादी अपने काम से नहीं हुई है···हम सब रखैलों की तरह हैं।

"ह्वाट ए डुइट···" मर्द ने ख़ाली गिलास की तरफ़ देखा, और औरत को हाथ से परे करता हुआ, बाहर के कमरे में से और ह्विस्की लाने के लिए चला गया।

गिलास में बर्फ़ का टुकड़ा शायद उस ने ऊपर से और डाला था, गिलास छलक-सा गया था। गिलास को छलकने से बचाने के लिए उस ने दहलीज़ ही में खड़े होकर एक घूंट भरा और फिर कमरे में आता हुआ कहने लगा, "आई एम सैलीब्रेटिंग दिस डुइट।"[1]

कुत्ते भूंक रहे थे - बारी-बारी।

'दिस इज़ फ़ॉर द हेल्थ ऑफ़ डॉग्ज़···"[2]

उस ने गिलास में से एक घूंट भरा।

औरत ने घबराकर पहले कमरे की बायीं दीवार की तरफ़ देखा, और फिर दायीं की तरफ़। बाहर भूंकते कुत्तों की आवाज़ों में से, एक आवाज़ बायीं दीवार से टकरा रही थी, एक दायीं से।

"रात का सिर्फ़ डुइट होता है।" मर्द हंस-सा पड़ा और कहने लगा, "पर सवेरे पूरा कोरस होता है। बायें हाथवाली कोठी में कोई अमरीकन है। उस के सारे कमरे एयरकण्डीशण्ड है, इसलिए उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, पर सुबह के वक़्त उस का ख़ानसामाँ, उस का बैरा, और कोठी का जमादार, जिस तरह एक-दूसरे पर भूंकते है, लगता है, कोठी मे एक नहीं पूरे चार कुत्ते भूंक रहे हैं··"

'डार्लिंग, तुम सोने की कोशिश क्यों नहीं करते?" औरत ने, थक गयी औरत ने, कहा।

'आई एम ड्रिंकिंग फ़ॉर दी हेल्थ ऑफ़ डॉग्ज़···"

औरत चुप-सी पलंग की बाँही पर बैठ गयी।

"तुम ने मेरी पूरी बात नहीं सुनी। मैं तुम्हें बता रहा था सुबह, बिलकुल सुबह एक कोरस होता है · हर रोज़! क्या, तुम नहीं सुनती?···बायें हाथवाली कोठी अमरीकन की है, पर दायें हाथवाली किसी देशी कर्नल की। वह एयर-कण्डीशण्ड नहीं—इसलिए उस के हरेक कमरे में से आवाज़ आती है। उस की बीवी—वह कर्नैलिनी—रोज़ सवेरे अपने नौकरों पर कुत्ते की तरह भूंकती है ···सिर्फ़ नौकरों पर नहीं, कर्नल पर भी···वी आर सराउण्डेड बाई डॉग्ज़··· सी हाऊ मैनी डॉग्ज़ ·[3] और फिर मेरे दफ़्तर में रोज़ किसी मिल-मालिक की चिट्ठी, कोई शिकायत, कोई तक़ाज़ा, कोई और नयी डिमाण्ड···माई गॉड···

1. मैं इस युगलगान का जश्न मना रहा हूं।
2. यह जाम कुत्तों की सेहत के लिए।
3. हम कुत्तों से घिरे···ये कितने कुत्ते हैं···

आई काण्ट काउण्ट दीज़ डॉग्ज़…"[1]

"प्लीज़ डार्लिंग…" औरत ने पलंग की बाँही से उठकर, मर्द की बाँह पकड़ी, और उसे पलंग के पास लाकर बिठाना चाहा। उस के हाथ का गिलास उस ने मेज़ पर रख दिया।

"क्यों अपनी रात वीरान करते हो," औरत ने हलीमी मे कहा।

"रात नहीं डार्लिंग, उम्र…"

"तुम इस सब कुछ को वीरानी कैसे कहते हो?" औरत ने ज़रा ज़ोर से कहा, "अभी नया कारोबार है, शुरू में कुछ रिश्वतें, खुशामदें होती ही हैं, फिर जब अपने पैरों पर हो जायेगा…"

"यह अपने पैरों पर हो जायेगा… यानी मैं अपने पैरों पर…अपने पैरों पर कभी कुछ नहीं होता, डार्लिंग। यहाँ जो किसी को चलना है तो, किसी दूसरे के पैर लेकर चलना है…एक ने दूसरे के, दूसरे ने तीसरे के…तीसरे ने चौथे के… सब ने उधार लिये पैरों से, अपाहिज होकर…यह मेरा कारोबार नया है, पर बाक़ी और सब के…"

"डार्लिंग…"

"मेरे पैर…" मर्द ने एक बल-सा खाया, पलंग की बाँही पर से उठकर खड़ा हो गया। फिर शीशे के सामने आया—"देख सामने। यह मैं बूटों के तसमे खोलता हूँ उस मे देख किस के पैर हैं—माई गॉड! निरे उस सेठ के पैर …यह शीशा आज डोरियन ग्रे की पेण्टिग की तरह…"

"इस बरस यह एक सेठ के पैर है, पिछले बरस ज़रूर एक बैंकर के पैर होंगे। पिछले बरस मैं ने यह शीशा नहीं देखा था। इस तरह नहीं देखा था… और उस से पिछले बरस…" मर्द ने एक बार बोखलाकर औरत की तरफ़ देखा, और पूछा, "कितने बरस हुए हैं? जिस बरस मैं ने तुम्हारे साथ विवाह किया था, उसी बरस…"

"सिर्फ़ पाँच बरसों में मेरी शक्ल बदल गयी है? और पाँच में या और पाँच में यह शक्ल…"

"तुम्हारी शक्ल उसी तरह है।" औरत ने कहना चाहा। पर कहा नहीं। पहले भी वह यह बात कह चुकी थी। कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था।

"तुम चुप क्यों हो?" मर्द ने अचानक पूछा।

औरत फिर भी नहीं बोली।

"ह्वाई डोण्ट यू बार्क लाइक ए डॉग…"[2]

औरत के मन में एक बेचैनी-सी हुई। उसे लगा कि वह सचमुच कुछ कहना

1. मैं इन कुत्तों की गिनती नहीं कर पाता…
2. तुम कुत्ते की तरह क्यों नहीं भूँकते…

चाहती थी—कहना नहीं, एक कुत्ते की तरह···और औरत ने अपनी छाती पर एक हाथ रख लिया। उसे लगा, उस की छाती धौंक रही थी।

'तुम अब भी चुप हो, उस वक़्त भी चुप थीं···" अचानक मर्द ने कहा।

"उस वक़्त ? किस वक़्त ?" औरत चौंक-सी गयी।

मर्द फिर हँस-सा पड़ा, कहने लगा, "तुम्हारा खयाल है, मैं ने देखा नहीं था ? जिस वक़्त उस सेठ ने तुम से हाथ मिलाया था, कहा था, 'थैंक यू मैडम···' और उस ने तुम्हारा हाथ भींचा था···तुम्हारी तरफ़ देखते हुए उस की नज़र एक शिकारी कुत्ते की तरह···"

औरत कुछ देर मर्द की तरफ़ देखती रही, फिर कहने लगी, "एक हमारे पहले घर की पड़ोसिन थी, उस का मर्द आये दिन घर में नयी औरत लाता था। वह हमेशा चुप रहती थी। मुझे भी कुछ ऐसा ही लगा था···उस बात का इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं, पर फिर भी कुछ इसी तरह लगा था···मैं ने सोचा, मेरे कुछ बोलने से तुम्हारा कारोबार···"

औरत ने आँखों में आये हुए पानी को पसीने की तरह पोंछा।

"मैं भी चुप रहा था," मर्द ने कहा और मेज़ पर रखा हुआ गिलास फिर हाथ में पकड़ लिया। गिलास को आख़िरी घूंट तक पीता हुआ कहने लगा, "इट इज़ फ़ॉर आल द डॉग्ज़···द मैड वंस···द हण्टिंग वंस···द बार्किंग वंस··· एण्ड[1]···" मर्द ने पहले मुसकराकर औरत की तरफ़ देखा, फिर शीशे में, और कहा—'एण्ड द साइलैण्ट वंस···"[2]

1. यह जाम सारे कुत्तों के लिए है···पागल कुत्तों के लिए···शिकार करनेवाले कुत्तों के लिए ···भूंकनेवाले कुत्तों के लिए···और···
2. और उन कुत्तों के लिए जो चुप रहते हैं···

शाह की कंजरी

उसे अब नीलम कोई नही कहता था, सब शाह की कजरी कहते थे।

नीलम को लाहौर हीरामण्डी के एक चौबारे में जवानी चढी थी। और वहाँ ही एक रियासती सरदार के हाथों पूरे पाँच हजार में उस की नथ उतरी थी। और वहाँ ही उस के हुस्न ने आग जलाकर सारा शहर झुलस दिया था। पर फिर एक दिन वह हीरामण्डी का सस्ता चौबारा छोड़कर शहर के सब से बड़े होटल फ्लैटी मे आ गयी थी।

वही शहर था, पर सारा शहर जैसे रातोरात उसका नाम भूल गया हो, सब के मुँह से सुनायी देता था—शाह की कजरी।

ग़जब का गाती थी। कोई गानेवाली उस की तरह गिरजे की 'सद' नही लगा सकती थी। इसलिए लोग चाहे उस का नाम भूल गये थे पर उस की आवाज़ नही भूल सके। शहर मे जिस के घर भी तवेवाला बाजा था, वह उस के भरे हुए तव जरूर खरीदता था। पर सब घरों मे तवे की फ़रमाइश के वक़्त हर कोई यही कहता था, "आज शाह की कंजरीवाला तवा जरूर सुनना है।"

लुकी-छिपी बात नही थी, शाह के घरवालों को भी पता था। सिर्फ़ पता ही नही था, उन के लिए बात भी पुरानी हो गयी थी। शाह का बड़ा लड़का जो अब ब्याहने लायक था, जब गोद मे था तो सेठानी ने ज़हर खाकर मरने की धमकी दी थी, पर शाह ने उस के गले मे मोतियों का हार डालकर उसे कहा था, "शाहनीये! वह तेरे घर की बरकत है। मेरी आँख जौहरी की आँख है, तू ने सुना हुआ नही कि नीलम ऐसी चीज होता है, जो लाखों को ख़ाक कर देता है और खाक को लाख बनाता है। जिसे उलटा पड़ जाये, उस के लाख के ख़ाक बना देता है। पर जिसे सीधा पड़ जाये उसे खाक़ से लाख बना देता है। वह भी नीलम है, हमारी राशि से मिल गया है। जिस दिन से साथ बना है, मैं मिट्टी में हाथ डालूँ तो सोना हो जाती है···"

"पर वही एक दिन घर उजाड़ देगी, लाखों को खाक कर देगी," शाहनी ने

छाती की साल सहकर उसी तरफ़ से दलील दी थी, जिस तरफ़ से शाह ने बात चलायी थी।

"मैं तो बल्कि डरता हूँ कि इन कंजरियों का क्या भरोसा, कल किसी और ने सब्ज़बाग़ दिखाये, और जो यह हाथों से निकल गयी, तो लाख से ख़ाक बन जाना है।" शाह ने फिर अपनी दलील दी थी।

और शाहनी के पास और दलील नहीं रह गयी थी। सिर्फ़ वक़्त के पास रह गयी थी और वक़्त चुप था, कई बरसों से चुप था। शाह सचमुच जितने रुपये नीलम पर बहाता, उस से कई गुना ज्यादा पता नहीं कहाँ-कहाँ से बहकर उस के घर आ जाते थे। पहले उस की छोटी-सी दुकान शहर के छोटे-से बाज़ार में होती थी, पर अब सब से बड़े बाज़ार में लोहे के जंगलेवाली, सब से बड़ी दुकान उस की थी। घर की जगह पूरा महल्ला ही उस का था, जिसमें बड़े खाते-पीते किरायेदार थे। और जिस में तहख़ानेवाले घर को शाहनी एक दिन के लिए भी अकेला नहीं छोड़ती थी।

बहुत बरस हुए, शाहनी ने एक दिन मोहरोंवाले ट्रंक को ताला लगाते हुए शाह से कहा था, "उसे चाहे होटल में रखो और चाहे उसे ताजमहल बनवा दो, पर बाहर की बला बाहर ही रखो, उसे मेरे घर ना लाना। मैं उस के माथे नहीं लगूँगी!"

और सचमुच शाहनी ने अभी तक उस का मुँह नहीं देखा था। जब उसने यह बात कही थी, उस का बडा लड़का स्कूल में पढ़ता था, और अब वह ब्याहने लायक़ हो गया था, पर शाहनी ने न उस के गानेवाले तवे घर में आने दिये, और न घर में किसी को उस का नाम लेने दिया था।

वैसे उस के बेटों ने दुकान-दुकान पर उस के गाने सुन रखे थे, और जने-जने से सुन रखा था—'शाह की कंजरी।'

बड़े लड़के का ब्याह था। घर पर चार महीने से दर्ज़ी बैठे हुए थे, कोई सूटों पर सलमा काढ़ रहा था, कोई तिल्ला, कोई किनारी, और कोई दुपट्टे पर सितारे जड़ रहा था। शाहनी के हाथ भरे हुए थे—रुपयों की थैली निकालती, खोलती, फिर और थैली भरने के लिए तहख़ाने में चली जाती।

शाह के यार-दोस्तों ने शाह की दोस्ती का वास्ता डाला कि लड़के ब्याह पर कंजरी ज़रूर गवानी है। वैसे बात उन्होंने बड़े तरीक़े से कही थी ताकि शाह कभी बल न खा जाये, "वैसे तो शाहजी की बहुतेरी गाने-नाचनेवाली है, जिसे मरज़ी हो बुलाओ। पर यहाँ मलिका-ए तरन्नुम ज़रूर आये, चाहे मिरजे की एक ही 'सद' लगा जाये।"

फ़्लैटी होटल आम होटलों जैसा नहीं था। वहाँ ज़्यादातर अँगरेज लोग ही आते और ठहरते थे। उस में अकेले-अकेले कमरे भी थे, पर बड़े-बड़े तीन कमरों

के सैट भी। ऐसे ही एक सैट में नीलम रहती थी। और शाह ने सोचा – दोस्तों-यारों का दिल खुश करने के लिए वह एक दिन नीलम के यहाँ एक रात की महफ़िल रख लेगा।

'यह तो चौबारे पर जानेवाली बात हुई," एक ने उज्र किया तो सारे बोल पड़े, "नहीं, शाहजी! वह तो सिर्फ़ तुम्हारा ही हक़ बनता है। पहले कभी इतने बरस हम ने कुछ कहा है? उस जगह का भी नाम नहीं लिया। वह जगह तुम्हारी अमानत है। हमें तो भतीजे के ब्याह की ख़ुशी मनानी है, उसे ख़ानदानी घरानों की तरह अपने घर बुलाओ, हमारी भाभी के घर…"

बात शाह के मन भा गयी। इसलिए कि वह दोस्तों-यारों को नीलम की राह दिखाना नहीं चाहता था (चाहे उस के कानों में भनक पड़ती रहती थी कि उस की ग़ैर-हाज़िरी में कोई-कोई अमीरज़ादा नीलम के पास आने लगा था)—दूसरे इसलिए भी कि वह चाहता था, नीलम एक बार उस के घर आकर उस के घर की तड़क-भड़क देख जाये। पर वह शाहनी से डरता था, दोस्तों को हामी न भर सका।

दोस्तों-यारों में से दो ने राह निकाली, और शाहनी के पास जाकर कहने लगे, "भाभी, तुम लड़के की शादी के गीत नहीं गवाओगी? हम तो सारी ख़ुशियाँ मनायेंगे। शाह ने सलाह की है कि एक रात यारों की महफ़िल नीलम की तरफ़ हो जाये। बात तो ठीक है पर हज़ारों उजड़ जायेंगे। आख़िर घर तो तुम्हारा है, पहले उस कंजरी को थोडा खिलाया है? तुम सयानी बनो। उसे गाने-बजाने के लिए एक दिन यहाँ बुला लो। लड़के के ब्याह की ख़ुशी भी हो जायेगी और रुपया उजड़ने से बच जायेगा।"

शाहनी पहले तो भरी-भरायी बोली, "मैं उस कंजरी के माथे नहीं लगना चाहती," पर जब दूसरों ने बड़े धीरज से कहा, "यहाँ तो भाभी तुम्हारा राज है। वह बाँदी बनकर आयेगी, तुम्हारे हुक्म में बँधी हुई, तुम्हारे बेटे की ख़ुशी मनाने के लिए। हेठी तो उस की है, तुम्हारी काहे की? जैसे कमीन-कुमने आये, डोम-मिरासी, वैसी वह।"

बात शाहनी के मन भन भा गयी। वैसे भी कभी सोते-बैठते उसे ख़याल आता था – एक बार देखूँ तो सही कैसी है?

उस ने उसे कभी देखा नहीं था पर कल्पना ज़रूर थी – चाहे डरकर, सहमकर, चाहे एक नफ़रत से। और शहर में से गुज़रते हुए, अगर किसी कंजरी को टाँगे में बैठी देखती तो न सोचते हुए ही सोच जाती—क्या पता, वही हो?

"चलो एक बार मैं भी देख लूँ,' वह मन में घुल-सी गयी, "जो उस को मेरा बिगाड़ना था, बिगाड़ लिया, अब और उसे क्या कर लेना है! एक बार

चन्दरा को देख तो लूं।"

शाहनी ने हामी भर दी, पर एक शर्त रखी—"यहाँ न शराब उड़ेगी, न कबाब। भले घरों में जिस तरह गीत गाये जाते हैं, उसी तरह गीत करवाऊँगी। तुम मर्द-मानस भी बैठ जाना। वह आये और सीधी तरह गाकर चली जाये। मैं वही चार बताशे उस की झोली में भी डाल दूँगी जो और लड़कियों-बड़कियों को दूँगी, जो बन्ने, सेहरे गायेंगी।"

"यही तो भाभी, हम कहते हैं।" शाह के दोस्तों ने फूंक दी, "तुम्हारी समझदारी से ही तो घर बना है, नहीं तो क्या खबर क्या हो गुजरना था।"

वह आयी। शाहनी ने खुद अपनी बग्घी भेजी थी। घर मेहमानों से भरा हुआ था। बड़े कमरे में सफ़ेद चादरें बिछाकर, बीच में ढोलक रखी हुई थी। घर की औरतों ने बन्ने-सेहरे गाने शुरू कर रखे थे···

बग्घी दरवाज़े पर आ रुकी, तो कुछ उतावली औरतें दौड़कर खिड़की की एक तरफ़ चली गयी और कुछ सीढ़ियों की तरफ़···

"अरी, बदशगुनी क्यों करती हो, सेहरा बीच में ही छोड़ दिया।" शाहनी ने डाँट-सी दी। पर उस की आवाज़ खुद ही धीमी-सी लगी। जैसे उस के दिल पर एक धमक-सी हुई हो···

वह सीढ़ियाँ चढकर दरवाज़े तक आ गयी थी। शाहनी ने अपनी गुलाबी साड़ी का पल्ला सँवारा, जैसे सामने देखने के लिए वह साड़ी के शगुनवाले रंग का सहारा ले रही हो···

सामने उस ने हरे रंग का बाँकड़ीवाला गरारा पहना हुआ था, गले में लाल रंग की क़मीज़ थी और सिर से पैर तक ढलकी हुई हरे रेशम की चुनरी। एक झिलमिल-सी हुई। शाहनी को सिर्फ़ एक पल यही लगा—जैसे हरा रंग सारे दरवाज़े में फैल गया था।

फिर हरे काँच की चूड़ियों की छनछन हुई, तो शाहनी ने देखा—एक गोरा-गोरा हाथ एक झुके हुए माथे को छूकर आदाब बजा रहा है, और साथ ही एक झनकती हुई-सी आवाज़—"बहुत-बहुत मुबारिक, शाहनी! बहुत-बहुत मुबारिक···"

वह बड़ी नाज़ुक-सी, पतली-सी थी। हाथ लगते ही दोहरी होती थी। शाहनी ने उसे गाव-तकिये के सहारे हाथ के इशारे से बैठने को कहा, तो शाहनी को लगा कि उस की मांसल बाँह बड़ी ही बेडौल लग रही थी···

कमरे के एक कोने में शाह भी था। दोस्त भी थे, कुछ रिश्तेदार मर्द भी। उस नाज़नीन ने उस कोने की तरफ़ देखकर भी एक बार सलाम किया, और फिर परे गाव-तकिये के सहारे ठुमककर बैठ गयी। बैठते वक़्त काँच की चूड़ियाँ

फिर छनकी थीं, शाहनी ने एक बार फिर उस की बाँहों को देखा, हरे काँच की चूड़ियों को और फिर स्वाभाविक ही अपनी बाँह में पड़े हुए सोने के चूड़े को देखने लगी···

कमरे में एक चकाचौंध-सी छा गयी थी। हरेक की आँखें जैसे एक ही तरफ़ उलट गयी थीं, शाहनी की अपनी आँखें भी, पर उसे अपनी आँखों को छोड़कर सब की आँखों पर एक ग़ुस्सा सा आ गया···

वह फिर एक बार कहना चाहती थी—अरी बदशगुनी क्यों करती हो? सेहरे गाओ ना···पर उस की आवाज़ गले में घुटती-सी गयी थी। शायद औरों की आवाज़ भी गले में घुट गयी थी। कमरे में एक ख़ामोशी छा गयी थी। वह अधबीच रखी हुई ढोलक की तरफ़ देखने लगी, और उस का जी किया कि वह बड़ी ज़ोर से ढोलक बजाये···

ख़ामोशी उस ने ही तोड़ी जिस के लिए ख़ामोशी छायी थी। कहने लगी, "मैं तो सब से पहले घोड़ी गाऊँगी, लड़के का 'सगन' करूँगी, क्यों शाहनी?" और शाहनी की तरफ़ ताकती, हँसती हुई घोड़ी गाने लगी, 'निक्की निक्की बूंदी निकियां मीह वे वरे, तेरी माँ व सुहागन तेरे सगन करे···'

शाहनी को अचानक तसल्ली-सी हुई—शायद इसलिए कि गीत के बीच की माँ वही थी, और उस का मर्द भी सिर्फ़ उस का मर्द था—तभी तो माँ सुहागन थी···

शाहनी हँसते-से मुँह से उस के बिलकुल सामने बैठ गयी—जो उस वक़्त उस के बेटे के सगन कर रही थी···

घोड़ी ख़त्म हुई तो कमरे की बोलचाल फिर से लौट आयी। फिर कुछ स्वाभाविक-सा हो गया। औरतों की तरफ़ से फ़रमाइश की गयी—"ढोलकी रोड़ेवाला गीत।" मर्दों की तरफ़ से फ़रमाइश की गयी—"मिरज़े दियाँ सद्दाँ।"

गानेवाली ने मर्दों की फ़रमाइश सुनी-अनसुनी कर दी, और ढोलकी को अपनी तरफ़ खींचकर उस ने ढोलकी से अपना घुटना जोड़ लिया। शाहनी कुछ रौ में आ गयी—शायद इसलिए कि गानेवाली मर्दों की फ़रमाइश पूरी करने के बजाय औरतों की फ़रमाइश पूरी करने लगी थी···

मेहमान औरतों में से शायद कुछ एक को पता नहीं था। वह एक-दूसरे से कुछ पूछ रही थीं, और कई उन के कान के पास कह रही थीं—"यही है शाह की कंजरी···"

कहनेवालियों ने शायद बहुत धीरे से कहा था—खुसुरफुसुर-सा, पर शाहनी के कान में आवाज़ पड़ रही थी, कानों से टकरा रही थी—शाह की कंजरी··· शाह की कंजरी···और शाहनी के मुँह का रंग फिर फ़ीका पड़ गया।

इतने में ढोलक की आवाज़ ऊँची हो गयी और साथ ही गानेवाली की

आवाज़, "सूहे वे चीरे वालिया मैं कहनी हाँ···" और शाहनी का कलेजा थम-सा गया — यह सूहे चीरेवाला मेरा ही बेटा है, सुख से आज घोड़ी पर चढ़नेवाला मेरा बेटा···

फ़रमाइश का अन्त नहीं था। एक गीत ख़त्म होता, दूसरा गीत शुरू हो जाता। गानेवाली कभी औरतों की तरफ़ की फ़रमाइश पूरी करती, कभी मर्दों की। बीच-बीच में कह देती, "कोई और भी गाओ ना, मुझे साँस दिला दो।" पर किस की हिम्मत थी, उस के सामने होने की, उस की टल्ली-सी आवाज़··· वह भी शायद कहने को कह रही थी, वैसे एक के पीछे झट दूसरा गीत छेड़ देती थी।

गीतों की बात और थी, पर जब उस ने मिरजे की हेक लगायी, "उठ नी साहिबा सुत्तीये ! उठ के दे दीदार···" हवा का कलेजा हिल गया। कमरे में बैठे मर्द बुत बन गये थे। शाहनी को फिर घबराहट-सी हुई, उस ने बड़े ग़ौर से शाह के मुँह की तरफ़ देखा। शाह भी और बुतों सरीखा बुत बना हुआ था, पर शाहनी को लगा वह पत्थर का हो गया था···

शाहनी के कलेजे में हौल-सा हुआ, और उसे लगा अगर यह घड़ी छिन गयी तो वह आप भी हमेशा के लिए बुत बन जायेगी···वह करे, कुछ करे, कुछ भी करे, पर मिट्टी का बुत ना बने···

काफ़ी शाम हो गयी, महफ़िल ख़त्म होनेवाली थी···

शाहनी का कहना था, आज वह उसी तरह बताशे बाँटेगी, जिस तरह लोग उस दिन बाँटते हैं जिस दिन गीत बैठाये जाते हैं। पर जब गाना ख़त्म हुआ तो कमरे में चाय और कई तरह की मिठाई आ गयी···

और शाहनी ने मुट्ठी में लपेटा हुआ सौ का नोट निकालकर, अपने बेटे के सिर पर से वारा, और फिर उसे पकड़ा दिया, जिसे लोग शाह की कंजरी कहते थे।

"रहने दे, शाहनी। आगे भी तेरा ही खाती हूँ।" उस ने जवाब दिया और हँस पड़ी। उस की हँसी उस के रूप की तरह झिलमिल कर रही थी।

शाहनी के मुँह का रंग हलका पड़ गया। उसे लगा, जैसे शाह की कंजरी ने आज भरी सभा में शाह से अपना सम्बन्ध जोड़कर उस की हतक कर दी थी। पर शाहनी ने अपनाआप थाम लिया। एक जेरासा किया कि आज उस ने हार नहीं खानी थी। और वह ज़ोर से हँस पड़ी। नोट पकड़ाती हुई कहने लगी, "शाह से तू ने नित लेना है, पर मेरे हाथ से तू ने फिर कब लेना है ? चल, आज ले ले···"

और शाह की कंजरी, सौ के नोट को पकड़ती हुई, एक हा बार में हीनी-सी हो गयी···

कमरे में शाहनी की साड़ी का सगुनवाला गुलाबी रंग फैल गया···

दो खिड़कियाँ

इमारतों जैसी इमारत थी, पांच मंजिलोंवाली। जैसी और, वैसी वह। और जैसे औरों में पन्द्रह-पन्द्रह घर थे, वैसे ही, उस में भी। बाहर से कुछ भी भिन्न नहीं था, सिर्फ़ अन्दर से···

"यह जो एक-सा दिखते हुए भी एक-सा नहीं होता, यह···" डांका इस 'यह' के आगे की ख़ाली जगह को देखने लगती···

"ख़ाली जगह का क्या होता है, उसे जब तक चाहे देखते रहो···पर जो ख़ाली दिखता है, क्या सचमुच ही ख़ाली होता है···" और डांका को लगता जैसे ऐसी बहुत-सी बातें थीं जिन के शब्द उस के पास रह गये थे और अर्थ उस ख़ाली जगह चले गये थे···

आज भी डाँका अपने बड़े कमरे की एक-एक चीज़ को देखती हुई शब्दों को ढूँढ़ने लगी, "न सही अर्थ, शब्द ही सही, पर वे भी कहाँ हैं ?"

डाँका के बड़े कमरे में दो खिड़कियाँ थीं। आगेवाली खिड़की की तरफ़ बड़ी सड़क थी, वहाँ बड़ी रात तक लोग आते-जाते रहते थे। पर पीछे की खिड़की की तरफ़ एक जंगल था, जिस के पेड़ कहीं आते-जाते नहीं थे। और डाँका दोनों खिड़कियों को देखते-देखते रो-सी पड़ती, "लगता है, शब्द आगे-वाली खिड़की में से निकलकर बाहर बड़ी सड़क पर चले गये हैं, और अर्थ पीछे की खिड़की में से निकलकर बाहर जंगल में चले गये हैं···"

और उन दोनों खिड़कियों के बीच जो जगह थी, डांका को लगा—वह दो देशों की शरहदों के बीच छोड़ी गयी थोड़ी-सी जगह थी, जहाँ वह कई वर्षों से खड़ी थी। बड़ी अकेली थी, पर वर्षों से वहीं खड़ी थी। उसे ख़याल आया कि वह कभी इधर की या उधर की सरहद पार कर किसी एक तरफ़ क्यों नहीं चली गयी थी ? पर उसे लगा—उस के पांव जैसे वर्षों से हिलते नहीं थे। और वह हमेशा वहीं की वहीं खड़ी रही थी।

आगे की खिड़की में से बड़ा शोर आता था--लोगों के पांव, ट्रामों के

पहिये—जैसे शब्दों का खड़ाक होता है—पर पीछे की खिड़की में से कोई खड़ाक नहीं आता था—जैसे अर्थों का कोई खड़ाक नहीं होता, और वे सिर्फ़ पेड़ों के पत्तों की तरह चुपचाप उग आते हैं, और चुपचाप झड़ जाते हैं।

कमरे में चीज़ें भी वैसी ही थीं, जैसी वह आप। एक गहरी लाल मख़मल का, शाही क़िस्म का दीवान था, जिस के ऊँचे बाज़ुओं पर सोने के रंग का पत्तर चढ़ा हुआ था। एक तरफ़ काली और चमकती हुई लकड़ी का मेज़ था, जिस पर नक़्क़ाशी का काम किया हुआ था। एक तरफ़ अलमारी थी, जिस में लम्बी गरदनोंवाली काँच की सुराहियाँ थीं, नीले फूलों से चित्रित प्लेटें थीं, और चाँदी के काँटे और चाँदी के चम्मच थे। तीनों दीवारों पर आयल पेंट की तीन बड़ी तस्वीरें थीं, जिन के बड़े-बड़े चौखटे सोने के रंग के पत्तरों से मढ़े हुए थे। और इस बड़े कमरे के दूसरे कोने में खाना खाने के लिए एक बहुत बड़ी मेज़ थी, जिस के गिर्द मख़मल की, बड़ी ऊँची पीठवाली, आठ कुर्सियाँ थीं। इसी बड़े कमरे में से एक दरवाज़ा एक छोटे कमरे में खुलता था, जिस में एक पलंग था जिस पर रेशम की एक बहुत बड़ी चादर बिछी हुई थी। उस के दोनों तरफ़ रखी हुई पीतल की तिपाइयों पर मीनाकारी की हुई थी। इसी कमरे की एक दीवार के साथ किताबों की अलमारी थी, जिस के ख़ानों में बड़ी महँगी जिल्दोंवाली किताबें चुनी हुई थीं।

इस सब कुछ की उमर भी डाँका जितनी थी—क्योंकि डाँका के बाप ने बताया था कि उस ने यह सब डाँका के जन्म पर ख़रीदा था। और अब जैसे डाँका की जवानी ढल गयी थी, इन चीज़ों की चमक-दमक भी ढल गयी थी—सोने के रंग के पत्तर बुझ गये थे, मख़मल फीका पड़ गया था।

ये चीज़ें भी डाँका की तरह बड़ी अकेली थीं—वह मेज़ पर खाना खाने बैठती तो आठ में से सात कुर्सियाँ ख़ाली रह जातीं। नीले फूलोंवाली प्लेटों में से सिर्फ़ एक पानी से धुलती। चाँदी की चम्मच में से सिर्फ़ एक चम्मच इस्तेमाल होता। और रेशमी चादरवाले बड़े पलग का सिर्फ़ एक कोना किसी ज़िन्दा आदमी की साँसें सुनता।

आज पीछे की खिड़की में खड़े-खड़े डाँका को वह वक़्त याद आ गया—जब ये सब की सब चीज़ें कहीं अलोप हो गयी थीं। उसे, उस की माँ को, और उस के बाप को, बाग़ियों ने आधी रात को उन के घर से निकाल दिया था, घर और घर की एक-एक चीज छीन ली थी। फिर उन तीनों को एक कैम्प में रखा गया था, जहाँ से वे एक दिन उस के बाप को वहाँ ले गये थे जहाँ से वह कभी वापस नहीं आया था। और माँ पगलायी-सी माँस की एक गठरी बन गयी थी। तब डाँका—एक कुँआरी कन्या···

उस का कौमार्य, डाँका को लगा, एक मर्द ने नहीं, राजनीति की एक

घटना ने भंग किया था : राज्य बदला और राज्य का प्रबन्धब दला। किसी का किसी चीज़ पर कोई हक़ नहीं रह गया था। किसी का किसी तरह के एतराज़ पर कोई अधिकार नहीं रह गया था। काम भी वही करना होता था, जिस का हुक्म मिले, सोचना भी वही होता था जिस का फ़रमान हो। डाँका को उस के बाप ने तीन ज़ुबानों की तालीम दी थी—एक अपने देश की ज़ुबान, एक फ्रेंच और एक जरमन। इतनी तालीम किसी बिरले के पास थी, इसलिए नयी राजनीति को उस की ज़रूरत थी। और डाँका ने जब उन ज़ुबानों में वही लिखना शुरू किया, जिस का उसे हुक्म मिला था, तो उसे लगा जैसे सरकारी हुक्म ने एक उचक्के मर्द की तरह उस का कौमार्य भंग कर दिया था।

बाप क़त्ल हुआ था, पर डाँका ने क़त्ल होते अपनी आँखों से नहीं देखा था। माँ जिस तरह से जी रही थी, उसे तब आँखों से देखना ऐसे था जैसे कोई रोज़ किसी को तिल-तिल क़त्ल होते देखे। माँ चारों तरफ़ देखा करती थी पर पहचानती कुछ नहीं थी। कभी डाँका का हाथ पकड़कर दूर तक देखते हुए पूछा करती, "हम कहाँ आ गये हैं ? हमारा शहर कहाँ गया ? यह किस का घर है ?" तो डाँका रोने रोने को हो उठती थी···

और जब कुछ शान्ति-सी हुई थी, डाँका को रहने के लिए यह घर मिला था, तब डाँका को एक ख़याल आया था—उस ने ऊँची पदवी के अधिकारियों की मिन्नत की थी कि वह पहले से भी ज़्यादा उन के हुक्म में रहेगी सिर्फ़ अगर कभी उस की ख़िदमतों के बदले में उसे कुछ वह सामान लौटा दिया जाये जो कभी उस के बाप के वक़्त घर में हुआ करता था।

डाँका की यह दरख़्वास्त मंज़ूर हो गयी थी और डाँका के इस ख़याल ने सचमुच ही उस की मदद की थी—माँ की आँखों में कुछ पहचान लौट आयी थी। कई बार वह उठकर मेज़ों और कुरसियों को ख़ुद पोंछने लगती थी। और फिर उस ने यह पूछना छोड़ दिया था कि यह किस का घर है।

सो डाँका के घर में कुछ वही चीज़ें थीं, जो एक दिन अलोप भी हुई थीं और प्रकट भी।

'पर', डाँका सोचा करती, 'जो कुछ ख़यालों और सपनों में से अलोप हो गया है, वह ?···' और डाँका उस 'वह' के आगे की ख़ाली जगह को कितनी-कितनी देर घूरती रहती···

(2)

डाँका ने मेज़ की एक दराज़ खोली। इस दराज़ में वह कुछ सिगरेट रखा करती थी, जो उन बोझिल पलों में पिया करती थी—जब उस के प्राण, सिगरेट के धुएँ की तरह, एक धुआँ-सा बन हवा में घुल जाना चाहते थे···

उसे वह दिन भी याद था, जब उस ने पहला सिगरेट पिया था। एक दिन माँ पलंग की रेशमी चादर को पलंग पर बिछा रही थी कि उसे अचानक याद हो आया था, "डाँका ! यह चादर तुम्हारे पिता चीन से ख़रीद कर लाये थे। देखो, मैं ने इसे कितना सँभालकर रखा है !"

जवाब में डाँका की आवाज़ काँप गयी थी, उसे ख़ौफ़-सा हुआ था कि अभी माँ को अपने मर्द की याद आ जायेगी और फिर वह बैठी-बैठी रोने लगेगी। पहले भी कई बार उसे बैठे-बैठे कुछ हो जाया करता था, पर ग़नीमत यह थी कि उस की माँ को यह नहीं पता था कि उस के मर्द का क़त्ल हो चुका है। उस के अचानक गुम हो जाने के सदमे ने उस के होश कुछ इस तरह छीन लिये थे कि उस ने ख़ुद ही सोचा और ख़ुद ही विश्वास बना लिया कि उस का मर्द किसी दूर देश में तिजारत करने के लिए चला गया, पर उस दिन डाँका को लगा—माँ के होश लौट रहे थे, घर की चीज़ों ने उस की कुछ पहचान लौटा दी थी, और अगर उसे कैम्प के दिनोंवाली लोगों की खुसुरफुसुर याद हो आयी...

डाँका ने उस का ध्यान चीज़ों में ही लगाये रखने के लिए जल्दी से पूछा था, "माँ, यह इतना ख़ूबसूरत पलंग कहाँ से बनवाया था ?"

"तुम्हारे पिता एक तसवीरोंवाली किताब लाये थे। मालूम नहीं, कहाँ से ! उस में इस पलग का नमूना था..."

"कुरसियों का नमूना भी उस में था ?"

"हाँ, कुरसियों का भी...ऐसी रगीली तसवीरें थीं, जैसे कुरसियों पर सचमुच ही मख़मल लगी हुई हों..."

"और माँ, ऐसी प्लेटें भी तो किसी और के पास नहीं..."

"ये तो वह फ्रांस से लाये थे, देखो मैं ने इन में से एक भी नहीं टूटने दी, अभी तक पूरी बारह है, गिनो तो भला..."

डाँका चाहती कि माँ का ध्यान कहीं लगा रहे, भले ही प्लेटें और चम्मच गिनने में ही। पर उसे इस में भी कठिनाई-सी अनुभव होती थी जब माँ को कुछ और ऐसी ही चीज़ें याद आ जाती थीं, जो अब वहाँ नहीं थीं। एक दिन तो माँ ने मोतियों की एक कंघी के लिए सारा दिन मुसीबत किये रखी थी— एक-एक चीज़ को खोलती और रखती वह कंघी को ऐसे ढूंढ़ रही थी जैसे सुबह वह ख़ुद ही कहीं रखकर भूल गयी हो।

पर उस दिन माँ को किसी और चीज़ की याद नहीं आयी थी। डाँका कुछ आश्वस्त हो चली थी कि अचानक माँ ने मेज़ की एक दराज़ खोलते हुए पूछा था, "अरी, डाँका, तुम्हारे पिता का यहाँ ख़त पड़ा हुआ था, कहाँ गया ?"

"ख़त..." डाँका चौंक उठी।

"कल तुम्हारे पिता का ख़त आया था कि अब वह बड़ी जल्दी आ जायेगा,

मैं ने कल तुम्हें बताया नहीं था ?"

"नहीं।"

"फिर ख़ुशी में भूल गयी हूँगी ? मैं ने यहाँ मेज़ की दराज़ में रखा था..."

डाँका को लगा—जैसे माँ को रात कोई सपना आया हो ।

"बोलती क्यों नहीं ? तुम ने लिया है ख़त ?" माँ पूछ रही थी, पर डांका से कुछ नहीं बोला जा रहा था।

माँ फिर ख़ुद ही पूछ रही थी, "पेरिस से आया था न ?" और ख़ुद ही दलीलों में पड़कर कह रही थी, "वहाँ से वह कहीं इटली ना चला जाये, अगर इटली चला गया..."

"इटली..." डाँका ने माँ का ध्यान दूसरी तरफ़ लगाने के लिए धीरे से कहा, "माँ, तुम कभी इटली गयी हो ?"

"नहीं, पर मुझे यह पता है कि इटली गया मर्द जल्दी नहीं लौटता। कई तो लौटते ही नहीं। क्या पता, तुम्हारे पिता भी..." और माँ कुछ ऐसी दलीलों में पड गयी थी कि वह खड़ी नहीं रह सकी थी। वह पलग की एक बाँही पर गुम-सुम-सी बैठ गयी थी।

डाँका के लिए माँ की यह हालत भी बुरी थी, जब वह पत्थर-सी हो जाया करती थी। उस ने माँ को एक असीम चुप्पी से बचाने के लिए पूछा, "पर, माँ, लोग इटली जाकर लौटते क्यों नहीं ?"

माँ कितनी ही देर उस के मुँह की तरफ़ देखती रही, फिर हँस-सी पड़ी, "मर्द किसी देश भी जाये, उस की औरत डरती नहीं, पर अगर इटली जाये तो औरत को उस का भरोसा नहीं रहता..."

"पर क्यों ?" डाँका भी हँस-सी पड़ी थी।

"तुम तो पगली हो," माँ को यह बात बताने में शर्म-सी आ रही थी, पर फिर वह सकोच से कहने लगी थी, "इटली की औरतें मर्दों पर जादू कर देती हैं..."

और फिर माँ ने एक गहरी साँस लेकर कहा था, "हाय रे ! वह कहीं इटली न चला जाये ! फिर मैं उमर भर यहाँ इन्तज़ार करती रहूँगी...वह नहीं आयेगा..."

उस दिन अकेले बैठकर डाँका ने ज़िन्दगी में पहला सिगरेट पिया था...

(3)

"सिगरेट का इतिहास कौन लिखेगा ?" डाँका को एक ख़याल-सा आया, "देखने को लगता है कि सिगरेट का इतिहास उस के नाम में होता है। अलग-अलग नाम में, अलग-अलग ब्राण्ड में—किसी का इतिहास पैंतीस वर्ष का, किसी का

पचास वर्ष का – फ़िल्मों में जब किसी का इश्तिहार रहता है, उस का इतिहास ऐसे ही बताया जाता है—पर यह सिगरेट का इतिहास कैसे हुआ ? यह तो उस कम्पनी विशेष का इतिहास हुआ···"

डाँका ने हाथवाले सिगरेट की आख़िरी आग से एक और सिगरेट सुलगाया और सोचने लगी, 'एक बार मेरे पिता ने मुझे ख़ुद बताया था कि उस ने पहला सिगरेट अपनी पहली कमाई के जशन के मौके पर पिया था। उस दिन वह बहुत ख़ुश था। पढ़ाई के दिनों में उसने इस तरह से संयम रखा था और मन से इक़रार कर लिया था कि जब तक वह अपनी हथेली पर अपनी कमाई के पैसे नहीं रखेगा, तब वह तक सुख की कोई चीज़ नहीं खरीदेगा···सो उस के लिए यह सुख की निशानी थी···'

डाँका के सिर को एक चक्कर-सा आया—शायद इसलिए कि उस ने सुबह मे कुछ नहीं खाया था। रविवार था, काम पर नहीं जाना था, इसलिए कुछ भी बनाने का उपक्रम नहीं किया था। कॉफ़ी की जगह उसने सिगरेट पी थी, रोटी और पनीर के टुकड़े की जगह भी सिगरेट, और सिगरेट की जगह भी सिगरेट।

और डाँका को ख़याल आया कि एक बार उस ने ख़लील जिब्रान की एक किताब में पढ़ा था, ख़लील के अपने हाथों का लिखा हुआ ख़त, कि उस ने एक दिन में दस लाख सिगरेट पिये थे···

डाँका फिर ख़यालों में डूब गयी—सिगरेट का असली इतिहास यह होता है कि किसी को किस वक़्त सिगरेट की तलब महसूस होती है···

और डाँका को पहाड़ी पर का वह गिरजा याद हो आया—जिस में पत्थरों की कुछ कन्दराएँ बनी हुई थीं। कहते हैं कि दो वर्ष पहले जब यहाँ तुर्कों का राज्य स्थापित हुआ था, लोगों पर बड़े ज़ुल्म हुए थे। तब कुछ विद्वान् इन कन्दराओं में चले गये थे और तुर्कों की नजर से छिपकर समय का इतिहास लिखते रहे थे···जंगलों के कन्दमूल और तम्बाकू के पत्ते खाकर वे गुज़ारा करते और इतिहास लिखते···

डाँका के मन में, पहाड़ों की कन्दराओं में बैठकर इतिहास लिखनेवालों के चेहरे, और ख़लील जिब्रान का उस की तस्वीरों में देखा हुआ चेहरा, गड्डमड्ड-से हो गये। सोचने लगी—तो यह भी सिगरेट का इतिहास है—किसी रचना की जरूरत के वक़्त···

फिर एक और याद उसके बदन में झुरझुरी-सी पैदा कर गयी। यह कोमारक की याद थी। उसके अन्दर भूख की एक लहर दौड़ गयी—"एक जिस्म को रोटी की भूख भी लगती है और दूसरे जिस्म की भी···"

डाँका ने सिगरेट का लम्बा कश लिया, और आँखें मींच लीं। हाथ, बाँहें

उस के होंठों के पास सो-सा गया। सिगरेट के साथ इकट्ठी होती रही राख जब झड़कर उस के मुंह पर गिरी तो उस की तपिश से वह चौंक उठी।

"कम्बख्त न जाने कहाँ होगा?" डाँका के मन में कुछ हुआ तो उसे लगा—उस के कमरे की दोनों खिड़कियाँ अचानक बन्द हो गयी थीं। और हर शब्द जो आगे की खिड़की में से बाहर चला गया था, हमेशा के लिए बाहर रह गया था। और हर अर्थ जो पीछे की खिड़की में से बाहर चला गया था, हमेशा के लिए बाहर रह गया था···

कमरे में सिगरेट जलता रहा, डाँका सुलगती रही···

"सिगरेट का इतिहास···" डाँका की आँखों के आगे धुन्ध सी छा गयी—शायद सिगरेट का धुआँ।

"यह पल, यह घड़ी···इस जैसे कई पल, कई घड़ियाँ···ये भी सिगरेट का इतिहास है···बेशक इन के लिए शब्द भी कोई नहीं, और अर्थ भी कोई नहीं···" डाँका ने पोरों में थामे हुए सिगरेट के आख़िरी टुकड़े को वहीं पर फेंक दिया।

वह ख़ुद बुझे हुए सिगरेट की तरह वहीं निढाल हो गयी जहाँ बैठी हुई थी।

"डाँका, तुम्हें मेरी क़सम, अपना ध्यान रखना। बोलो, रखोगी?"

"रखूँगी।"

"यह मैं तुम्हें अमानत दे रहा हूँ।"

"अमानत?"

"यह, मेरी डाँका, मेरी अमानत।"

डाँका बुझी हुई भी सुलग उठी। उस के कानों में कोमारक की आवाज़ भर रही थी···

"कोमारक कहाँ है? कहीं भी नहीं···" डाँका का मन व्याकुल हो उठा, "यहाँ सिर्फ़ मैं रह गयी हूँ, और उस की आवाज़···"

डाँका को एक बेचैनी भी महसूस हुई, एक चैन-सा भी मिला, "अगर व्यतीत की कुछ आवाज़ें भी आदमी के पास न रहतीं, आदमी का क्या बनता···"

साथ ही डाँका को अपना इक़रार याद हो आया कि वह कोमारक की अमानत थी, और उसे अमानत का ध्यान रखना था। उस ने उठकर कॉफ़ी का प्याला बनाया, पनीर का एक टुकड़ा प्लेट में रखा, और जब खाने लगी, उसे याद हो आया—कोमारक की जो नज़्म कभी जलसों में बड़े जोश के साथ सुनी जाती थी, वह नज़्म लिखते वक़्त उस ने कोई एक सौ सिगरेट पिये थे। कोमारक घर में भी कभी-कभी वह नज़्म बड़े मन से पढ़ा करता था—

"मैं शहीदों की क़ब्र पर जाकर
इक छुरी तेज़ कर रहा हूँ—

इक छुरी के दम से, इक बग़ावत आयेगी
औ' उन के लहू का बदला चुकायेगी···"

और डाँका हँसा करती थी, "एक नज़्म लिखते हुए तुम ने एक सौ सिगरेट पिये हैं, अभी तो तुम छुरी को तेज़ ही कर रहे हो, जब इस से बग़ावत लाओगे तब कितनी सिगरेट पीओगे ?"

पुरानी हँसी में से डाँका को नयी रुलायी आ गयी, "इन सिगरेटों का इतिहास कौन लिखेगा ? ये जो कोमारक ने इस नज़्म को लिखते वक्त पिये थे ?"

डाँका ने कॉफ़ी का आख़िरी घूंट भरा, और फिर एक सिगरेट पीते हुए ख़यालों में डूब गयी—"इस नज़्म का इतिहास भी कौन जानता है ? उस ने न जाने किस के लिए लिखी थी, लोगों ने किस के लिए समझी···"

"लोग जब इस नज्म पर तालियाँ बजाते हैं, मैं कुछ हैरान हो जाता हूँ," कोमारक कहा करता था ।

"वे समझते है, यह जो बग़ावत है, यह नज़्म उस का इतिहास है," डाँका उसे जवाब दिया करती थी ।

"यही तो मुश्किल है, यह जो कच्ची-पक्की-सी बग़ावत आयी , इस से क्या बदला है ? हुक्म नहीं बदले, सिर्फ़ हाकिमों के मुँह बदले है," कोमारक की आवाज़ कुछ ऊँची हो जाया करती थी ।

डाँका उस की आवाज को अपने होंठों से ढक दिया करती थी, "ख़ुदा का वास्ता है, यह बात किसी और के आगे न कहना ।"

"मुझे कुछ भी कहने में विश्वास नही, सिर्फ़ करने में विश्वास है," कोमारक हँस पड़ा करता था ।

"पर तुम्हारे-मेरे किये क्या होता है," डाँका उदास-सी हो जाया करती थी ।

"तुम्हें एक बात बताऊं ?' एक दिन कोमारक ने अचानक ऐसे कहा था कि डाँका बिलकुल ही नहीं जान सकी थी कि वह कौन-सी बात कहने लगा था, जिस का पहले उसे पता नहीं था ।

"क्या ?"

"वह मेरी नज़्म है न···"

"कौन-सी ? मरे हुओं की क़ब्र पर छुरी तेज़ करनेवाली कि कोई और ?"

"वही ।"

"हाँ ।"

"यह बड़ी देर से मेरे मन में थी, तब से जब इस पिछली बग़ावत का चेहरा कुछ निखर रहा था···"

"सो यह नज़्म इसी की देन है ?"

"जब इस की कल्पना की थी, तब इसी की थी, पर जब लिखी तो इस की न रही।"

"किस तरह ?"

"इसलिए कि यह बग़ावत अपने ही कहे पर क़ायम न रही। जो हथियार इस की हिफ़ाजत के लिए पकड़ा था, वही फिर इस से बचने के लिए पकड़ना पड़ गया···डाँका !"

"हाँ।"

"तुम्हारे पिता एक अमीर ताजर थे न ?"

"हाँ।"

"इस बगावत ने उसे इसलिए मरवाया कि धरती पर गढ़हे और टीले न रहें, पर बाद में अगर नये गढहे और टीले ही बनाने थे···"

डाँका ने जहाँ तक अपने बाप को देखा था, एक रहमदिल इनसान ही पाया था। सोचा करती थी शायद उस जैसी जगहवाले बाक़ी लोग उस जैसे न होते हों, पर जो था, उस के लिए यह सजा क्यों थी ?

जवाब कहीं से भी नहीं मिला था, इसलिए उसे अकसर चुप रह जाने की आदत पड़ गयी थी।

"क्यों डाँका ?" कोमारक के मन में जो कुछ था, उस दिन उस के मन में समा नहीं रहा था।

"तुम्हें पता है, मैं कभी गिरजे में क्यों नहीं जाती ? माँ कई बार जाने की जिद्द करती है, पर मैं टाल जाती हूं।" डाँका कुछ कहने-कहने को हो उठी थी। कहने लगी, "वहाँ के लोगों के उदास चेहरे मुझ से देखे नहीं जाते। शायद वहाँ एक ऐसी जगह है जो लोगों की उदासी को पनाह देती है—या लोग ही उस से तसल्ली का भ्रम लेने जाते हैं—जाने से कुछ नहीं सँवरता, पर जाते हैं—कोमारक !"

"हाँ।"

"असल में क़त्ल तो उन की उदासी को करना था···" डाँका के ये शब्द उस के मुँह में ही थे कि कोमारक ने उसे बाँहों में भर उस के शब्द चूम लिये थे। डाँका की आँखों में पानी भर आया था। उस ने सहमकर कोमारक के चेहरे की तरफ़ देखा था, जैसे भरी दुनिया में उसे मुश्किल से इस जैसा एक ही चेहरा मिला हो, और उसे विश्वास न हो रहा हो कि यह चेहरा उसे सदा दिखायी देता रहेगा।

आज डाँका को कोमारक याद आया तो इस तरह याद आया, जिस तरह उसे याद करने से वह मुद्दत से डर रही थी, और आज उस डर की मियाद ख़त्म हो गयी थी।

कोमारक को गये हुए पाँच वर्ष हो गये थे, डाँका उसे जी भरकर याद करने का मौक़ा बड़े यत्नों से टालती रही थी। जानती थी—वह इस तरह याद आया तो ज़िन्दगी का एक दिन भी उस से, उस के बिना, गुज़ारा नहीं जा सकेगा। पर दिन तो गुज़ारने ही थे, यह कोमारक की नसीहत भी थी, और ज़िन्दगी का दिलासा भी।

जब कोमारक को उस ने ख़ुद अपने हाथों विदा किया था, डाँका के हाथ बेहद मजबूर थे···

"यह भी ज़िन्दगी का रहम था—वह ज़िन्दगी में मिल गया, तीन साल मैं ने उस के साथ गुज़ार लिये···" डाँका को अपनी उमर के सारे वर्ष इस तरह याद आये, जैसे उस ने रेत के किनारे पर बैठकर कुछ ख़ाली सीपियाँ बटोरी हों। और कोमारक से मिलन इस तरह, जैसे एक दिन अचानक एक सीपी में से मोती निकल आया हो···

उन की मुलाक़ात एक सरकारी दफ़्तर में हुई थी—एक गहरी और लम्बी चुप में से। देखने को तो डाँका उसे रोज़ देखा करती थी, पर चेहरों की पहचान तो मिलाप नहीं होती···

एक दिन डाँका दफ़्तर में बड़ी उदास थी। जो लिख रही थी उस से नहीं लिखा जा रहा था। और दफ़्तर में ही उस की आँखें भर-भर आती थीं। कोमारक ने उसे बीमार समझा था, हाल पूछा था, पर डाँका जब तेज़ सिर दर्द कहकर, दफ़्तर से छुट्टी लेकर घर लौटी थी, कोमारक उसे घर तक छोड़ने आया था। घर आकर डाँका ने उस के और अपने लिए कॉफ़ी बनायी थी। किसी पर विश्वास करने की डाँका की आदत नहीं थी, पर उस दिन कॉफ़ी पीते हुए कोमारक के सामने उस के मुँह से निकल गया, "रोज़ इतना कुफ़्र नहीं तौला जाता, हिम्मत नहीं रह गयी ··"

और डाँका की आँखों में फिर पानी भर आया था, "लोग साँस रोके जी रहे हैं, मैं रोज़ उन की ख़ुशी के इश्तिहार लिखती हूँ। यह सब कुछ किस लिए करती हूँ, इसी लिए न कि ज़िन्दा रह सकूँ···"

यही विश्वास एक जड़ था जिस में से डाँका और कोमारक की दोस्ती उगी थी। और फिर कुछ महीनों के बाद उन्होंने विवाह कर के अपने ख़याल भी एक कर लिये थे, और सपने भी।

माँ के चेहरे पर एक रौनक-सी लौट आयी थी। सिर्फ़ एक दिन उस ने कहा था, "डाँका, तुम इटली अपने पिता को ख़त लिख देतीं तो तुम्हारा ख़त पढ़कर वह ज़रूर आ जाते। तुम उन के आने पर विवाह करतीं तो अच्छा था···" पर फिर कभी उस ने कुछ नहीं कहा था।

कोमारक ने ही एक बार माँ के चेहरे की तरफ़ देखकर, डाँका से अकेले में कहा था, "डाँका, यह जो नज़्म है न – क़ब्रों पर छुरी को तेज़ करनेवाली, तुम्हें पता है. वे कौन-सी क़ब्रें हैं ?"

"शहीदों की।" डाँका ने जवाब दिया था।

"हाँ शहीदों की, पर इस शब्द के बड़े अर्थ होते हैं···"

"किस तरह ?'

'ये उन मासूम लोगों की क़ब्रें भी हैं, जिन के ख़्वाहमख़्वाह क़त्ल होते हैं—जैसे तुम्हारे बाप की क़ब्र—और ये उन उदासियों की क़ब्रें भी हैं, जिन में मरे हुए नही, ज़िन्दा लोग रहते है, जैसे माँ···"

उस दिन कोमारक की छाती से सिर सटा डाँका बहुत रोयी थी।

डाँका और कोमारक का रिश्ता एक विश्वास की जड़ में से उगा था। और इस के साथ बेशुमार आँसू थे, जो शायद इस पौधे को पानी देने के लिए बने थे। डाँका को यह याद आया कि वह अपने विवाह की पहली रात भी रोयी थी···

यह वह रात थी—जब एक पूरी औरत एक पूरे मर्द से मिलती है – और उस रात डाँका ने कोमारक को बताया था, "दफ़्तर में जब भी बहुत झूठे लेख लिखती हूँ, घर आकर लगता है, जैसे पराये मर्द के साथ सोकर आयी हूँ। सारा जिस्म ग़लीज़ लगता है···" और डाँका की आँखों में पानी भर आया था, "सिर्फ़ आज पहली बार देखा है कि जिस्म पवित्र कैसे होता है।"

उस रात कोमारक की बाँहें डाँका के गिर्द से खुलती नही थीं। बार-बार कहता था, "तुम इतनी पाकीज़ा हो कि सोचता हूँ तुम्हें कहाँ छिपाऊँ।"

फिर साल गुजर गया, दो गुजर गये, तीसरा भी गुज़रने को हो आया। डाँका औरत थी, उस ने एक मर्द को पाकर अपनी सारी दुनिया उस तक समेट ली। पर कोमारक मर्द था, उस के लिए दुनिया क अर्थों का बड़ा विस्तार था। इर्द-गिर्द जो कुछ भी बदला था, सिर्फ़ शब्दों में बदला था, अर्थ वही थे जो एक हुकूमत के हुआ करते हैं। और नयी हुकूमत के और भी सख़्त हुआ करते हैं। कोमारक इन वर्षों में जो कुछ भी देख रहा था, उस बारे में किसी से कुछ नहीं कहता रहा था, पर अपनी नज़्मों को बताता रहा था – शायद चुप की क़ब्र पर वह छुरी तेज़ करता रहा था।

और फिर अचानक ख़बर मिली कि कोमारक की जान ख़तरे में थी···

शायद एक रात का भी भरोसा नहीं था। सिर्फ़ एक ही रास्ता था कि कोमारक रात-रात में ही देश में से निकल जाये, सरहद पार कर जाये···

डाँका सारी-की-सारी उस में समा जाना चाहती थी। उस ने कोमारक को जाने के लिए तैयार किया था, पर उस की छाती से अलग किये अलग नहीं हो रही थी···

पीछे माँ थी, माँ को कहीं भी अकेला नहीं छोड़ा जा सकता था। नहीं तो एक बार तो डाँका अनहोनी सोच गयी थी···

"अगर कहीं अनहोनी हो जाती—" डाँका की छाती में उबाल आया, "माँ तो बाद में एक साल भी ज़िन्दा नहीं रहती, वही ज़िन्दा रहती—यहाँ बस मैं रह गयी और ये दीवारें···"

और डाँका के लिए माँ का दुख भी ताज़ा हो आया—कोमारक ने जाते वक्त माँ से प्यार लिया। बताया कि उसे दूसरे देश में कुछ काम पड़ गया है, इसलिए वह अरसे बाद लौटेगा और माँ ने उसे ताक़ीद की थी कि वह चाहे जिस देश जाये, पर इटली नहीं···"

आज डाँका की आँखों में जैसे माँ के आँसू भर आये, "माँ जितनी देर ज़िन्दा रही, कहती रही—डाँका! उस का कोई ख़त आया? नहीं आया? वह ज़रूर इटली चला गया होगा···"

ख़त···डाँका ने यह शब्द ज़हर के घूंट की तरह पी लिया—उसे सिर्फ़ एक ख़त का पता था जो उस ने एक बार आँखों से देखा था। उसे पुलिस के महकमे में बुलाकर उस के नाम से आया हुआ कोमारक का ख़त उसे दिखाया गया था। उस में सिर्फ़ इतनी भर ख़बर थी कि वह ज़िन्दा फ्रांस पहुँच गया था। तब से डाँका का पुलिस से वास्ता पड़ा हुआ था, उसी रात से, जिस रात कोमारक घर से गया था। उस के जाने और पुलिस के आने में कुछ घण्टों का फ़ासला रहा था। कई महीने तो उसे यही चिन्ता रही थी कि वह ज़िन्दा भी था कि नहीं। फिर पुलिस ने उस का ख़त दिखाकर बेशक उसे कई हिदायतें दी थीं कि अगर फिर कभी उस का ख़त आया और उस ने ख़त का जवाब दिया तो अपनी जान की वह ख़ुद ज़िम्मेदार होगी, पर डाँका की एक चिन्ता दूर हो गयी थी, और उस घड़ी वही तसल्ली उस के लिए काफ़ी थी कि कोमारक ज़िन्दा था···

डाँका ने कभी उस के ख़त का इन्तज़ार नहीं किया था। उसे मालूम था कि कभी कोई ख़त उस तक नहीं पहुँचेगा। पर वह साल बिताती जा रही थी। ये साल चुप थे, व्यर्थ थे और डाँका को लग रहा था कि इन के शब्द आगे की खिड़की में से बाहर चले गये थे और इन के अर्थ पीछेवाली खिड़की में से बाहर गिर पड़े थे—पर···पर···

और डाँका 'पर' के आगे पड़ी हुई ख़ाली जगह पर जैसे ख़ुद खड़ी हो गयी, "कोमारक ! मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूँगी, तब तक इन्तज़ार करूँगी, जब तक तुम सब कब्रों पर जाकर अपनी छुरी तेज़ नहीं कर लेते।"

डाँका को लगा—इन बेशुमार क़ब्रों में एक क़ब्र उस के इन्तज़ार के सालों की भी थी···

और डाँका ने उठकर एक आशा से कमरे की दोनों खिड़कियां खोल दीं —एक शब्दों के लौट आने के लिए और एक अर्थों के पलट आने के लिए। पता नहीं कब—पर कभी···

एक शहर की मौत

अपनी बात करने से पहले पामपेई की बात करूँगी। पामपेई नेपल्ज़ के पास इटली का एक प्राचीन शहर था। इस से भी पहले यह समुद्री किनारे का शहर ईसापूर्व आठवीं शताब्दी में यूनान के समुद्री जहाज़ों का बन्दरगाह हुआ करता था। 310 ई. पू. में एक रोमन जहाज़ यहाँ आया था, पर पामपेई ने उसे तट से लौटा दिया था। पर आखिर यह शहर जीत लिया गया था, और 80 ई. पू. में यह रोमन कॉलोनी बन गया था।

फिर इस ने रोमन ज़बान, रोमन क़ानून और रोमन वास्तुकला अपना ली। कारोबारी जगह के साथ-साथ यह आरामगाह भी था। इस की आबादी बीस या बाईस हज़ार थी।

फ़रवरी '63 में यहाँ एक भयानक भूचाल आया। बहुत कुछ ढहकर ढेरी हो गया। पर इस का निर्माण फिर शुरू हो गया।

निर्माण ज़ारी था कि 24 अगस्त '79 को यहाँ लावा फूट पड़ा। और सारा शहर आग की गरम राख के नीचे ढँप गया।

यह गरम राख मेंह की तरह बरसी थी - धरती से छह फ़ुट ऊंची इस की तह जम गयी थी। और इस के लोग जहाँ बैठे या खड़े थे, वैसे के वैसे उस गरम राख में दब गये थे।

और इस तरह सारा शहर गरम राख और क़ुदरती धूल की बारह फ़ुट ऊँची तह के नीचे ढक गया। और कई सदियों तक ढका रहा।

सोलहवीं सदी में एक नहर निकालते हुए कुछ इमारतों के निशान मिले। और नेपल्ज़ के बादशाह ने मार्च 1748 में बाक़ायदा खुदाई शुरू करवायी। और 1763 में शिलाओं की लिखाई से पता लगा कि वह पामपेई के खँडहर हैं।

पहली चीज़ जो मिली, इस के बुत थे। फिर 1860 में इस में से मरे हुए लोगों के निशान मिले। राख में गड़े जहाँ-जहाँ भी थे, वहाँ प्लास्टर ऑफ़ पेरिस

डालकर ठीक वही रूपरेखा खोजी -- जैसे लोग खड़ हुए, बैठे, या भागते उस राख में गड़ गये थे।

और इसी तरह खोजा कि उस शहर के घर किस तरह के हुआ करते थे; पीढ़े, पलंग और पालने कैसे हुआ करते थे। हाउस ऑफ़ सिलवर वेडिंग, हाउस ऑफ़ गोल्डन क्यूपिड···और कहते है मूर्ति-कला यानी बुतकारी और वास्तु-कला में यह एक बड़ा अमीर शहर था···

मैं भी थी पामपेई की तरह···

पूरे पन्द्रह बरस मैं अपनी चुप और लन्दन की धुन्ध में लिपटी रही। रोज सवेरे उठकर मिस सिंह का जामा पहन लेती थी, और ईलिंग के एक स्कूल में नौकरी पर चली जाती थी।

पर इन छुट्टियों में मैं रोम गयी थी। मै ने रोम के गिरजे देखे, वहाँ कई औरतें मोमबत्तियाँ जला रही थीं, पर मुझे कोई मोमबत्ती जलाने का ख़याल नहीं आया था। रोम का वह चश्मा भी देखा, जिस में एक सिक्का डालकर लोग मुरादें माँगते हैं। पर मैं ने जेब में हाथ डाल कर कोई सिक्का नही निकाला था। फिर रोम से फ़्लोरेंस गयी थी। वहाँ माइकिल एंजलो के चौक में लोग कबूतरों को चुग्गा चुगा रहे थे और उन को हथेली पर बिठा कर तसवीरें उतरवा रहे थे पर मुझे अपनी तसवीर उतरवाने का कोई ख़याल नहीं आया था। फिर एक दिन रोम से नेपल्ज़ गयी थी, और वहाँ से आती बार रास्ते में पामपेई देखा था। पर पामपेई के खँडहरों में से घूम कर जब बाहर के दरवाजे के पास आयी तो लोहे के दरवाज़े ने मेरा हाथ पकड़ लिया था।

इस तरह तो कभी किसी मर्द ने भी मेरा हाथ नहीं पकड़ा था, मैं काँप गयी।

और लोहे का दरवाज़ा पिछली तरफ़—उन खँडहरो की तरफ़ ताकने लगा जहाँ कई स्तम्भ और कई दीवारों के टुकड़े खड़े थे।

और उस के कहने पर मैं भी उन्हें देखने लगी···

कही···कोई भी ओट नहीं थी—कभी होती होगी—कुछ चारों तरफ़ से बन्द कमरे रहे होंगे। और फिर उन के भी अन्दर कुछ कोठरियाँ। पर अब सब कुछ चौपट खुला हुआ था। सारे रहस्य नीचे बिछे हुए थे। और पता नहीं लगता था कि कौन सी राह किधर निकलती थी और जाती कहाँ थी। राह राहों के गले लगी हुई थी···

एक लोहे के हाथ ने मेरा हाथ पकड़ा हुआ था—मेरा हाथ सुन्न-सा होने लग पड़ा···

पहले मेरा दायाँ हाथ सुन्न हुआ, फिर दायीं बाँह, दायाँ कन्धा। फिर बायाँ हाथ, बायीं बाँह और बायाँ कन्धा।

मैं ने लोहे के दरवाज़े से परे होने के लिए एक ज़ोर लगाया—पर अब मेरे पैर भी सुन्न हो गये थे, लातें भी।

लगा—मैं भी पामपेई शहर की बीस हज़ार लाशों की तरह एक लाश थी वहाँ से जल्दी से बाहर निकलने के लिए दायाँ पैर आगे किया हुआ था, और बायें को आगे करने के लिए उस की एड़ी ज़रा सी उठी हुई—और फिर वहीं की वहीं एक गरम राख मे हमेशा के लिए लाश बन कर खड़ी रह गयी···

मैं किस दरवाज़े में से निकली थी, और किस राह पर जाना था कुछ पता नही।

अब तो सब घर ढह गये थे, और सभी राहें रो-रोकर एक-दूसरे से गले लग रही थीं···

फिर पता नही कितनी देर तक मेरी आँखें जलती और बुझती रही···

और फिर मेरी छाती मे कुछ सुबकने लगा कि इस पामपेई शहर की तरह मैं भी कभी हुआ करती थी···

पिछले पन्द्रह बरस मैं अपनी चुप मे और लन्दन की धुन्ध में ढँपी रही हूँ। पता नही यह चुप और यह धुन्ध कितने फ़ुट ऊँची थी—छह फ़ुट ज़रूर होगी—मेरे क़द से दो बालिश्त ऊँची कि मैं सारी की सारी उस के नीचे आ गयी थी···

और मै ने भी इस 'मैं' को कभी नही देखा था···

अब देख रही हूँ, मेरी छाती में एक शहर हुआ करता था, जैसे हर जवान हो रही लड़की की छाती मे एक शहर होता है।

और मेरे शहर मे एक सब से बड़े आँगनवाला घर था—मेरे माँ-बाप का घर; जहाँ एक सघन छायावाला पीपल का पेड़ था, एक लम्बी गली थी मेरी सग-सहेलियों की और गली के माथे पर एक बड़ का पेड़ था जो थके राहियो को सुख की साँस देता था···और वहाँ, मेरी गली के मोड़ से, दूर एक ऊँची अटारी दिखा करती थी; जहाँ रात को कितनी ही बत्तियाँ तारों सरीखी जलती थीं और रोज़ सुबह सवेरे जिस की दीवार में से सूरज उगता था···और मैं भी जैसे हर जवान हो रही लड़की अपने शहर की ऊँची अटारी को देखती है, इस अटारी को बार-बार देखा करती थी···

यह मेरा छोटा-सा शहर, फिर बड़ा हो गया। मै कॉलेज में पढ़ती थी, और कॉलेज के नाटकों मे खेलती थी। अगर हज़ारों नहीं, तो सैकड़ों वह पात्र मेरे शहर में बस गये थे, जिन्हे कहानियों में से निकालकर मैं मंच पर लायी थी।

मेरा कितना बड़ा शहर था—कितना सुन्दर···पामपेई सरीखा।

यह भी समुद्र के किनारे था—मेरा दिल समुद्र की तरह बहता था। और जब दूसरे देशों की किताबें पढ़ती थी, उन के पात्र नावों में बैठकर मेरे बन्दरगाह पर आ जाते थे···

और फिर एक दिन लावा फूटा, काली और बलती राख मेंह की तरह बरसती रही थी, और सारा शहर उस राख के नीचे दब गया था···

मैं ने —आज से पन्द्रह बरस पहले—जब उस शहर में से भाग निकलने के लिए दायाँ पैर आगे रखा था, और बायें पैर को आगे करने के लिए उस की एड़ी ज़रा-सी उठायी थी तो वहीं की वहीं उस बलती राख में हमेशा के लिए लाश बन गयी थी···

पामपेई शहर का, और मेरे शहर का इतिहास एक-सा है। शायद इसी लिए मैं पामपेई खँडहरों में चलती पता नहीं किस वक़्त अपने शहर के खँडहरों में पहुँच गयी···

सिर्फ़ एक फ़र्क़ है—पामपेई के किसी इनसान को अपनी लाश देखनी नसीब नहीं हुई थी और मैं ख़ुद अपनी लाश को देख रही हूँ।

बाक़ी सब कुछ उसी तरह है। यह भी कि जैसे पामपेई के किसी भी आदमी को कफ़न नसीब नहीं हुआ था। मेरे मरे हुए शहर के भी किसी आदमी को कफ़न नसीब नहीं हुआ। सब लाशों के मुँह नंगे हैं, पहचान सकती हूँ—और उस पहचान में से सब के नयन-नक़्श याद कर सकती हूँ···

यह मेरी लाश—लचीले-से जिस्म पर एक बड़ा सलोना चेहरा था। सीधी माँग निकालकर ढलवें बाल सँवारे होते थे। कमर में सफ़ेद रेशमी शलवार और गले में अकसर हरे रंग की क़मीज़ और हरे रंग का दुपट्टा होता था। कानों में पतली तार की बालियाँ। चेहरा भोला भी था, पर उस पर ताँबे-रँगी ज़िद भी होती थी, जिस से वह कभी बड़ा कोमल दिखता था, कभी बड़ा सख़्त !

शनिवार और इतवार स्कूल बन्द होता है। कभी-कभी यह दो दिन अकेली को मुहाल हो जाते थे। इसी लिए छुट्टियों में रोम गयी थी, नहीं तो इकट्ठे पन्द्रह दिन घर के कमरे में रहती तो चारों दीवारों के बीच में पाँचवीं दीवार बन जाती। पर रोम से आकर मैं लन्दन के अपने कमरे में नहीं, खँडहरों में चल रही हूँ···

खँडहरों मे मैं अकेली नहीं, और कितनी ही लाशें हैं···

आज शनिवार, कल इतवार, सोचा था—दो दिन इन खँडहरों में रहूँगी, और एक-एक लाश को पहचानूँगी। पर रात जॉर्ज का फ़ोन आया। उस ने एक फ़िल्म के लिए दो टिकट लिये हुए थे—एक अपने लिए, एक मेरे लिए। और मुझ से 'ना' न की गयी। शाम को उस के साथ फ़िल्म देखने चली गयी।

'डी कैमरन'—मशहूर इतावली फ़िल्म थी। इस में एक जवान हो रही लड़की को एक लड़का अच्छा लगता है। लड़का लड़की को सलाह देता है कि आज रात वह कमरे में सोने के बजाय अपने घर की छत पर सो जाये, वह आधी

रात घर के पिछवाड़े छत पर आ जायेगा। लड़की अपनी माँ से शाम के वक्त कहती है कि आज रात वह छत पर अपना बिस्तर बिछायेगी और बुलबुल का गीत सुनेगी। माँ मान जाती है, बाप भी। और फिर वह लड़की उस रात छत पर जाकर सो जाती है। सुबह-अँधेरे लड़की का बाप जब जागता है, सोचता है कि छत पर जाकर लड़की को देखूँ, कहीं उसे ठण्ड न लग गयी हो। और वह जब छत पर जाता है—वहाँ उस की बेटी के पास एक लड़का सोया होता है। दोनों के गले में कोई कपड़ा नहीं होता। वह घबराकर वापस आ जाता है, और बेटी की माँ को जगाता है, कहता, 'तेरी बेटी आज कोठे पर सोयी थी क्योंकि उसे बुलबुल का गीत सुनना था। जाकर देख ! उस ने बुलबुल पकड़ ली है···'

जॉर्ज मेरे साथ की सीट पर बैठा हुआ था, फ़िल्म देखते हुए उस ने मेरा हाथ अपनी टाँग पर रख लिया और कहने लगा, "यह बुलबुल तेरी है, ले ले।"

और फ़िल्म के बाद वह मुझे मेरे घर छोड़ने के लिए आया, रात मेरे पास रह गया। और रात फ़िल्म की उस लड़की की तरह मैं ने बुलबुल पकड़ी थी।

इस तरह की रात मैं ने जॉर्ज के साथ पहली बार गुज़ारी है, पर वैसे पहली बार नहीं। ऐसी रातें कभी-कभी गुज़ार लेती हूँ—किसी के साथ भी।

पहली बार—बहुत घबराकर ऐसी रात गुज़ारी थी। एक दिन मेरे जिस्म का रोम-रोम इस तरह बल उठा था जैसे मेरे जिस्म का एक ही अंग मेरे अंग-अंग में समा गया हो—और मेरे एक-एक रोम का मुँह रहम की तरह खुल गया हो···

उस दिन एक अजीब सबब बना था, नहीं तो मेरे संस्कार मेरे गिर्द इस तरह कसे हुए थे कि मैं गरम पानी की जगह रात को ठण्डे पानी से नहाकर जिस्म को बर्फ़ की डली बना लेती और रज़ाई में बेसुध सो जाती। पर उस दिन मैं अपनी एक दोस्त औरत को मिलने चली गयी। यह मेरी अँगरेज़ दोस्त क्लेअर बड़ी उमर की औरत है। उस दिन उस ने मुझे एक चीज़ दिखायी—एक मरदाना अंग, जो उसी हफ़्ते वह बाज़ार से ख़रीदकर लायी थी। उस में बैटरी के दो सेल पड़े हुए थे। उस ने बताया कि वह बैटरी के ज़ोर से चलता है···और उस के लफ़्ज़ जैसे उस दिन उस पर तरस खा रहे थे : 'क्या करूँ, अब इस उमर में कोई मर्द पास नहीं फटकता। तलाक़ लिये सात बरस हो गये हैं। पहले तो कभी दो-चार दिनों के लिए कोई जुड़ जाता था, पर अब ज्यों-ज्यों उमर ढल रही है···' और मुझे लगा, अगर मैं ने अपनी जवानी अपने संस्कारों को दे दी, तो आनेवाली उमर में मुझे भी एक दिन क्लेअर की तरह बाज़ार जाना पड़ेगा, और बैटरीवाला यह रबड़ का टुकड़ा मेरी क़िस्मत बन जायेगा···

और उस शाम मैं ने अपने एक थोड़े से वाक़िफ़ आदमी को खाना खाने बुलाया था। अपने मरण-दिन को अपना जन्म-दिन बताया था। फिर जल्दी से

खाना बनाया था। उस के लिए 'स्कॉच' ख़रीद कर लायी थी, और कमरे को ताज़े फूलों से सजाया था। अकेली औरत के पास अकेले मर्द ने मुश्किल से घण्टा भर किताबों और फ़िल्मों की बातें की थीं, फिर उस ने लालसा से मेरा हाथ पकड़ लिया था। मेरा हाथ बेजान भी हो गया था, पर व्याकुल-सा भी। और मेरे हाथ की तरह मेरा अंग-अंग···

उस दिन की तरह आज भी पछतावा नहीं। सिर्फ़ रात जब जॉर्ज मेरे पास सोया पड़ा था, दिल में आया कि आज इसे अपने साथ अपने मरे हुए शहर में ले जाऊं। जिस तरह लोग पामपेई के खंडहरों को देखने जाते हैं, मैं जॉर्ज को साथ ले जाऊँ और उसे अपने शहर के खँडहर दिखाऊँ।

फिर पता नहीं क्यों, मैं ने जॉर्ज को कुछ नहीं बताया। सुबह उठकर वह चाय का प्याला पीकर चला गया है, और मैं अकेली अपने शहर के खँडहरों में लौट आयी हूँ···

यह मेरी लाश···

और वे ऊँची-ऊँची दीवारें उस अटारी की हैं, जिस में वीरेन्द्र रहा करता था···यह दीवार के पास उस की लाश···उस के सारे नक़्श मेरी चाय में उभर आये हैं — चौड़े कन्धों पर तना हुआ सिर, चेहरे का रंग गेहुँआँ, पर आँखें बड़ी काली, गहरी और तराशी हुईं। वह आँखों से मेरी जान को खींच लिया करता था···

उस की इस अटारी में मैं कई बार रात सपनों में गयी थी, और अपने मेंहदी-रचे हाथों से उस की चारपाई पर उस का बिछौना किया था···

उस के क़ौल-क़रारों से भरी हुई मैं उस को उस की गली के मोड़ पर मिल-कर, जब अपने बाप के खुले आँगनवाले घर में आया करती थी तो घर की दीवारें मेरे जिस्म को भींच लिया करती थीं। मेरे बाप की ग़ुस्सैल नज़र से पीपल के पत्ते झर जाते थे, और मैं धूप में झुलस जाती थी···

और एक दिन मेरा अछूता कुँआरा जिस्म छिल गया। घर पर आयी तो माँ ने अंगारों जैसी आँखों से देखा, चूल्हे में से एक लकड़ी खींचकर कहा, "तुझे उस की इतनी आग लगी हुई है, तो यह बलती लकड़ी अपने अन्दर डाल ले···" सपनों में और सहेलियों से मर्दों की बातें सुनी हुई थीं, महक सरीखी बातें, पर माँ की बात सुनकर ऐसा लगा जैसे एक बलती लकड़ी मेरी टाँगों में रख दी गयी हो···

मैं कितने दिन तक अपने कमरे में बन्द पड़ी रोती रही। और एक दिन माँ किसी साधु को पकड़कर ले आयीं, और उस का दिया हुआ तावीज़ घोलकर मुझे जबरन पिला दिया। सारी रात मैं चोरी-चोरी से उलटियाँ करती रही, पर सुबह जब वह मुझे मेरी सगाई का छुहारा खिलाने लगीं, पता लगा कि

किसी दुहाजू के साथ वह मेरा ब्याह करने लगी थी। वीरेन्द्र हमारे मजहब का नहीं था, और यह दुहाजू हमारे मजहब का था। मैं ने छुहारे को मुंह में से थूक दिया और मां के हाथ से बांह छुड़ाकर वीरेन्द्र के घर की ओर दौड़ पड़ी···

और अचानक धरती में से लावा निकल पड़ा—चारों तरफ़ काली और बलती राख उड़ने लगी—वीरेन्द्र ने पिछले हफ़्ते किसी लड़की से ब्याह कर लिया था···

और उस बलते शहर में से निकलने के लिए मैं ने दायाँ पैर उठाया हुआ था, और बाँया पैर आगे रखने के लिए एड़ी उठायी हुई थी कि मैं वैसी की वैसी उस गरम राख में एक लाश बन गयी···

और यह है मेरे शहर के खँडहरों मे मेरी लाश···

मलिका

सूर्य की किरणें झुकीं और उन्होंने हौले से गुलाब की एक टहनी को छुआ। एक मर्द की नज़रें झुकीं और उन्होंने हौले से रानी के होंठों को छुआ। टहनी पर एक फूल खिल उठा। होंठों पर एक मुस्कान खिल आयी। उस मर्द ने गुलाब के फूल को भी सूंघा और रानी के होंठों को भी। रानी ने पहले गुलाब का फूल तोड़ा और उस मर्द के कोट में टाँग दिया, फिर अपने होंठों की मुस्कान छुई और उस मर्द के होंठों पर रख दी।

रानी की कोमल जवान बाँहों को उस मर्द ने अपनी शक्तिशाली जवान बाँहों में कसा और रानी के कान में उसके एक-एक अंग के लिए वे सभी उपमाएं दुहरायीं, जो सदियों से एक जवान आदमी की आवाज़ जवान औरत के कानों मे दुहराती आ रही है।

रोम-रोम से उठती कंपकंपी से रानी की नींद उचट गयी। बीती घड़ी को पकड़ने के लिए उसने फिर आँखे मूँदीं, पर अब उसमें एक चेतनता थी कि यह सच नहीं था, एक सपना था।—और रानी ने अपनी चारपाई से धीरे से उठकर सामने की अलमारी में पड़ा हुआ एक खत निकाला। कमरे की एक खिड़की खोली, सुबह की हलकी रोशनी में खत पढ़ा और फिर दर्पण के सामने खड़ी होकर अपने आप को विश्वास दिलाने लगी कि आज रात का सपना सच भी हो सकता था।

रानी ने दर्पण के सामने खड़ी होकर अपने एक-एक अंग को देखा और रात सपने में सुनी हुई सभी उपमाएँ उसे याद हो आयीं। सरू के बूटे जैसा कद, चन्दन की गेली जैसी बाँहें, फलियों जैसी उँगलियाँ, आम की फाँक जैसी आँखें, गुलाब की पत्तियों जैसे होंठ···

और जैसे हर औरत को एक मर्द के मुँह से ये उपमाएँ सुनकर लगने लगता है कि ये सभी उपमाएँ केवल उसी के अंगों के लिए बनायी गयी थीं, रानी को भी प्रतीत हुआ कि ये सारी उपमाएँ उसी के अंगों के लिए बनी थीं, या उसके अंग ही

इन उपमाओं के लिए बने थे।

रानी ने कमरे का दरवाज़ा खोला। बाहर के बगीचे में से गुलाब का एक फूल तोड़ा और होंठों में एक मुसकान भरकर सामने लम्बी राहों की ओर देखने लगी—जैसे उसे खत लिखनेवाला अभी इन राहों पर तीखे-तीखे कदम रखता उसके पास आ जायेगा और उसके हाथ में पकड़े हुए फूल को और उसके होंठों पर खिली हुई मुस्कान को सूँघ लेगा।

रानी कुछ देर सामने की राह की ओर देखती रही, फिर उसे एक हल्की-सी आवाज़ आयी थी, "रानी·· रानी···" पर यह आवाज़ सामनेवाली राह की ओर से नहीं आयी थी, पीछे से रानी की बड़ी बहन के कमरे में से आयी थी। रानी ने एक हलका-सा निःश्वास लिया और बहन के कमरे की ओर जाती हुई उसने उत्तर दिया, "हाँ मलिका ! आ रही हूँ।"

भिड़काये हुए दरवाज़े को खोलकर जब वह बहन के कमरे में गयी, उसकी बहन ने जल्दी से कहा, "दरवाज़ा भिड़का दो रानी ! बड़ी तीखी हवा आ रही है।"

"पर आज तो हवा बड़ी अच्छी लग रही है।" रानी ने एक बार कहा, पर कमरे का दरवाज़ा भिड़का दिया।

"हवा मेरी हड्डियों को चीरती है···मुझसे ज़रा भी नहीं झेली जाती।" मलिका ने अपने ऊपर ओढ़े हुए कम्बल के कोने को कसकर दबाया और कहा।

"रात नींद कैसी आयी ?" चारपाई के पाये पर बैठते हुए रानी ने धीरे से पूछा।

"आज रात क्या कोई खास नींद आनी थी रोज़ से ? उसी तरह ही उखड़ी-उखड़ी, जैसे रोज़ आती है।"

रानी कुछ देर चुप रही, फिर सहसा उसके मुँह से निकला, "कभी तुम्हें सपने भी तो आते होंगे मलिका ?" रानी शायद इतना मलिका के सपनों के बारे में नहीं सोच रही थी जितना अपने रात के सपने के बारे में, और सपनों की बात छेड़कर वह अपनी बहन को अपना रातवाला सपना सुनाना चाहती थी।

"सपने ? सपने ही तो सारी उमर देखती रही हूँ, क्या सोते में, क्या जागते में।"

"ये सपने सच भी होते हैं या नहीं ? कहते हैं, सवेरे का सपना ज़रूर सच हो जाता है।"

"यह सुबह बड़ी अच्छी है, जो तुम्हारे और मेरे जैसी औरत को भुलावा देने के लिए रोज़ आ जाती है।"

"सपने सच्चे नहीं होते ?"

"सपने सच नहीं होते, केवल घायल होते हैं।"

"मलिका !"

"चल छोड़ इन सपनों की बातों को। इन की बातें करते-करते तो मेरी ज़बान भी ज़ख्मी हो गयी है।"

"उठो मलिका, बाहर बगीचे में चलें। देखो तो बाहर कसा मौसम है।"

"कैसा मौसम है ?"

"बहार का।"

"पगली !"

"नहीं मलिका ! सचमुच बहार का मौसम है।"

"इस दुनिया में बहार का कोई मौसम नहीं होता रानी ! यह केवल वीरानी होती है जो कभी-कभी बहार का स्वाँग भरती है।"

रानी का हाथ घबराकर अपनी छाती पर चला गया। अभी जो खत रानी ने अलमारी से निकालकर सुबह की हलकी रोशनी में पढ़ा था, वह इस समय रानी की चोली में रखा हुआ था।

"क्या बात है रानी ?"

"यह खत···"

"बहुत अच्छा लग रहा है ?"

"बहुत अच्छा···"

"ज़िन्दगी के इकरारों से भरा हुआ ?"

"हाँ, ज़िन्दगी के इकरारों से भरा हुआ।"

"ये शब्द तूने पहले कभी नहीं सुने थे ?"

"पर मलिका···"

"ये सब शब्द डिक्शनरी में होते हैं !"

"पर जब इन्हें कोई खत में लिखता है···"

"तब बल्कि इन के कोई अर्थ नहीं होते, जबकि डिक्शनरी में इस के अर्थ भी होते हैं।"

"मलिका !"

"मेरे सिरहाने एक चाबी पड़ी हुई है, यह चाबी ले ले और मेरी सामने की अलमारी खोलकर देख ले, जहाँ एक नहीं, बहुत-से खत पड़े हुए हैं। तुम्हारे इस एक खत जैसे कई खत···"

"आज तुम भले ही न मानो, पर मैं तुम्हें एक डॉक्टर के पास ज़रूर ले जाऊँगी। देखो तो तुम्हारी दशा दिनोदिन कैसी होती जा रही है।"

रानी ने ध्यान से मलिका के मुख की ओर देखा, और उसे वे सब उपमाएँ याद आ गयीं जो उस ने रात सपने में सुनी थीं। और रानी को मलिका का वह रूप भी स्मरण हो आया जो मलिका के मुख पर झेला नहीं जाता था।

यह सच था कि मलिका बहुत सुन्दर होती थी, रानी से कहीं सुन्दर। क्योंकि उस के तन के रूप में उस के मन का रूप भी मिला हुआ था। रानी भी जानती थी, इसलिए रानी मलिका के मुख की ओर देखते ही काँपने लग गयी, जैसे आज बिछौने पर मलिका नहीं बीमार पड़ी हुई थी, औरत के हुस्न को दी जाने-वाली इस दुनिया की हर उपमा बीमार पड़ी हुई थी।

रानी ने चाय बनायी। मलिका को पिलायी। खुद पी और फिर हठपूर्वक मलिका को शहर के सरकारी हस्पताल में ले गयी।

हस्पताल में बेहद भीड़ थी। रानी पहले कभी हस्पताल में नहीं आयी थी। उसे लगा कि आज जैसे सारी दुनिया एकबारगी बीमार पड़ गयी है।

डॉक्टर श्रीचन्द हस्पताल का सब से बड़ा डॉक्टर था। रानी ने उस के कमरे का पता पूछा और मलिका को कमरे के बाहर एक कोने में बिठाकर डॉक्टर से मिलने की बारी की राह देखने लगी।

दोपहर हो आयी। मलिका के पीले रंग पर एक और पीलापन फिर गया और दीवार का सहारा लेते हुए मलिका ने रानी को धीरे-से कहा, "क्यों मुझे बेगाने दर पर लाकर मारती है? मरना ही है तो अपनी चारपाई पर पड़ी-पड़ी मरूँगी, अपने दरवाज़े के आगे···"

"बस, अगली बारी हमारी है। अब तो सारे रोगी भुगत गये हैं।"

आखिर मलिका की बारी आयी। रानी ने उसे अपनी बाँह का सहारा दिया और डॉक्टर के कमरे में ले गयी।

डॉक्टर ने मेज़ पर रखे हुए हस्पताल के फार्म की ओर देखा और हाथ में कलम पकड़ते हुए पूछने लगा, "क्या नाम है मरीज़ का?"

"मलिका।"

"मलिका?" डॉक्टर ने मरीज़ के बिखरे हुए कपड़ों और बिखरे हुए रूप की ओर एक बार देखा और थोड़ा सा मुसकराकर कागज़ पर लिखा : 'मलिका'।

मलिका के माथे पर एक पतली-सी त्योरी पड़ी और फिर उस ने हँसकर कहा, "यह कोई अजीब बात नहीं। मेरे पास एक बहुत बड़ी सल्तनत है, इसी-लिए मेरा नाम मलिका है।"

डॉक्टर शायद सल्तनत का नाम पूछने लगा था; पर उस ने मलिका की आँखों की ओर देखा—आँखों की नज़र बड़ी सँभली हुई और तीखी थी। डॉक्टर ने केवल इतना कहा, "क्या तकलीफ़ है?"

"एक तो मुझे भूख बहुत लगती है, किसी भी चीज़ से नहीं मिटती और एक मुझे प्यास बहुत लगती है···"

"इस को गैरकुदरती भूख कहते हैं।"

"मालूम नहीं इस को गैरकुदरती भूख कहते हैं या कुदरती भूख। कई बार

शीशियों पर गलत लेबल भी तो लग जाते हैं।"

डॉक्टर थोड़ा चौंका, पर फिर उस ने संभलकर मलिका को कमरे के दायें कोने में रखे हुए उस तख्तपोश पर लेटने के लिए कहा जहां वह रोगियों को जाँचता था।

मलिका लेट गयी। डॉक्टर ने मेज पर पड़ी घण्टी बजायी और बाहर दरवाज़े की ओर देखने लगा।

कुछ मिनट बीते। डॉक्टर ने फिर घण्टी बजायी। पर बाहर के दरवाज़े से कोई अन्दर न आया।

"न मालूम सिस्टर कहाँ चली गयी है ?" अन्त में डॉक्टर ने कहा और मेज पर रखी हुई घण्टी को एक बार फिर दबाया। चपरासी अन्दर आया। डॉक्टर ने कुछ खीझकर चपरासी को कहा कि वह जल्दी नर्स को ढूंढकर लाये।

"अभी नर्स का तो कोई काम नहीं डॉक्टर!" मलिका ने धीरे से कहा।

"पर नर्स के आये बिना मैं आप के पास आकर आप को जाँच नहीं सकता। कोई मर्द डॉक्टर किसी मरीज़ औरत के शरीर को हाथ नहीं लगा सकता, जब तक पास में कोई नर्स न हो।" डॉक्टर ने बताया।

"यह गवाही देने के लिए कि एक सेहतमन्द डॉक्टर ने एक बीमार औरत के शरीर को हाथ लगाया है तो किसी बुरी नीयत से नहीं ?" मलिका हँस पड़ी। मलिका बीमार थी, पर उस की हँसी बीमार नहीं थी।

"हाँ, इसीलिए।"

"यानी एक मर्द का हाथ जब एक औरत को छूता है तो उस का स्वाभाविक कारण एक ही हो सकता है—चाहे वह हाथ डॉक्टर का हो, और वह शरीर रोगी का···"

"यह हमारे हस्पताल का नियम है, हस्पताल का कानून।"

"हमारी दुनिया में इतनी गेहूँ की फसल नहीं होती, या किसी भी अनाज की, जितनी नियमों और कानूनों की फसल होती है। क्या नहीं डॉक्टर ?"

डॉक्टर ने चौंककर मरीज़ औरत की ओर देखा। शायद कुछ कहता। पर कमरे में नर्स आ गयी थी। डॉक्टर ने रोगी को कुछ कहने के स्थान पर नर्स को कहा, "एक मरीज़ को देखना है।"

नर्स मलिका के पास ठहर गयी और डॉक्टर ने उस की नब्ज़ देखते हुए पूछा, "शरीर के किसी भाग में दर्द भी होता है ?"

"हर नाड़ी में···" मलिका ने बताया।

डॉक्टर ने स्टेथस्कोप लगाकर उस से कहा, "लम्बे लम्बे साँस लीजिए।"

"मैं हमेशा ही लम्बे साँस लेती हूँ।"

"साँस लेने में मुश्किल पड़ती है ?"

"हर सांस लेने में।"

फिर डॉक्टर ने मलिका के जिगर को देखा। "जिगर बढ़ा हुआ नहीं।"

"अगर बढ़ा हुआ नहीं तो घटा हुआ ज़रूर होगा।" मलिका ने धीरे से कहा।

डॉक्टर ने एक गहरी नज़र से मलिका को देखा और फिर नर्स को कहा, "खून की जाँच करनी पड़ेगी। इस के बाद ही मैं कुछ कह सकूंगा।"

डॉक्टर अपनी कुर्सी पर बैठ कर सामने रखे हुए हस्पताल के सरकारी कागज़ों में रिक्त खानों को भरने के लिए मलिका से पूछने लगा:

"आयु?"

"यही, जब इन्सान जीवन की हर वस्तु के बारे में सोचना शुरू करता है और फिर सोचता ही चला जाता है।···तीस-बत्तीस साल···"

"आप के मालिक का नाम?"

"मैं घड़ी या साइकल हूँ कि मेरा कोई मालिक हो। मैं औरत हूँ।"

"मेरा मतलब है, आप के पति का नाम?"

"मैं बेकार हूँ, नौकरी नहीं करनी।"

"मैं नौकरी के बारे में नहीं पूछ रहा।"

"मेरा मतलब है, मैं किसी की बीवी नहीं लगी हुई।"

"बीवी नहीं लगी हुई?"

"मेरा मतलब है, हर कोई किसी न किसी काम पर लगा होता है, जैसे आप डॉक्टर नियुक्त हैं, यह पास खड़ी हुई लड़की नर्स लगी हुई है। आप के दरवाज़े के बाहर खड़ा आदमी चपरासी लगा हुआ है। इसी तरह जब लोग विवाह करते हैं, मर्द खाविन्द लग जाते हैं, और औरतें बीवियाँ लग जाती हैं।"

डॉक्टर ने हाथ में पकड़ी हुई कलम को इस तरह छिटका जैसे उसकी कलम में स्याही रुक गयी हो।

"क्यों डॉक्टर, ठीक नहीं? कई पेशों में लोग तरक्की भी कर जाते हैं। जो आज सेकण्ड लेफ्टिनेण्ट नियुक्त होता है, वह कल करनल बन जाता है, ब्रिगेडियर बन जाता है, जनरल बन जाता है। पर इस विवाह के पेशे में कभी किसी की तरक्की नहीं होती। बीवियाँ सारी उमर बीवियाँ ही लगी रहती हैं। खाविन्द सारी उमर खाविन्द ही लगे रहते हैं।"

"इन की तरक्की हो भी तो क्या?" डॉक्टर ने अभी तक मरीज़ औरत से उस की सेहत के सिवा कोई बात नहीं की थी, पर यह प्रश्न उस से पूछा ही गया।

"इन की तरक्की भी हो सकती है, पर मैं ने होती कभी देखी नहीं।"

"पर क्या हो सकती है?"

"यही कि आज जो खाविन्द लगा हुआ है, वह कल को महबूब बन जाये। कल को जो महबूब बने, परसों को खुदा बन जाये—यह रिश्ता जो केवल एक प्रथा के

सहारे ठहरा होता है, चलते-चलते दिल का सहारा ओट ले—आत्मा का सहारा न ले।…"

डॉक्टर ने कहा कुछ नहीं, केवल मेज के खाने से एक सिगरेट निकालकर पीने लगा।

नर्स ने साथ के कमरे से खून की जाँच करनेवाले डॉक्टर को बुलाया और डॉक्टर ने मलिका की उँगली से खून की कुछ बूंदें लेकर शीशे की एक नली में भर लीं।

डॉक्टर श्रीचन्द ने हस्पताल के फार्म पर कुछ लिखा और यह फार्म नर्स को थमाते हुए बोला, "मरीज़ को बीस नम्बर वार्ड मे ले जाओ। आठ नम्बर 'बेड' खाली है, वह दे दो।"

रानी ने मलिका को बाँह का सहारा देकर उठाया और डॉक्टर ने चेतावनी दी, "मरीज़ के पास कोई रुपया-पैसा या गहना नही होना चाहिए।"

मलिका ने अपने दुपट्टे के छोर से कुछ बाँधा हुआ था। उस की ओर देखती हुई डॉक्टर से कहने लगी, "मेरे पास कुछ कीमती सिक्के है—इन का क्या करूँ?"

"इन को आप हस्पताल मे अपने पास नहीं रख सकती।" डॉक्टर ने बताया।

"रख तो मैं दुनिया में भी नही सकती थी, पर जैसे-तैसे सँभालती आयी हूँ।" मलिका ने इतनी धीमी आवाज़ में कहा, जिसे उसने खुद भी कठिनता से सुना और उस ने दुपट्टे के छोर से बँधी हुई एक छोटी-सी लाल रंग की पोटली खोली और रानी को थमाते हुए कहने लगी, "बड़े ही कीमती सिक्के है--सँभालकर रखना।"

मलिका को जब बीस नम्बरवाले वार्ड में ले गये तो उसे लोहे के पलंग पर लिटाते हुए पहली नर्स ने वार्ड की दूसरी नर्स को उसे सौंपते हुए कहा, "मरीज़ नम्बर आठ।" मलिका मुसकरा उठी और रानी को हौले से कहने लगी, "यह नम्बरों की बात मुझे बड़ी अच्छी लगी है।"

"क्यों?'

"क्योंकि यहाँ किसी भी मरीज़ का कोई नाम नहीं होता। मरीज़ नम्बर सात, मरीज़ नम्बर आठ, मरीज़ नम्बर नौ…। ये नाम तो बने थे मनुष्य की शख्सियत बताने के लिए, पर किसी मनुष्य की कोई शख्सियत नही होती। इसलिए यह नामों की बात झूठी होती है। ये नम्बरों की बात फिर भी सच्ची है…"

रानी ने पीड़ा को पीकर मलिका के कन्धे को चूमा और फिर छलछलाई आँखों से वार्ड से बाहर चली आयी।

इस वार्ड में छः मरीज़ थे। मलिका अपने साथ की पाँच मरीज़ औरतों को

देखती, धीमी आवाज़ में उन्हें उन का हाल पूछने लगी। एक बिलकुल पीली पड़ चुकी युवती को छोड़ कर, शेष चारों औरतें गरीबी और बुढ़ापे से पैदा होनेवाले रोगों से कराह रही थीं। पानी का घूंट एक पल अन्दर जाता और दूसरे पल बाहर निकल आता था – उन की आशाओं की तरह।

डॉक्टर जब शाम का चक्कर लगाने आया तो मलिका से हाल पूछते हुए बोला, "रात को नर्स आप को नींद की गोली दे देगी।"

"कोई विशेष आवश्यकता नहीं। मैं थोड़ा-बहुत सो ही लूंगी, रोज़ की तरह।"

"यहाँ शायद आप को रोज़ की तरह भी नींद नहीं आयेगी, क्योंकि अक्सर मरीज़ रात को दिन से अधिक कराहते हैं। इन में से एक को तो कैंसर है, दूसरी के घावों में पानी भरा हुआ है, और वह आप के साथ की चारपाई पर पड़ी औरत···"

"कोई बात नहीं डॉक्टर! मुझे ये चीखें और कराहना सुनने की आदत पड़ी हुई है। हमारी दुनिया में वह कौन-सा स्थान है, जहाँ रात को लोग सुख की नींद सोते हैं? किसी का हाथ घायल, किसी का पैर घायल, किसी का सपना घायल···" और मलिका ने खिड़की की ओर हाथ उठाते हुए कहा, "वहाँ दूर, हमारे देश की सरहद पर जाने कितने लोग घावों से तड़प रहे हैं···"

डॉक्टर मलिका के पीले और नर्म मुख की ओर जाने कितनी देर देखता रहा। फिर हाथ में पकड़े हुए एक कागज़ की ओर देखते हुए कहने लगा, "आप के खून की जाँच का नतीजा आ गया है। पर···"

"क्या दोष निकला है मेरे खून में?"

"लाल कीटाणु, सफेद कीटाणु—सब ठीक हैं। किसी जानी-पहचानी बीमारी के कीटाणु भी उस में नहीं मिलते। पर एक विचित्र प्रकार के कीटाणु मिले हैं जिन्हें हम जान नहीं पा रहे कि कौन-से कीटाणु हैं···"

मलिका मुसकरायी। मलिका की आवाज़ भले ही दिनोंदिन बढ़ती तकलीफ से धीमी होती जा रही थी, पर उस की कोमलता में अन्तर नहीं आया था। उसी धीमी और कोमल आवाज़ में वह कहने लगी, "आप जितने दिन चाहें इन कीटाणुओं को परख लें और अगर फिर भी आप कुछ जान न पायें तो मैं बताऊँगी कि ये कीटाणु कौन-से है।"

डॉक्टर ने गहरी आँखों से मलिका को देखा और फिर जब बोला, उस की आवाज़ में अचम्भा था, "आप जानती हैं ये कौन-से कीटाणु हैं?"

"हाँ।"

"हम सब डॉक्टर आज इन्हें परखते-जाँचते थक गये हैं। सोच रहे थे कि आप के खून की कुछ बूंदें किसी और देश के डॉक्टरों को भेजें। हम से कई दूसरे देशों

की साइंस अधिक उन्नत है।"

"भेज कर देख लीजिए। पर शायद वे भी न जान सकें।"

"बड़ी अजीब बात है !"

"हाँ, अजीब तो है ही···"

"पर आप ने यह कैसे कहा कि आप जानती हैं ?"

"क्योंकि मैं सचमुच जानती हूँ।"

"फिर आप स्वयं हमें बता दीजिए।"

"मैं बता देती हूँ, पर आप विश्वास नहीं करेंगे।"

"आप उस का इलाज भी जानती हैं ?"

"हाँ।"

"फिर आप वह इलाज करती क्यों नहीं ?"

"मैं अपना ऑपरेशन आप कैसे कर सकती हूँ ? वह तो आप लोग ही कर सकते हैं !'

"फिर जो हम आप का बताया हुआ इलाज कर दें, आप ठीक हो जायँ— तो हमें ये सब मानना ही पड़ेगा।"

"मैं बताने को तैयार हूँ।"

"ये कौन-से कीटाणु हैं ?"

"आप ने पार्वती की एक कहानी सुनी है या नहीं ? एक पौराणिक बात चली आती है···"

"पार्वती की कहानी ?"

"कहते हैं, एक बार शिवजी कहीं बाहर गये हुए थे, उन्होंने बहुत विलम्ब कर दिया। पीछे अकेली पार्वती का दिल नहीं लगता था, इसलिए उस ने अपने शरीर की मैल उतारकर एक बच्चा घड़ लिया···"

डॉक्टर के मुख पर हँसी की और खोझ की एक लहर दौड़ गयी और उस ने अपने-आप को कहा, "मैं इस पगली स्त्री से व्यर्थ में माथापच्ची कर रहा हूँ, मालूम होता है इस का···"

"मैं ने कहा था न कि आप को मुझ पर विश्वास नहीं आयेगा।"

"यह कोई विश्वास करने की बात है ?"

"अच्छा, फिर रहने दीजिए इस बात को। आप स्वयं कीटाणुओं की पहचान खोज लीजिए, अगर खोज सकते हैं तो···"

डॉक्टर के माथे पर एक हैरानी पुत गयी। वह सोचने लगा, 'इस औरत के होश-हवास कायम भी दिखते हैं और नहीं भी।' ऊँची आवाज़ में उस ने केवल इतना कहा, "अच्छा, मैं सारी बात सुनूंगा। आगे बताइये।"

"जिस तरह पार्वती ने अपने शरीर की मैल से एक पुत्र बना लिया था, इसी

तरह सारी औरत जाति ने अपने दिल के खून को, पसीने को और आँसुओं को मिला कर मुझे जन्म दिया था। इसीलिए मेरे खून में आप को वे अजीब कीटाणु मिले हैं—जिन्हें आप पहचान नहीं पाते।"

डॉक्टर ने अपने माथे पर आया हुआ पसीना पोंछा और फिर पूछने लगा, "आप की इस बीमारी का नाम क्या है?"

"सोचने की बीमारी। हर वस्तु के बारे में सोचने की बीमारी।"

"इस का इलाज?"

"आप जानते हैं कि हर इन्सान के पेट में दाईं ओर एक पतली-सी नाड़ी होती है। कई बार खुराक का कुछ हिस्सा उस में इकट्ठा हो जाता है, जो पड़ा-पड़ा सड़ने लगता है। आदमी दिनोंदिन पीला और कमज़ोर पड़ता जाता है और अगर ऑपरेशन द्वारा उस नाड़ी को काटा न जाये तो वह किसी दिन खुद ही फट जाती है। फिर उस का विष सारे शरीर में फैल जाता है और आदमी मर जाता है।"

"हाँ।"

"इसी तरह इन्सान के सिर में एक नाड़ी होती है जिस में विचारों का कुछ हिस्सा इकट्ठा हो जाता है, फिर पड़ा-पड़ा सड़ने लगता है। किसी दिन फट भी जाता है और फिर आदमी उस के ज़हर से मर जाता है।"

"इसका सबूत क्या है?"

"एक्सरे करके देख लीजिए। यह मैं नहीं जानती कि अभी आप की 'साइंस' ने इतनी उन्नति की है अथवा नहीं कि इस नाड़ी का चित्र लिया जा सके। अगर आप मेरी बात मानें···"

"आप क्या कहना चाहती हैं?"

"कि आप मेरे सिर का ऑपरेशन करके देख लीजिए। आप को यह नाड़ी अवश्य मिल जायेगी···"

डॉक्टर कुछ देर चुपचाप मलिका के मुख की ओर देखता रहा, फिर बिना कुछ कहे वार्ड से बाहर चला गया।

दूसरे दिन सवेरे का चक्कर लगाने जब डॉक्टर आया तो मलिका की दशा कल से भी बिगड़ी हुई थी। डॉक्टर को मलिका की आवाज़ सुनने के लिए मलिका के सिरहाने पर झुकना पड़ा। मलिका कह रही थी:

"डॉक्टर! आप ने मेरी बात नहीं मानी···अब भी मान लीजिए···मुझे ऑपरेशनवाले कमरे में ले चलो···मेरा खयाल है कि मेरे सिर की नाड़ी फटने को है···"

डॉक्टर को कुछ सूझ नहीं रहा था कि वह क्या कहे। इसलिए उस ने मरीज़

को कुछ कहने के लिए केवल इतना कहा, "आज एक्सरे करके देखते हैं।"

"अभी आप की साइंस ने इतनी उन्नति कहाँ की है कि···" मलिका की आवाज़ टूटने लगी।

डॉक्टर श्रीचन्द ने साथ के कमरे में जाकर कुछ और डाक्टरों को टेलीफोन किया कि वे वार्ड नम्बर बीस में आ जायें। और आप वह जब लौटकर मलिका के पास आया, उस ने हाथ में इंजेक्शन लगाने का सामान पकड़ा हुआ था।

"यह क्या डॉक्टर ?"

"हाथ इधर करो, मैं एक इंजेक्शन लगाऊँगा।"

"किस बात का इजेक्शन डॉक्टर ?"

"दिल की ताकत का।"

भले ही मलिका का एक-एक अग मुरझा गया था, पर उस की मुसकान अब भी नहीं मुरझायी थी। मलिका ने उसी मुसकान से कहा, "दिल की ताकत का ?"

"हाँ।"

"वह तो डॉक्टर, पहले ही ज्यादा है। जरूरत से ज्यादा। उसी की मारी तो मैं मर रही हूँ।"

इंजेक्शन की सुई को गर्म पानी से निकालते हुए डॉक्टर का हाथ काँप गया।

प्रातः नौ बजे से लेकर ग्यारह तक का समय मुलाकातों के लिए था। इस समय दस बजे थे, रानी अपनी बहन का हाल पूछने के लिए आ गयी।

"तू आ गयी रानी ?"

"हाँ, मलिका !"

"मैं तेरे बारे में ही सोच रही थी···"

"मैं आ गयी हूँ। तेरा हाल कैसा है ?"

"इधर हो न।"

"बोल।"

"तू ने वह मेरी लाल पोटली कहाँ रखी है ?"

"मैं खूब सँभालकर रख आयी हूँ, तुम फिकर मत करो।"

"उस में बड़े कीमती सिक्के पड़े हुए हैं।···तू ने खोलकर देखी थी ?"

"नहीं मलिका, मैं ने नहीं खोली। मैं तुम्हारी आज्ञा बिना कैसे खोल सकती हूँ ! तुम जब ठीक हो जाओगी, मुझे खुद खोलकर दिखाना। तुम मुझे इस समय यह बताओ कि मैं तुम्हें खाने के लिए क्या दूँ ? मैं कुछ फल लायी हूँ।"

"आज मुझ से कुछ नहीं खाया जाता। दुनिया का कोई भी फल···"

मलिका की आँखें निश्चेष्ट होकर एक पल के लिए मुंद गयीं। फिर किसी अन्दर की शक्ति से उचटकर खुल गयीं और वह रानी की ओर देखते हुए कहने लगी, "मेरे जाने का समय आ गया है रानी ! मेरे पास आ, और पास···मेरे सिर

की नाड़ी शायद फट गयी…"

"मैं तेरे पास हूँ मलिका !"

"वे सिक्के…"

"वे कभी न गुम होंगे मलिका ! तू इस समय उन की फिकर मत कर।"

"तुम्हें एक बात बताती हूँ।"

"बता।"

"वे सिक्के शायद तुम्हारे किसी काम न आयें…पर…"

"पर तू तो कहती थी कि वे बड़े कीमती है ?"

"बड़े ही कीमती है…"

"मैं उन्हें कभी नहीं खोऊँगी मलिका !"

"पर वे इस दुनिया में चलते नहीं।"

रानी के साथ डॉक्टर भी मलिका के सिरहाने पर झुका। मलिका अपनी टूटती आवाज़ को जोड़कर कहने लगी :

"उन में एक सिक्का है 'मुहब्बत' का—एक 'विश्वास' का—और एक 'अमन' का—बड़े कीमती सिक्के…"

आगे मलिका की आवाज़ किसी को सुनायी न दी। रानी ने घबराकर मलिका के माथे पर हाथ धरा और फिर डॉक्टर की ओर देखा। डॉक्टर कुछ देर मलिका की नब्ज़ देखता रहा। फिर उस ने कम्बल का कोना उठाकर मलिका के मुख पर डाल दिया। रानी के मन में जो सब से पहला खयाल आया, वह यह था कि आज मलिका नहीं मरी थी, आज औरत के हुस्न को दी जानेवाली इस दुनिया की हर उपमा मर गयी थी।

आत्मकथा

मेरा ऊपर का धड़ साबुत है, पर मेरी टाँगें चूहों ने काट ली हैं, इसलिए मैं जहाँ पड़ा हूँ, वहाँ से हिल नहीं सकता।

मेरी दायीं ओर खरबूजों के कुछ छिलके पड़े हुए हैं, बायीं ओर बासी रोटी का एक टुकड़ा है और मेरे आगे-पीछे किसी ने जूठे बर्तन साफ कर के राख बिखेर दी है।

अभी-अभी भूख की मारी हुई एक गाय इधर से गुज़री थी। उस ने अपनी जिह्वा से मुझे सिर से पैर तक चाटा और फिर मुझे एक बेकार चीज़ समझ-कर छोड़ दिया। खरबूजों के छिलके उसे बड़े काम के लगे। काफी छिलके उस ने एकबारगी मुँह में समेट लिये।

फिर एक मरियल-सा कुत्ता आया और अपनी पूँछ हिलाते हुए मुझे सिर से पैरों तक सूँघने लगा। उसे भी मैं बिलकुल व्यर्थ की चीज़ लगा और वह मेरे पास पड़ी हुई रोटी के टुकड़े को चबाने लगा।

फिर मुँडेर पर बैठा हुआ एक कौवा मेरी तरफ़ इस तरह उड़कर आया जसे किसी गोरी ने अपने प्यारे की प्रतीक्षा करते हुए उस के लिए चूरी डाल दी हो। पर मुझे चोंच मारते ही कौए का भ्रम जाता रहा और वह मुझे छोड़-कर मेरे इर्द-गिर्द बिखरी हुई राख में से चनों को खोजने लगा।'''इस तरह मैं जहाँ पड़ा हुआ था, वहीं पड़ा हुआ हूँ।

मरते समय या तो लोग दान-पुण्य करते हैं, या वसीयत करते हैं, पर मैं क्या करूँ, और साथ ही मैं ने ज़िन्दगी में कोई पाप भी नहीं किया कि मरते समय जल्दी से कोई पुण्य कर लूँ'''और न ही मेरी कोई सन्तान है जिसके नाम पर मैं वसीयत करूँ—और साथ ही मैं ने ज़िन्दगी में लोगों की मेहनत को चुराकर कोई खज़ाना भी नहीं भरा कि मरते समय किसी भाई-भतीजे को उस की रखवाली पर बिठा जाऊँ।

हाँ, कई लोग मरते समय अपनी आत्मकथा लिखते हैं, वह मैं लिख सकता

हूँ। भले ही मैं जानता हूँ कि मैं दुनिया का कोई महापुरुष नहीं हूँ, मैं तो एक मामूली-सा नक्शा हूँ, एक छोटे-से घर का नक्शा, पर यह मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं गांधी की तरह आदर्शवादी हूँ, गोर्की की तरह यथार्थवादी, और रूसो की तरह स्पष्टवादी। इसलिए मैं सोचता हूँ कि मुझे मरने से पहले अपनी आत्मकथा लिखनी चाहिए।

मेरे मालिक ने मुझे इस स्थान पर फेंकते समय अपनी वह कापी भी साथ ही फेंक दी है, जिस पर वह मुहब्बत के गीत लिखा करता था और जिस में अब भी कई पृष्ठ खाली हैं, और उस ने अपनी कलम भी फेंक दी है जिस में अब भी काफी स्याही भरी हुई है। सो मैं इसी कलम से, इसी कापी के खाली पृष्ठों पर अपनी आत्मकथा लिखता हूँ :

एक बार एक अत्यन्त सुन्दर मर्द ने एक अत्यन्त सुन्दर औरत को देखा था और उस का दिल अपने हाथ में एक पेन्सिल लेकर कुछ लकीरें खींचने लग गया था, बस वही लकीरें, मेरी लकीरें थीं। एक छोटे-से घर के नक्शे की लकीरें। वह रोज़ रात को सपनों में इन लकीरों को सँवारता रहता था कि एक दिन उसे वर्दी पहनकर उस स्थान पर जाना पड़ा जहाँ दिन-रात बन्दूकों की आवाज़ आती रहती थी।

लोगों की चीत्कारों से मेरे कान फटते थे। फिर भी मैं ने अपने मालिक के जेहन में एक कोना ढूंढ़ लिया था जहाँ मैं चुपचाप पड़ा रहता था।

एक दिन मेरे मालिक की खूबसूरत छाती में एक गोली आ धँसी और वह तड़पते हुए मुझे कहने लगा, "तुम जल्दी यहाँ से चले जाओ! इस बारूद के धुएँ में तुम्हारा साँस घुट जायेगा। तुम वहाँ चले जाओ जहाँ कोई किसान हाथों से बीज बिखेरता हुए जिन्दगी के सपने उगाता है—और वहाँ जहाँ कोई मज़दूर सिर पर टोकरी उठाये जिन्दगी के सपनों का निर्माण करता है।"

मैं अपने मालिक की आखिरी इच्छा को पूरी करने के लिए युद्ध के मैदान से भाग आया और एक छोटे-से गाँव में एक किसान के पास चला गया। किसान ने मेरे साथ हँसकर दुआ-सलाम भी न की। अपने पैरों में टूटी हुई जूती डालते हुए कहने लगा, "सिर पर उधार चढ़ाकर तो मैं ने बीज खरीदा है, मुझ से तो लगान भी नहीं चुकाया जाता—मुझे तुम्हारा क्या करना है? मेरी लड़की खजूर जितनी बड़ी हो गयी है। अगर मैं किसी तरह उसी का भार उतार पाया तो मेरे लिए बहुत बड़ी बात होगी।···तुम भाई किसी और आदमी के पास जाओ।"

थका-टूटा मैं एक सुन्दर शहर में चला गया। मैं एक बड़ी-सी मिल के मज़दूर के पास पहुँच गया। मज़दूर ने मेरे साथ सलाम भी न की और अपने फटे हुए कुर्ते से हाथ पोंछते हुए कहने लगा, "हमारी मिल में छंटनी होनेवाली

है, और मैं तो यह भी नहीं समझ पा रहा कि मैं कल दाल-चावल कहाँ से लाऊँगा ! मैं तुम्हें क्या करूँगा ? मेरा छोटा बच्चा कई दिनों से बीमार पड़ा है —अगर मैं उस के लिए कहीं से दवा भी ला पाया तो बड़ी बात होगी···तुम भाई किसी और आदमी के पास जाओ···"

मैं खेतों में से निकाला हुआ और मिलों में से दुत्कारा हुआ साँस लेने के लिए एक नदी के किनारे जा बैठा। इतनी देर में मैं देखता हूँ कि ज़रा हटकर एक वृक्ष की छाया में एक बुज़ुर्ग आदमी आसमान की ओर हाथ उठाकर कह रहा था, "अल्ला पाक ! शुकर है तुम्हारा कि मेरा बेटा जवान हो गया। मेरे हाथों का सहारा बन गया। उस की हक की कमाई को बरकत देना···" मुझे लगा कि मैं जिस आदमी की खोज में था, मुझे मिल गया। मैं जल्दी से उस बुज़ुर्ग के पास चला गया, वह मुस्कराया और कहने लगा, "यही, बस यही मेरी ख्वाहिश है कि एक कमरे में मेरा बेटा और उस की बहू बसते हों···और मैं छोटे-से दालान में बैठा पोते को खिला रहा होऊँ···" बुज़ुर्ग ने अपने दिल का दरवाज़ा खोला और मैं जल्दी से अन्दर चला गया।

यह बुज़ुर्ग बहुत जुगती था। उस का बेटा जब महीने के बाद वेतन लाकर उस की तली पर रखता, वह आधे पैसे गुथली में डाल देता और आधे पैसों में गृहस्थी चलाता। मुझे भी आशा बँध गयी कि थोड़े-से महीनों में या थोड़े-से वर्षों में मेरी जून सँवर जायेगी। वह बुज़ुर्ग कहीं सस्ती-सी ज़मीन का एक टुकड़ा भी खोजने लगा और अपने बेटे के लिए किसी अच्छी-सी लड़की का रिश्ता भी पूछने लगा।

फिर जाने क्या हुआ। शहर-भर में चाकू और छुरियाँ चलने लगे। पुलिस के आदमी जब उस बूढ़े को बचाने आये तो कहने लगे, "अगर तुम्हें अपनी जान प्यारी है तो यहाँ से एक काफिला जा रहा है, हम तुम्हें काफिले में छोड़ आते हैं।"

वह बुज़ुर्ग अभी हैरान होकर सिपाहियों की ओर देख ही रहा था कि मैं ने उतावला होकर कहा, "मेरा क्या बनेगा ?···आप शायद जानते नहीं कि इस बिचारे बूढ़े ने मेरे लिए थोड़ी-सी ज़मीन भी ढूंढ रखी है। बस, थोड़े-से महीनों में···" पुलिसवाले हँसने लगे और कहने लगे, "पगले ! अगर तुम अपना भला चाहते हो तो किसी हिन्दू के दिमाग में जा बैठो। यह बूढ़ा तो मुसलमान है···"

मुझे पुलिस की बात समझ न आयी और मैं ने अपनी बात को भी स्पष्ट समझाने के लिए कहा, "बड़ा ईमानदार बूढ़ा है। इस का बेटा भी खून-पसीना एक करके कमाता है···" अब पुलिसवालों ने मेरी बात भी न सुनी और उस बुजर्ग और उस के बेटे को हाथ से पकड़कर काफिले में छोड़ आये।

बुजुर्ग ने मुझे सलाह दी, "सच कहते हैं ये पुलिसवाले, जिस जगह मेरा बाप जन्मा, पला और जवान हुआ; जहाँ मैं जन्मा, पला और जवान हुआ; जहाँ मेरा बेटा जन्मा, पला और जवान हुआ···अगर वह भूमि ही मुझसे छिन गयी तो मुझे तुम्हारा क्या करना है ? तू किसी हिन्दू के दिमाग में जा बैठ।"

उस बुजुर्ग की ढलती उमर में मुझे उस के दिल से निकल जाना बहुत बुरा लगा और मैं उस के दिल के एक कोने में बैठकर उस काफिले के साथ चल दिया। अभी बहुत दूर नहीं गये थे कि उस काफिले पर हमला हुआ और उस बुजुर्ग का जवान बेटा मार दिया गया। बेहाल होते हुए वह मुझ से कहने लगा, "अब मैं तुझे भला क्या करूँगा ? जो धरती मेरे बेटे के खून की प्यासी हो गयी, उस धरती पर मुझे कोई घर नहीं चाहिए।" और उस ने बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़कर मुझे दूर फेंक दिया।

जिस ओर यह काफिला जा रहा था, उस ओर से एक काफिला आ भी रहा था। मुझे उदास और निराश होते देखकर उस बुजुर्ग ने मेरा हाथ पकड़ा और कहने लगा, "जाओ, मैं अल्ला के नाम पर तुम्हें उन के हवाले करता हूँ। वह देखो, सामने हिन्दुओं का काफिला आ रहा है - हमारी तरह ही उजड़ा और उखड़ा हुआ। तुम किसी अच्छे-से हिन्दू के मन में जाकर बस जाओ।···जाओ मेरे अज़ीज़ !"

मैं उस बुजुर्ग की बात न टाल सका, और मैं इस काफिले को छोड़कर उस काफिले में चला गया। एक मर्द अपने इर्द-गिर्द के लोगों को दिलासा दे रहा था, "हमारी हिम्मत नहीं जानी चाहिए। हमारी जान सलामत, हमारा जहान सलामत ! क्या हुआ हमारे सिरों पर छत नहीं, हमारे हाथों मे मेहनत बसती है··।" मैं झट से उस मर्द के पास गया और उस के हाथों को चूम लिया, जिन हाथों में से मेहनत की खुशबू आ रही थी।

सूर्य छिपा ही था कि सारे काफिले में कुरलाहट मच गयी। हमलावर आये और उस काफिले की कई औरतों को उठाकर ले गये। लोगों को दिलासे देने वाला मेरा मालिक अपना सिर पकड़कर मुझसे कहने लगा, "बन्धु ! तुम जाओ, जो भी राह तुम्हें ओट ले। तुम मेरे भाग में नहीं हो। जिस धरती पर मेरी औरत छिन गयी, उस धरती पर मेरा घर नहीं बस सकता···" और उस ने मुझे एक मरे हुए बच्चे की तरह अपने हाथों से एक ओर फेंक दिया।

मैं घूमता-भटकता रहा। मैं उस आदमी की कोठरी मे गया जिस से उस का मालिक मकान इसलिए गाली-गलौज करता रहता था कि वह कोठरी का किराया नहीं बढ़ा सकता था···मैं उस आदमी की कोठरी में भी गया जो प्रभात के समय जब एक गीत लिखने लगता था तो ऊपर की मंजिल पर रहती एक औरत जोर-जोर से मसाला पीसने लग जाती थी···मैं उस आदमी की कोठरी में

भी गया जिस का पड़ोसी रोज रात को शराब पीकर आता था और उस की जवान बेटी को बड़ी बेशर्म आँखों से घूरता था और वह आदमी कोठरी न बदलने के लिए मजबूर था, क्योंकि इतने कम किराये पर और कहीं कोठरी नहीं मिल सकती थी। और मैं उस आदमी के कमरे में भी गया जिसकी औरत निचली छत से पानी की बाल्टियाँ भरकर ऊपर लाती थी और जिस का तीन महीने का हमल गिर गया था···पर इन सब लोगों में से किसी ने मेरे साथ आँख न मिलायी।

इन कोठरियों के झुरमुट में ही एक और कोठरी भी थी जहाँ दिन-रात पुस्तकें पढ़ते रहनेवाला एक बाँका नौजवान रहता था। मुझे पता चला कि माँ ने अपने अंग अंग का गहना बेचकर इसको पढ़ाया और अब इसे कोई-न-कोई रोज़गार मिलने ही वाला है।···और साथ ही मुझे मालूम हुआ कि इस नौजवान को अपने कालेज में पढ़ती एक लड़की से मुहब्बत है। जैसे मैंने कई एक कोठरीवालों का हाल देखा था, इस नौजवान ने भी यह सब देखा था, और उस ने अपने मन में ठान लिया था कि वह किसी ऐसी कोठरी में नहीं रहेगा जिसका मालिक रोज़ गाली-गलौज करता हो। और वह उस कोठरी की छत के नीचे नहीं रहेगा जहाँ वह बीवी को बाँहों में कसकर गीत गुनगुनाने लगे तो ऊपर की छत पर कोई ज़ोर-ज़ोर से मसाला पीसने लगे। और वह अपनी बीवी को किसी ऐसी कोठरी में भी नहीं रखेगा जिसका पड़ोसी शराब पीकर आये और उसे बेशर्म आँखों से घूरता रहे। और वह तीसरी मंज़िल पर नहीं रहेगा जहाँ पानी चढ़ाते हुए उस की बीवी का हमल गिर जाये।

इसलिए जब मैं इस नौजवान के सामने हुआ तो उस ने मुझे पलकों पर उठा लिया और अपनी माँ को कहने लगा, "बस अम्मा! अब हमारे दिन फिर जायेंगे। पिताजी ने हमारे लिये ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा खरीदा था, अब मैं वहाँ एक छोटा-सा घर बनाऊँगा। मेरा रोज़गार तो लग ही जायेगा···और आठ हज़ार हम सरकार से ऋण ले लेंगे, अब तो हमारी अपनी सरकार है···" मैंने यह सब सुना और एक थके राही की तरह उस नौजवान के दिल की ठण्डी छाया में बैठ गया।

एक दिन इस नौजवान ने एक नक्शानवीस को बुलाया और अपने दिल में खिंची हुई मेरी सारी लकीरों को उसेसमझा दिया और उसे कहा कि—वह जल्दी से एक छोटे-से घर का नक्शा बना लाये···।

एक अर्जी उस ने सरकार को दे दी कि उसे मकान बनाने के लिए ऋण चाहिए।

···और दर्जनों अर्ज़ियाँ उस ने कई सरकारी दफ़्तरों में दे दीं कि उसे जल्दी से जल्दी रोज़गार दिया जाये।

मैंने पहली बार किसी पेन्सिल का मुँह चूमा और पहली बार किसी कागज़ का आलिंगन किया। नक्शानवीस ने मुझे अत्यन्त सुन्दर नीले कागजों में लपेट लिया और मेरे मालिक को कहने लगा, "तीस रुपया नक़्शा बनवायी, तीस रुपये कमेटीवालों के और तीस रुपये नक्शा पास कराने के···"

मेरे मालिक ने नक्शेवाले को पैसे दे दिये, कमेटीवालों की फीस भर दी, पर उस ने नक़्शा पास कराने का कुछ न दिया और कहा, "मैं एक स्वतन्त्र देश का शरीफ नागरिक हूँ। अपने देश में घर बनाना मेरा अधिकार है और अगर मेरे घर का नक़्शा कमेटी के नियमानुसार ठीक है तो यह अवश्य पास होना चाहिए।" नक़्शानवीस ने बहुत समझाया, पर मेरे मालिक के हठ को अपने सिद्धान्तों का मान था···। खैर, मैं एक फाइल में लगकर कमेटी के दफ्तर में दाखिल हो गया।

कई महीने गुज़र गये। कमेटी के दफ्तर में खड़े मेरी टाँगें अकड़ गयीं। एक दिन एक अफसर ने दूसरे अफसर के कान में कहा कि—"इस फाइल को दबा रखो। जिसे नक्शा पास करवाना होगा अपनी मुट्ठी ढीली करेगा।" और मुझे जीते-जी ही एक टूटी हुई मेज़ की क़बर में दबा दिया गया।

ज्यों-ज्यों मेरा साँस घुटने लगा, मैं सोचने लगा : मुझे तो फावड़ों और बेलचों से खेलना था। सुर्ख ईंटें···सलेटी सीमेंट···और फिर मेरा क़द और बुत बढ़ता जाता, मेरी रेखाएँ उभरती जातीं, मजदूर औरतों के लाल-पीले दुपट्टे हवा में उड़ते, चाँदी की चूड़ियाँ मेरे कानों में खनकतीं, काँच की चूड़ियाँ मेरे चारों ओर भाँवरें डालतीं, और मज़दूरों के शरीर में से मेहनत के पसीने की महक आती···और फिर···फिर मेरा मालिक अपनी प्रेमिका की कमर में हाथ लपेटकर मेरी ओर संकेत करता, "हमारा घर···मेरी जान! हमारा अपना घर।"···और फिर मेरा मालिक अपनी बूढ़ी माँ को अपने हाथ का सहारा देकर मेरी ओर लाता, "अम्मा! तूने मुझे मुसीबतें झेलकर पाला था··· देख, मैंने तुम्हारे लिये घर बना लिया है।···" और फिर मेरे मालिक की आँखों में एक नन्हा-सा बालक खेलने लगता···

पर मैं तो जीते-जागते ही एक टूटी हुई मेज़ की क़बर में पड़ा हुआ था।··· और फिर एक दिन मुझे ऐसा लगा जैसे कोई धीरे-धीरे मेरी क़बर को खोद रहा हो—मैंने कान लगाकर सुना। मैंने अपना सारा ध्यान एकाग्र किया, दिल में आशाएँ बँधने लगीं···पर हाय! ये तो चूहे थे, जो मेरे पाँवों को कुतर रहे थे। मेरी एड़ियों को कुतर रहे थे, मेरे घुटनों को कुतर रहे थे—मेरी आशाओं को कुतर रहे थे।

और फिर कयामत का दिन आ गया। मैं और मेरे जैसे और कितने ही क़बरों से निकाले गये। कमेटी का एक आफिसर इज़राइल फरिश्ते की तरह

हमारे सामने खड़ा हो गया और उस ने अपने मुंशी को हुक्म दिया कि ये सब नक़्शे इन के मालिकों को लौटा दो। ये नक़्शे पास नहीं हो सकते, क्योंकि इन्हें चूहे कुतर गये हैं।

मैं रींगते-रींगते अपने मालिक के पास पहुँच गया। नक़्शानवीस ने मेरे मालिक से बड़े तजरबेकार की सी गुरु-गम्भीर आवाज़ में कहा, "मैंने कहा था न ! चाँदी के पहियों के बिना ये गाड़ियाँ नहीं चल सकतीं।···आप चाहे सिद्धान्तों के कितने ही इंजन इन के आगे जोड़ दीजिए···"

मेरे मालिक की आँखें भर आयीं और मैंने मिन्नत से कहा, "चलो, अगर मेरे भाग्य में इस धरती पर पैर रखना नहीं लिखा हुआ तो मुझे पहले की तरह अपने दिल में ही बिठा लो ! अपने दिमाग में ही रख लो !"

"अब तो मैं वहाँ भी नहीं रख सकता···" मेरे मालिक ने एक लम्बा साँस लिया और कहने लगा, "क्योंकि वहाँ भी बहुत-से चूहे पैदा हो गये हैं—तुम्हारा नीचे का धड़ पहले ही कुतरा जा चुका है, वहाँ ऊपर का धड़ भी कुतरा जायेगा।"

"तुम्हारे दिल और दिमाग़ में चूहे···"

"हाँ, मेरे दोस्त ! जिस तरह ये कमेटीवाले ऐसे चूहे पालते हैं जो घरों के नक़्शे कुतर जाते हैं इसी तरह ये समाजवाले भी ऐसे चूहे पालते हैं जो सपनों के नक़्शे कुतर जाते हैं।"

"तुम्हारे ऋण की अर्जी का क्या बना ?"

"सरकार ने जाँच-पड़ताल की थी कि मेरे पास पहले से कोई मेरा अपना घर तो नहीं। मेरी माँ के पास कोई अपना घर तो नहीं। मेरे पिता के पास कोई अपना घर तो नहीं। हिन्दू परिवार क्योंकि संयुक्त परिवार समझा जाता है, इसलिए मेरे किसी भाई-बन्धुओं के पास कोई अपना घर तो नहीं।···और साथ ही मेरे दादों-परदादों का कोई विरासत में मिला घर तो नहीं। और चाहे मैंने सरकार को विश्वास दिला दिया था कि जब से बन्दर नस्ल में से इन्सान पैदा हुआ है, मेरे वंश में कभी किसी के पास अपना घर नहीं था···फिर भी उन्होंने न जाने मेरी अर्ज़ी को किस तरह की अफीम खिला दी···वह किसी मेज़ के खाने में सो रही···"

"और तुम्हारे रोज़गार की अर्ज़ी ?"

"वह इस तरह बन गयी है जैसे कोई कुंवारी लड़की वर ढूंढ़ते-ढूंढ़ते ही बूढ़ी हो जाये।"

"और तुम्हारी मुहब्बत की अर्ज़ी ?"

"उस लड़की का बाप कहता है कि जिस के पास घर नहीं, रोज़गार नहीं, उसे मुहब्बत करने का कोई अधिकार नहीं।"

और मेरे मालिक ने मुझे बड़ी इज्ज़त से एक घूरे पर रख दिया—और

स्वयं अपनी ज़मीन का दौरा करने के लिए चल पड़ा, जिसे बेचकर उसे चूल्हे में आग जलती रखने के लिए कुछ लकड़ियाँ खरीदनी थीं।

"मैं ?" मैंने घबराकर अपने जाते हुए मालिक को आवाज़ दी।

मेरे मालिक ने एक मिनट ठिठककर मेरी ओर देखा और उसने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया, "अगर तुम्हें अपनी इतनी ही चिन्ता थी तो तुम्हें किसी सेठ-व्यापारी के मन में जा बसना था, फिर तू एक छोटा-सा घर तो क्या, महल तक बन जाता···"

"तुम मुझे गलत समझ रहे हो मेरे मालिक ! मैं तो सिर्फ़ उस आदमी के छोटे-से घर का नक़्शा हूँ जिस के दसों नाखूनों में, कहते हैं, बरकत होती है।" मैंने कहा।

और मेरा मालिक अपने दसों नाखूनों को बार-बार देखता गली में से बाहर चला गया।

न जाने कौन रंग रे

समय हमेशा आगे नहीं चलता, कभी यह पीछे भी चलने लगता है। जैसे चलते हुए के हाथ से कोई चीज़ गिर पड़ी हो, बड़ी दूर निकल जाने के बाद उसे उस चीज की याद आयी हो और फिर उसे खोजने के लिए वह पीछे चल दिया हो।

मेरी माँ की नाक का मोती समय की मुट्ठी से गिर पड़ा। बीस साल बीत गये। बीस साल बाद समय को अचानक उस की याद आयी। वह चौंककर ठिठक गया, और फिर उस मोती की तलाश में पीछे लौट पड़ा।

बीस साल पीछे लौटे हुए समय की सहायता से मैं आज अपनी माँ की नाक का मोती देख रही हूँ। मैंने अपनी माँ को अपनी आँखों से कभी नहीं देखा, क्योंकि मैं अभी पूरे चालीस दिनों की भी नहीं थी जब मेरी माँ चल बसी थी। पर आज बीस साल पीछे चलकर आये समय की आँखों से मैं देख सकती हूँ कि—पड़ोसी के घर विवाह रचा है। विवाहुला लड़की की सहेलियाँ मँडहे के दिन गीत गाने के लिए जमा हुई हैं। हम मध्यप्रदेशियों में यह मँडहे का दिन बड़ा सजीला होता है। विवाह के मण्डप के चारों ओर लड़कियाँ घेरा डालकर नाचती हैं। इन नाचती हुई लड़कियों में जो सबसे कटीली है- उस ने नाक में सुच्चा मोती पहना है। तीखे और कनकई नाक पर मोती बड़ा दिप रहा है। घुंघराये हुए बाल जब नाच की ताल में घूमती कमर से हुलराकर माथे पर आ गिरते हैं तो कोई एक घुंघरू ज्यादा ही उछल कर नाक के मोती को हाथ से छू जाता है। और होंठों मे जब गीत काँपता है तो उसकी लचक से नाक का मोती झिलमिला उठता है। मोती का रंग दिखता है, पर गीत का रंग नहीं दिखता, न ही गानेवाले के मन का रंग दिखायी देता है, और इसी अनदिखन में परेशान होकर वह लड़की कह रही है :

"कलसा तो बड़ा सुन्दर,
न जाने कौन रंग रे।"

और इस पंक्ति को लगभग बीस बार दुहराकर वह आगे कहती है :

"न जाने कुम्हरा के गढ़हे
न जाने माटी रंग रे
दुलहन तो बड़ी सुन्दर
न जाने कौन रंग रे।
न जाने मईया की कुखिया
न जाने बाबा रंग रे
रूप दिया करतार
सुन हो हम आपा रंग रे।..."

और न दिखनेवाले रंग की परेशानी को वह करतार पर और कुदरत पर छोड़कर अपना मन हौला कर लेती है पर मन शायद यूँ हल्के नहीं हुआ करते। मन तोते का बाना पहन लेता है और उस देश में उड़ जाने के लिए व्यग्र हो उठता है जो देश अमरूदों का देश हो। दिन में पके अमरूदों को चुँचियाता वह अपना समय काट लेता है—पर रात में फिर विकल हो उठता है। वह आधी रात में बैठकर चोली के बन्धन को कुतरने लगता है। यही परेशानी गीत बन जाती है :

"चल रे सुगना अमरूदवा के देसवा में।
दिन में तो कुटके सुगना पकले अमरूदवा
अधीया रतियन कुटके चोली केर बँधनुवा।
चल से सुगना..........."

और फिर पता नहीं गा-गाकर और नाच-नाचकर वह लड़की थककर रुक जाती है, या तोते की लाल चोंच से घबराकर वह तोतेवाला गीत गाना बन्द कर देती है, या मुँडेर पर से देखते हुए लोगों की नज़रों से लजा जाती है...इसके बाद बारात आती है। वे लड़कियों के साथ मिलकर बारात देखने चली जाती है। बारातियों में दूल्हे के कुछ दोस्त ऐसे भी है जो किसी बड़े शहर से आये लगते है। उनकी चाल-ढाल बाकी बारातियों से न्यारी है। और उन न्यारे बारातियों में से एक बाराती एकटक उस लड़की के मुख की तरफ़ देखे चला जाता है जिस लड़की की नाक में सुच्चा मोती दमक रहा है। लड़की को लगता है कि यही आदमी मुँडेर पर भी खड़ा था। जाने दोनों घरों से उसका कोई दुहरा नाता था जो कि अब वह बारात में भी चला आया था। लड़की लाज से दुहरी हुई जाती है और उसकी नाक का मोती जैसे नाक में सिकुड़ता जाता है।—इसके बाद बारात रोटी खाती है। कुछ बाराती बारातघर में लौट जाते हैं। पर दूल्हा, उसके नज़दीक के कुछ नाती और उसके न्यारे दोस्तों में से सिर्फ एक दोस्त वहाँ रह जाता है। मण्डप में बैठने का समय हो आता है। सामग्री का धुआँ जैसे-जैसे ऊपर उठता है, लड़कियों का गीत ऊँचा हो जाता है :

"पहली भँवर बेटी अब हूँ हमारी—बाबल की बेटी
दूजी भँवर बेटी अब हूँ हमारी—भईया की बेटी
तीजी भँवर बेटी············"

तीसरी भँवर बिटिया मामे की, चौथी भँवर बेटी ताऊ की, पाँचवीं भँवर बेटी चाचे की, छठी भँवर बेटी भाइयों की···अपनी माँ के जाओं की—पर सातवीं भँवर में बेटी पराई हो जाती है।—गानेवाली लड़कियों में सबसे छबीली वही लड़की है जिसकी नाक मे सुच्चा मोती है, और सबसे लचीली आवाज उसी लड़की की है जिसकी नाक में सुच्चा मोती कांप रहा है। दूल्हे का वह प्यारा दोस्त आँख नहीं झपकता; एकटक उसे देखे जाता है। सारे गीत में वह लड़की उसे पराई लगती रहती है। पर आखिरी पंक्ति गाती हुई वह लड़की उसे अपनी हो गयी लगती है। सुबह सूरज उग आने पर वह लड़की के माँ-बाप को सन्देशा भिजवाता है और उस लड़की को माँग लेता है।—माँ-बाप उसका अता-पता पूछते हैं और फिर अपनी तसल्ली कर लेने पर उस लड़की की सगाई दे देते हैं - वह लड़की कलावती—सुना है कि मेरी माँ थी।

अगली बात मैंने अपनी नानी के मुख से कई बार सुनी कि मेरी मां अपने विवाह में भी गीत गाती थी। और कोई गीत नहीं—सिर्फ़ एक ही पंक्ति—"न जाने कौन रंग रे!" यह पंक्ति वह ढोलक पर नहीं गाती थी—यूँ ही गाये जाती थी। आँगन में बैठकर नहीं गाती थी—घर की दीवारों से सटकर गाती थी। सहेलियों के साथ मिलकर नहीं गाती थी, अकेली शीशे के सामने खड़ी होकर गाती थी। हवा में हाथ हुलराकर नहीं गाती थी—हाथ से आँख का आँसू पोंछकर गाती थी। और इस गीत के विलाप से उस के नाक का मोती दिप-दिपाता नहीं था, जल-जलकर बुझता था।

और मेरी नानी ने मुझे बताया था कि विवाह के पहले फेरे में ही मेरी माँ का रूप नखुना गया था। दूसरे फेरे में मुझे कोख में ले लौटी। कोख मे मुझे ले आयी, और हड्डियों में ताप। बस। फिर वह कहीं नहीं गयी। मुझे जन्म देने के बाद उसका पूरा चालीसा भी नहीं कटा। खाट से एक दिन उसे तब उतारा गया जब मेरा जन्म हुआ था। फिर चालीसे के अन्दर दूसरी बार वह उस दिन उतारी गयी जब उसका साँस उखड़ रहा था।

मैं जब ज़रा सँभली तो नानी को ही मां कहकर बुलाने लगी थी। पाँच साल बाद मुझे मालूम हुआ था कि माँ और होती है और नानी और। तब मुझे नानी ने बताया कि मेरा बाप एक बार मेरी माँ की मौत पर आया था और फिर कभी नहीं आया। वह कहीं से मेरी एक दूसरी माँ ले आया था। पर दूसरी माँ अपनी माँ नहीं होती, इसलिए उसने कभी मुझे अपने पास नहीं बुलाया था।

और सोलह साल बाद मेरी नानी ने मुझे एक भेद की बात बतायी थी।

मैं तब कॉलेज में पढ़ती थी। हमारे कस्बे में कॉलेज खुल चुका था। एक दिन मेरे कॉलेज का एक सहपाठी मुझे मिलने के लिए आया। वह मेरे कमरे में बैठा था कि मेरे नानाजी घर आ गये। मेरी नानी ने मुझे बताया कि मेरे नानाजी को यह पसन्द नहीं होगा कि मेरे कॉलेज का कोई लड़का मुझे मिलने के लिए घर आये। इसलिए मैंने उस से कुछ बातें करके उसे जल्दी से भेज दिया। मेरे नानाजी आगे के आँगन में बैठे हुए थे, इसलिए मैंने अपने जमाती को आगे के दरवाज़े से नहीं—पिछले दरवाज़े से लौटा दिया।—उस रात नानी ने मेरे पास बैठकर मुझे बताया कि मेरी माँ को एक यूसुफ नाम का लड़का बहुत अच्छा लगता था। और मेरी नानी ने सोच में गोता खाकर मुझे यह भी बताया कि खुदा ने उसे शक्ल भी यूसुफ की ही दी थी, और हलीमी भी। "पर न ज़ात मिलती थी न धर्म—मैं किस दरवाज़े से उसे अन्दर लाती। एक बार मैंने उसे पिछले दरवाज़े से अन्दर आते हुए देखा तो मैंने बेटी को अकेले में बैठाकर समझा दिया कि औरत का पाप फूल की तरह होता है, जो पानी में डूबता नहीं, बल्कि तैरकर मुँह से बोलता है। मर्दों का क्या है - उनके पाप तो पत्थरों की तरह पानी में डूब जाते हैं, किसी को कानोंकान खबर नहीं लगती।—मैंने बेटी को बाँधकर उसका विवाह कर दिया। पर एक साल में ही बिचारी चल दी। जो सेहरा बांधकर आगे के दरवाज़े से घर आया था, मरी हुई की लाश देखने के लिए बस एक बार फिर आया और चला गया। मरी हुई का चेहरा देखने के लिए एक बार वह भी आया बेचारा। पिछला दरवाज़ा खटखटाने लगा। मैं क्या करती? ज़ात नहीं मिलती थी. धर्म नहीं मिलता था, पर किस दिल से मैं उसे रोक देती। अन्दर आकर मरी हुई का चेहरा देख गया। और फिर उन्हीं पैरों उसी रास्ते से लौट गया। मेरी बेटी की किस्मत! जो आगे के दरवाज़े से आया था, वह भी चला गया और जो पीछे के दरवाज़े से आया था, वह भी चला गया।···"

और इस तरह मुझे अपनी माँ का रोग मालूम हो गया था। मेरी नानी जो बात मुझे समझाना चाहती थी मैंने वह भी समझ ली। मुझे अपनी माँ वाले रोग से बचना था, इसलिए मैंने कभी किसी को पिछला दरवाज़ा न खोला। मुझे मालूम हो गया कि पिछले दरवाज़े से जो दिल एक बार चला जाता है, वह दिल फिर लौटकर छाती में नहीं आता···

मुझ पर भी वही जवानी आयी थी जो कभी मेरी माँ पर थी। अपनी नानी से मैंने भी वह गीत सीखा था जो कभी मेरी माँ ने सीखा था—चल रे सुगना अमरूदवा के देसवा में—और शीशे मे अपना चेहरा देखकर मैं भी वही गीत गाती थी जिसे मेरी माँ गाया करती थी - "न जाने कौन रंग रे।"···पर मैंने घर का पिछला दरवाज़ा कभी किसी के लिए न खोला। और अगले दरवाज़े पर नजर टिकाकर उसकी इन्तज़ार करने लगी जिसका चेहरा देखकर मुझे किसी यूसुफ

का चेहरा याद न करना पड़े···

फिर मुझे सत्तरहवाँ साल लगा, फिर अठारहवाँ और फिर उन्नीसवाँ। मेरे नानाजी को घाटा पड़ गया। मेरे लिए वे जिन अच्छे रिश्तों की तलाश कर रहे थे, उनकी वह उम्मीद छोड़ बैठे। एक दिन सोच में डूबे हुए उन्होंने मेरे बाप को खत लिखा कि मेरी उमर विवाह के योग्य हो आयी थी जिससे उन्हें मेरे लिए फिक्र करना चाहिए था।

खत के जवाब में मैंने जिसे देखा वह मेरा बाप था। बेटी ने अपनी होश में पहली बार अपने बाप को देखा और बाप ने पहली बार बेटी को। आँखों में कभी पहचान पड़ जाती थी, कभी निकल जाती थी। मैं समझ नहीं पा रही थी कि अपने बाप से क्या बातें करूँ, और शायद मेरे बाप को भी यह समझ नहीं आ रहा था कि वह मुझ से क्या बात करे। उस रात वह मेरे नानाजी के घर रहा। रात में बड़ी देर तक उन से बातें करता रहा, सुबह मेरी नानी ने मुझे बताया कि मेरा बाप कुछ दिनों के लिए मुझे अपने घर ले जाना चाहता था। मुझे यह सब अजीब लग रहा था, पर मैं जाने के लिए मान गयी। मेरी इच्छा किसी आत्मीयता से नहीं बँधी हुई थी, पर एक रिश्ते से बँधी हुई थी। दोपहर के समय जब मैंने अपने कपड़े निकाले तो मेरी नानी ने अपना लकड़ी का सन्दूक खोलकर, उस में से सुच्चे मोती की तीली निकालकर मेरी नाक में पहना दी। यह वही सुच्चा मोती था जिसे मेरी माँ अपने नाक मे पहना करती थी···

मुझे वह पल अच्छी तरह याद है जब मेरी नाक में सुच्चा मोती पहनाकर मेरी नानी ने मेरे चेहरे की तरफ़ देखा तो दोनों हाथों से अपना मुँह ढँककर वह रोने लगी थी। फिर जाने अपना रोना उसे अशकुना लगा कि वह मेरे सिर को अपनी छाती से लगाकर मेरे माथे को चूमने लगी। चूमते-चूमते वह कह रही थी: "मूल से व्याज प्यारा।"·· मैं जानती थी कि मेरी नानी का मूल खो गया था। मैं तो व्याज थी—बेटी की बेटी। उस खोये हुए मूल का दर्द भी था, और रहते व्याज पर प्यार भी आ रहा था।

मेरे चहरे में से उस समय जाने किस तरह सब को मेरी माँ का चेहरा दिखायी दे रहा था। स्टेशन पर जाते समय मेरे नानाजी ने मुझे सिर पर प्यार दिया तो उन के मुख से हड़बड़ाकर निकल गया, "मुझे तो आज यह बिलगिया बिलकुल कलावती दिखायी दे रही है—साईं के ये क्या रंग होते हैं···"

गाड़ी में मुझे ज़नाने डिब्बे मे बिठाकर मेरे पिताजी ने अपना बैग मर्दाने डिब्बे में रख लिया। मैं जब अकेली बैठी तो मुझे लगा कि मैंने अपने बाप की शक्ल अच्छी तरह नहीं देखी थी। दूसरे दिन सुबह जब दिल्ली उतरूँगी तो पता नहीं गाड़ी मे से उतरकर उसे पहचान भी सकूँगी या नही।—और शायद यही विचार मेरे बाप को भी आया हो, क्योंकि अगले स्टेशन पर वह मेरे डिब्बे में

आया और मुझे इस तरह देखने लगा जैसे वह भी मेरी शक्ल को अच्छी तरह देख रहा हो ताकि दूसरे दिन सुबह वह दिल्ली गाड़ी से उतरने पर मुझे अच्छी तरह पहचान ले।

रात उतर आयी थी। अभी काफी सफर बाकी था कि आगरा स्टेशन आया। स्टेशन पर मेरा बाप मेरे डिब्बे में आया और मुझ से बोला, "अगर तुम कहो तो यहाँ उतर जायें। तुम ने ताज कभी नही देखा···" मेरे मन का बाँध टूट गया। दिल में आया कि—अपने बाप की छाती से सिर पटककर कहूँ, 'माँ ने मुझे मरकर छोड़ दिया, पर तुम ने तो जीते जी ही छोड़ दिया था। बीस साल बाद आज तुम्हें ख्याल आया है कि मैंने अभी आगरे का ताज नहीं देखा, दिल्ली का लाल किला नही देखा···मुझे अब कुछ नहीं देखना···' किसी बाप से मैंने ज़िदें करके नहीं देखा था, पर जब समय आया था, तो ज़िदें करने की उमर बीत चुकी थी। अब मैं उन्नीस साल की कॉलेज में पढ़ी-लिखी लड़की थी। कहना मानकर 'अच्छा' कहा और गाड़ी से नीचे उतर आयी।

एक होटल में सामान रखा। रोटी खायी। रात बड़ी गहरा चुकी थी। सोचा कि सुबह होते ही ताज देखेंगे—इस समय नहीं। और मैं अपने पिता के सपने जैसे महल को आँखों में झपककर सो गयी।

आगे मालूम नही मेरी किस्मत या मेरे नाक मे पहने हुए मोती की किस्मत—मुझे अपनी छाती में अपना साँस घुटता हुआ महसूस हुआ और घबराकर मेरी आँख खुल गयी। किसी का मुख मेरे मुख पर झुका हुआ था, किसी की बाँहें मेरी बाँहों पर पड़ी हुई थी। मै चीख उठी, "बाबूजी!"

अपने बाप को पहचानकर मैंने यह आवाज़ नही दी थी। जो आदमी मेरी चारपाई पर आ गया था, उस से मुझे बचाने के लिए मैंने अपने बाप को आवाज़ दी थी। पर···

बाबूजी ने अपनी तली से मेरे होंठ भींच दिये। मेरी चीख मेरे होंठों में ही भिचकर रह गयी। मैं काँप रही थी, पर मैंने देखा मेरा बाप भी काँप रहा था। मेरी बाँहों में मालूम नहीं कहाँ से जोर आ गया। मैंने अपने बाप की बाँहों को पीछे धकेल दिया और चारपाई से उतरकर खड़ी हो गयी।

मालूम नहीं हो रहा था, क्या करूँ। कमरे का दरवाज़ा अन्दर से बन्द था। मैं ने दरवाज़ा जल्दी से खोल दिया और मैं दहलीज़ में खड़ी हो गयी। समझ नही पा रही थी कि इस समय कहां जाऊँ। कितनी ही देर दरवाज़े में खड़ी रही। और फिर मैंने देखा कि मेरा बाप अपनी चारपाई पर पड़ा रो रहा था। मैं कितनी देर उसी तरह खड़ी रही। एक पैर दहलीज के अन्दर था, एक बाहर। अन्दर का पैर बाहर नहीं जाता था, और बाहर का पैर अन्दर नहीं आता था।

और फिर मेरे कानों को लगा कि मेरा बाप मेरी माँ का नाम लेकर कुछ

कह रहा था। और फिर मुझे लगा कि मेरा नाम लेकर भी कुछ कह रहा था। मैंने कमरे के खुले दरवाजों को भिड़का दिया और अपने पिता की चारपाई के पास घुटनों के बल बैठ गयी। मेरी टाँगें काँप रही थीं और मुझ से खड़ा नहीं रहा जाता था।

जो लफ़्ज़ मेरे पिता के रोने में मिले हुए थे, वे अब मुझे अच्छी तरह सुनायी दे रहे थे। मेरा बाप कभी मेरी माँ का नाम लेकर उस से माँफी माँग रहा था और कभी मेरा नाम लेकर। न जाने कैसा रोना मेरे दिल में भी घिर आया। चारपाई के पाये से सिर टेककर मैं रोने लगी तो न मैं अपने बाप को चुप करा सकी और न अपने-आप को।

जाने रात ढल रही थी, सुबह हो रही थी, या सिर्फ चाँद का उजाला कमरे में फैल रहा था, मेरा बाप चौंककर चारपाई से उठ बैठा, "मैं दिन की रोशनी में तुम्हें अपना चेहरा नहीं दिखा सकता बेटी ! मैं अभी यहाँ से चला जाऊँगा। तुम पढ़ी-लिखी लड़की हो। सुबह किसी गाड़ी से वापस अपनी नानी के पास चली जाना।"

मैं ने अपने बाप के टूटे-टूटे बोल सुने और फिर देखा कि उसने अपनी जेब से कुछ नोट निकालकर चारपाई पर रख दिये : "होटल का बिल दे देना···गाड़ी का टिकट ले लेना···"

मैं चारपाई के पाये पर सिर रखकर रो रही थी। मालूम नहीं कब मैं अपने पिता की टाँगों के पास होकर उसके घुटनों से सिर लगाकर रोने लगी थी।

'तुम अगर माफ कर सको···मुझे माफ कर देना !···" मेरे बाप ने कहा और मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे सिर पर हाथ रखने के लिए उसने अपना हाथ बढ़ाया था – पर मेरे सिर को छुआया नहीं था।

'बाबूजी !" मेरे मुख से बिलखकर निकला।

"तुम्हारी माँ मर गयी—समझ लेना बाप भी मर गया –" मेरे बाप ने एक बार कहा और फिर उस ने मुझ से अपने घुटनों को छुड़ाकर परे हो जाना चाहा।

मैं ने घुटनों को ज़ोर से अपनी बाँहों में कस लिया। पर मुझ से कुछ कहना न हुआ। बड़ी देर बाद मेरे बाप ने कहा :

"तू नहीं समझ सकती···मैं समझाऊँ भी किस तरह—किसे समझाऊँ ? एक सच था, पर सारा झूठ बन गया है।"

"मैं समझूंगी बाबूजी !"

"मैं ने जब तुम्हारी माँ को देखा था···बीस साल हो चले हैं—पता नहीं बीस साल कहाँ चले गये—मैं ने कल जब तुम्हें देखा—तो मुझे लगा कि मैं उसी को देख रहा था···"

"मैं समझ रही हूँ बाबूजी···"

समय हमेशा आगे नहीं चलता। कई बार पीछे भी चल पड़ता है। जैसे चलते हुए के हाथ से कोई चीज़ गिर पड़ी हो। बड़ी दूर निकल जाने के बाद उसे उस चीज़ की याद आयी हो और फिर उसे खोजने के लिए वह पीछे लौट आया हो— मेरी माँ की नाक का मोती समय के हाथ से गिरा पड़ा था। बीस साल हो चले थे। आज मेरा बाप समय के साथ मिलकर उस मोती को खोज रहा था···

मेरे बाप को बीस साल पीछे की बातें कल की तरह याद थीं। मैं सुनती रही : जैसे वह एक-एक बात मुझे आँखों से दिखाता जा रहा हो। जो कुछ समझ सकती थी समझा। जो नहीं समझ सकती थी—उसे अपनी छाती में रखकर नानी के घर आ गयी हूँ, "सौतेली माँ के पास जाने का दिल नहीं हुआ।" नानी को कह दिया है। पर सोच रही हूँ कि माँ गाया करती थी "कलसा तो बड़ा सुन्दर न जाने कौन रंग रे" माँ को अपने मन का रंग मालूम न हुआ, वह इस रंग से परेशान होकर मर गयी। बाबूजी जीवित हैं, पर अपने मन का रंग उन्हें भी पता नहीं चलता···जिस ईश्वर ने इस रंग को बनाया है, वही उन्हें माफ करे। मैं क्या कह सकती हूँ···

ज़री का कफ़न

वह दोनों एक बार तब भी मिली थीं जब वह ज़िन्दा थीं···

तब एक की उम्र बीस बरस थी, दूसरी की चालीस बरस। बात सिर्फ़ इतनी थी कि जिस की उम्र बीस बरस थी उस ने उस दूसरी की बहू बनने का निश्चय कर लिया था। पर जिस की चालीस बरस उम्र थी, उस ने उस दूसरी की सास बनने से कतई ना कर दी थी।

ब्याह की रस्म हुई थी, पर उस के लिए जिस की उम्र बीस बरस थी। जिस की चालीस बरस थी उस के लिए नहीं। सो यह रस्म उसे हमेशा दिखाती रही, जिस ने इसे आँखों से देखा था। पर यह रस्म उसे कभी ना दिखी जिस ने इसे आँखों से देखने से इन्कार कर दिया था।

"तू जीते-जी मेरे घर की दहलीज़ नहीं लाँघ सकती," एक फ़रमान की तरह उस ने कहा था जिसकी उम्र चालीस बरस थी।

"तू मुझे मरी हुई समझ ले पर घर की दहलीज़ लाँघ लेने दे।" यह उस ने मिन्नत की थी, जिस की उम्र उस वक़्त बीस बरस थी।

"मैं जीते-जी तेरा मुँह नहीं देखूँगी, न जीती का, ना मरी का," और उस ने पैरों के पास झुके हुए माथे को पैरों से परे कर दिया था, और घर की दहलीज़ ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी थी···

इस दहलीज़ की हँसी में—पैसे की हँसी भी मिली हुई थी और एक खानदान की ज़िद की हँसी भी। सो यह हँसी भी इतनी ऊँची थी कि जिस की उम्र तब बीस बरस की थी। उस ने दोनों पर हाथ रख लिये थे।

कानों पर से हाथ हटाकर उस ने कई बार उस की तरफ़ देखा था जिस के पीछे यह घर था और घर की दहलीज़ थी। पर वह तब भी चुप था, फिर भी चुप रहा। सिर्फ़ दहलीज़ तब भी हँसती थी, फिर भी हँसती रही।

और फिर यह दहलीज़ और भी हँसी—जब एक बारात इस दहलीज़ से बाहर गयी, और एक डोली इस दहलीज़ के अन्दर आयी। और उस की उम्र तब

बीस बरस थी, और जो परे एक स्कूल के क्वार्टर में बैठकर इस दहलीज को देखती थी, उस ने इस की हँसी से डरकर कानों पर हाथ रख लिये।

वक्त था बीतता रहा। और फिर जिस की उम्र चालीस बरस थी, उस की साठ बरस हो गयी, और जिस की उम्र बीस बरस थी—उस की चालीस हो गयी। दहलीज़ की हँसी भी शायद बूढ़ी हो गयी थी, वह अन्दर देखती तो भी खाँसने लगती, बाहर देखती तो भी खाँसती।

और फिर वह मर गयी जिस ने दूसरी को हुक्म दिया था कि तू जीते-जी मेरे घर की दहलीज को नहीं लाँघ सकती। और हुक्म देनेवाली अभी दहलीज़ के अन्दर थी, चाहे एक लाश थी, गिर्द सम्बन्धियों की भीड़ थी, केवड़े की महक थी, और ज़री का कफ़न था—कि उस के हुक्म की उदूली हो गयी···

वह दहलीज़ के अन्दर आ गयी जिसे आने का हुक्म नही था। और उस के पैरों के पास खड़ी हो गयी, जिस ने हुक्म दिया था। एक का माथा दूसरी के पैरों से छुआ, और ज़री का कफ़न घबरा कर सफेद धोती को देखने लगा···

"यह कौन है?···चुप कर···यह भी उस की बहू थी···कहाँ रहती थी?··· पता नहीं···" रिश्तेदारों में खुसर-पुसर हुई पर ज़री का कफ़न सफेद धोती को कुछ कह नही सकता था।

सफेद धोती एक पल आयी, दूसरे पल चली गयी। सिर्फ जाती हुई को बूढ़ी दहलीज़ ने रोका, और पूछा, "तूने उस का हुक्म मोड़ दिया···"

"नहीं।" सफेद धोती ने जवाब दिया, "उस ने कहा था तू जीते-जी दहलीज़ नहीं लाँघ सकती, मैं जीते-जी तेरा मुँह नहीं देखूंगी। मैं तभी मर गयी थी, वह आज मरी है। यह तो एक लाश दूसरी लाश से मिलने आयी थी।"

फिर सफेद धोती दहलीज़ क बाहर चली गयी और कुछ देर बाद ज़री का कफ़न भी दहलीज़ के बाहर चला गया।

बूढ़ी दहलीज़ कितनी देर माथे पर हाथ रखकर बैठी रही।···

अँधेरे का कमण्डल

रात रोज़ आती है, जोगी की फेरी की तरह, हर दरवाज़े पर अलख जगाती है, सपनों की भीख माँगती है, कोई दे-दे तो वाह-वाह, नहीं दे तो वह खड़ी नहीं होती, चली जाती है···

पर एक बार, चार-पाँच बरस हुए, वह आयी थी तो हाथ में पकड़े हुए अँधेरे का कमण्डल वहीं भूल गयी थी। वहाँ उस कमरे में, जहाँ विद्या माँ बनने की पीड़ा से जूझ रही थी···

तब से वह अँधेरे का कमण्डल वहीं पड़ा हुआ है। बाहर जब धूप चढ़ती है, उस का सेंक कमरे में भी आता है, कमरे की ठिठुरन टूट जाती है, और वह अँधेरा भी गर्माकर उस कमरे में ऊँघने लगता है···

कई बार विद्या का मन किया था कि अगली रात, जब जोगी की फेरी की तरह आयेगी, वह अँधेरे का कमण्डल लौटा देगी। कमण्डल में डालने के लिए उस के पास सपनों की भीख कोई नहीं, पर वह अपनी बेटी की तोतली बातों में से एक मुट्ठी भर कर उस कमण्डल में डाल देगी, और वह कमण्डल लौटा देगी। पर ऐसा नहीं हुआ। हर नयी रात के हाथ में नया कमण्डल होता है, पुराने कमण्डल को पकड़ने के लिए कभी भी उस का हाथ खाली नहीं होता···

आज रात···नहीं चार-पाँच बरस पहले की एक रात···नहीं आज रात···

एक औरत जनने की पीड़ा से तड़प रही थी, एक चारपाई के पैताने बैठकर जैसे पीड़ा को सहला रही थी···

विद्या को लगा—वह चारपाई पर कराह रही थी, और वह जो चारपाई के पैताने के पास थी, वह मिस राय थी, डाक्टर राय···

और फिर विद्या को लगा—उस के जिस्म में कहीं कोई पीड़ा नहीं थी, वह चुपचाप चारपाई के पैताने की ओर बैठी हुई थी, और चारपाई पर जो औरत पीड़ा से कराह रही थी, वह मिस राय थी···

एक कमरा जैसे एक चक्कर-सा खाकर उलटा हो गया हो···

नहीं, कमरा उसी तरह था, चारपाई भी वहीं थी, उसी तरह, सिर्फ़ जो कोई चारपाई पर दर्द से तड़प रही थी, वह उठकर चारपाई के पास खड़ी हो गयी, और जो कोई चारपाई के पास खड़ी हुई थी, वह दर्द से तड़पकर चार-पाई पर पड़ गयी···

एक बच्चे की हुआँक···

बिलकुल इसी तरह विद्या ने यह हुआँक सुनी थी, फिर चाहकर बच्चे के मुँह की तरफ़ देखा था—हर बच्चे का मुँह पता नहीं पहले दिन एक-सा ही होता है—नर्म-नर्म मांस का एक गुच्छा हाथों में से फिसल-फिसल पड़ता···

फिर विद्या की आँखों ने जल्दी से मांस के उस गुच्छे को टटोला—हर औरत की आँखें ऐसे ही मांस के गुच्छे को टटोलती है—यह देखने के लिए कि यह लड़का है या लड़की ?

लड़का !

नहीं, अभी तो वह लड़की थी···

बीते हुए बरस, पास ही कहीं बैठे हुए थे, वह धीरे-से हँस पड़े ।

अँधेरे का कमण्डल भी धीरे-से हँस पड़ा···

विद्या विचारों के बस मे थी, पर उस के हाथ-पैर विचारों के बस में नहीं थे । वह जैसे सामने दिखती जरूरत के बस में थे । मिस राय को इस वक्त उस की ज़रूरत थी, इसलिए विद्या हाजिर थी --

विद्या को जब ऐसी जरूरत पड़ी थी, तब मिस राय उस के पास थी—चाहे सास-माँ, या बहन और भाभी की तरह नहीं, एक डॉक्टर की तरह । और अब मिस राय की ज़रूरत के वक्त विद्या उस के पास थी—एक डॉक्टर की तरह नहीं एक सास-माँ की तरह, एक बहन-भाभी की तरह या सिर्फ़ ऐसे—जैसे इन्सान इन्सान की दवा होता है ।

दोनों में एक रिश्ता था—पर ऐसा रिश्ता जिसे कोई आँखो से देखना न चाहे, कानों से सुनना न चाहे । पहली हिम्मत मिस राय की थी आँखें मूँदकर उस रिश्ते पर से लाँघ गयी थी, और सड़क पर खड़ी निराश्रित-सी विद्या को उस का हाथ पकड़ कर अपने पास ले आयी थी । उसे घर का आसरा दिया था, खाने को रोटी, पहनने को कपड़ा और उस की गोद में ली हुई बेटी को खेलने के लिए खिलौने और पढ़ने के लिए किताबें दी थीं । फिर दूसरी हिम्मत विद्या ने की थी, घर में झाड़ू देते हुए उस ने वह रिश्ता भी बुहारकर कूड़े में फेंक दिया था—जिसे कोई आँखों से देखना न चाहे, कानों से सुनना न चाहे···

सो अब दोनों में कोई रिश्ता नहीं था । दर्द से छुटकारा पाकर मिस राय ने पालने में पड़े हुए बच्चे को देखा, फिर कमरे में चीजों को सँभालती-समेटती

विद्या की ओर। फिर हँस-सी पड़ी —"विद्या ! तुझ वह दिन याद है, जब इस कमरे में···"

"मीतो जन्मी थी।"

"तब तूने इस कमरे का तेरह दिन का किराया दिया था···"

दोनों की साँसें दोनों के होंठों के पास अड़-सी गयीं···

विद्या ने गर्म पानी की बोतल मिस राय के पैरों के पास रखी, फिर कम्बल को दोनों तरफ़ से मोड़कर ऊपर मिस राय के कन्धों तक किया और फिर हँस-सी दी—"मैं ने तो सिर्फ़ तेरह दिन का किराया दिया था, आप ने तो सारी उम्र का···"

कमरे का एक दरवाज़ा जिस साथ के कमरे में खुलता था, वहाँ मीतो सो रही थी। शायद किसी खड़खड़ाहट से जाग गयी थी, या वैसे ही माँ की चारपाई खाली देखकर वह मुँदे दरवाज़े को खोलकर इस कमरे में आ गयी थी।

"मीतो ! इधर आ तुझे तेरा भाई दिखाऊँ···" विद्या ने सिसकती-सी मीतो का पल्ले से मुह पोंछा और उसे पालने के पास ले गयी।

मिस राय चौंक गयी, उसे लगा जैसे मीतो की आँखें पालने के बच्चे के साथ अपना रिश्ता ढूंढ़ रही हो···

विद्या ने कैसे सहज स्वभाव से कह दिया था—"मीतो ! आ तुझे तेरा भाई दिखाऊँ···" मिस राय का जी किया वह विद्या को मना कर दे कि आगे कभी वह मीतो को यह न कहे।

मीतो का भाई···मिस राय ने पालने की तरफ़ देखा, तो उसे लगा, पालने में पड़ा हुआ बच्चा उसका अपना बच्चा नहीं था—वह मीतो का भाई था, विद्या ने सच कहा था— वह मीतो का भाई था।

तब—यह मीतो इस पालने में पड़ी हुई थी···उस ने खुद मीतो को पालने में से उठा कर उसके बाप की झोली में डाल दिया था। कहा था—यह लो अपनी बेटी···

आज—अगर वह पास होता, इसी तरह वह पालने में से इस लड़के को उठाती, उस की झोली में डालती, कहती—यह लो अपना बेटा—वह यहाँ नहीं पर जहाँ भी है—मीतो उस की बेटी है, यह लड़का उसका बेटा है;···

उस के माथे पर पसीना आ गया···

'विद्या···"

"जी।"

"तू क्या सोच रही है ?"

"कुछ नहीं···"

"इस लड़के की शक्ल···"

"निरी पूरी आप की।"

"और मीतो की ?"

"सारी मेरी।"

मिस राय को फिर हँसी आ गयी—यह विद्या बड़ी कम बोलती थी, सिर्फ़ यह नहीं कि कहती कुछ नहीं थी, लगता था—सोचती भी नहीं। सोचने से भी जैसे स्वतन्त्र हो गयी थी···कैसे सहज मन से कह रही थी—लड़के की शक्ल आप पर और लड़की की शक्ल मुझ पर···

विद्या ने लड़के को शहद चटाया, और फिर कम्बल में लपेटते हुए कहा—"बहुत ना सोचो, सो जाओ।"

मिस राय ने चाहा, जैसे विद्या ने कहा है वह सो जाये। सोने से ऐसे ख़्याल नहीं आयेंगे—हमेशा आते हैं पर आज की तरह नहीं—यह क्या हो गया—किस तरह हो गया ? शहर में कितनी ही डाक्टर थीं, पर यह कोई विद्या मेरे पास क्यों नहीं आयी थी ?···मरीज़ आते है, चले जाते हैं, पर यह विद्या···

"यह भी तो मरीज़ों की तरह आयी थी, मरीज़ों की तरह चली गयी थी··· फिर ?"

"इस का खाविंद भी ऐसे ही आया था जैसे हर औरत के साथ उस का मर्द आता है···फिर ? वह फिर भी आता रहा—कभी बच्ची की दवाई लेने कभी उस की माँ की···"

मिस राय ने तौलिये के पल्ले से माथा पोंछा, गर्दन और कन्धे भी कुछ गीले से हो गये थे, उन्हें भी पोंछा, फिर तौलिये को सिरहाने के पास रखते हुए मिस राय को तौलिये में से एक घरेलू औरत की गन्ध आयी—पसीना···बच्चा··· दूध···

"वह शायद इसी गन्ध से दूर जाना चाहता था···इसीलिए विद्या के पास से चला गया था···फिर एक दिन अचानक लौटा···" पसीने की बूंदों की तरह मिस राय का माथा ख़्यालों से भी भीग गया—"वह हमेशा रेशम सरीखी कोमल बातें करता था पर वह रेशम के तार हाथों से टूटते नहीं थे···मैं ने भी इस रेशम के जाल को तोड़ना चाहा था···पर मेरे पैर, सब राहों सहित, उस में लिपट गये···"

मिस राय को अपने पैरों पर एक तरस-सा आया—"यह पैर उस रेशम के जाल में चले गये, पर राह तो बाहर रह जाते···"

मिस राय ने थककर आँखें मूंद लीं—पर आँखें और भी अन्तस को झांकने लगीं—

"यह कैसा रिश्ता था—बिस्तर की तरह बिछा लिया, बिस्तरे की तरह समेट लिया, और फिर किसी रेलवे स्टेशन पर जैसे बिस्तरा ही खो गया

हो···"

मिस राय को सबकुछ याद था—पर बेतरतीब सा। वह बहुत दिन उस के पास ही रह गया था, तब मिस राय को कहना पड़ा था कि उस ने उस के साथ ब्याह कर लिया था···यह नर्सिंग होम फिर एक घर-सा बन गया था – फिर वह सारे केस अस्पताल में लेती थी - निजी तौर पर अपने पास नहीं···दो बरस ···ढाई बरस···वह कोई थीसिस लिखता रहा था···

वह किताबों के वरकों में ही खुलता और सिमटता रहा···या कभी घड़ी-पल उस के जिस्म के मांस में···

मिस राय का अंग-अंग कच्चे पसीने से भीग गया – "स्टेशन पर खड़ा मुसाफिर जैसे अचानक जेब में हाथ डाले तो जेब में कुछ भी न हो···एक सुबह नहीं था वह···"

"विद्या ?'

"जी !"

"वह मीतो को खिलाया करता था ?"

"नहीं।"

"मीतो उस की बेटी थी ?"

"मेरे लिए, पर उस के लिए नहीं।"

"उसे बेटी···बेटा···कुछ नहीं चाहिए था ?"

"कुछ नहीं।"

मिस राय को परदेसी मोहरवाला वह ख़त याद आया, बस दो लाइनें "कभी वापिस लौटूंगा कि नहीं, कुछ नहीं कह सकता। मेरा इन्तजार न करना। ओह ···आह···" मिस राय को ख़्यालों का एक गोता-सा आया—"वह शायद विद्या से नहीं, मीतो के मुंह से दौड़ा था···फिर मीतो के भाई के मुंह से···"

"आप क्यों सोचती हैं इतना···" विद्या ने एक नम्रता से कहा।

"तू नहीं सोचती थी, जब वह तुझे छोड़कर गया था ?" मिस राय हँस-सी भी पड़ी और रो भी दी

"सोचती थी, पर उसे नहीं, एक मर्द के मुंह को सोचती थी···"

"ओह···"

"सिर की छत को सोचती थी, थाली की रोटी को सोचती थी···"

मिस राय को उस दिन वाली विद्या याद आयी—जो मीतो के बाप की ख़बर सुनकर, एक दिन मिस राय के दरवाज़े पर उसे ढूंढ़ने आयी थी···उसे नहीं सिर की छत को और थाली की रोटी को ढूंढ़ने आयी थी···

"विद्या ?"

'जी।"

"तेरा मर्द···तू सोचती होगी मैं ने छीना था···"

"नहीं, आपने तो मेरा मर्द लौटाया है···"

"वह किस तरह ?"

"सिर की छत आप ने दी और थाली की रोटी भी ···"

"पर वह मैं ने अपना गुनाह हलका करने के लिए···"

'गुनाह तो उस का था और किसी औरत ने नहीं लौटाना था, आप ने लौटाया···"

मिस राय का 'अब' फिसल कर परे जा खड़ा हुआ—उस के बिस्तरे से परे एक पालने के पास—' इस लड़के का क्या करूँगी ?"

"मैं इसे पालूँगी, एक औरत जैसे पालती है···"

"और मैं ?"

"आप···घर का मर्द···"

रात दरवाज़े के आगे से जोगी की फेरी की तरह गुज़र गयी थी। मिस राय शायद कुछ सो गयी थी, अब दिन उगनेवाला था। पर अँधेरे का कमण्डल उसी तरह कमरे में पड़ा हुआ था।

मीतो फिर अपने कमरे में से उठकर सिसकती-सी इस कमरे में आ गयी थी। पालने का बच्चा शायद भूख से बिलख पड़ा था, विद्या स्टोव पर उस के लिए दूध गर्म करने लगी तो मिस राय को लगा—जैसे अँधेरे के कमण्डल में से दो बच्चे निकलकर इस कमरे में रो रहे हों ···।

कल और आज

"हैरा !" मेरे मुँह से निकला, तो मैं कितनी देर तक उसके नाम की विचित्रता में खोया रहा।

"यह मेरा नाम मैंने खुद ही चुना है।" हैरा मेरी हैरानी पर हँस-सी पड़ी। फिर कहने लगी, "हैरा एक ग्रीक गाडैस का नाम था।"

लगा मैं भी हँ।-सा पड़ा था, कहा, "तू एक जीती-जागती औरत की जगह, एक दिन इन किताबों के वर्कों में एक वर्का हो जायेगी···"

"शायद···" हैरा खिलखिलाकर हँस पड़ी, "वर्कों में से निकली हूँ, वर्कों में समा जाऊँगी। जिस तरह धरती में से निकली हर चीज़ धरती में समा जाती है।"

"तो फिर ज़िन्दगी किस चीज़ का नाम है हैरा ?"

"धरती में से निकलने, और फिर धरती में गिराने के बीच का समय।"

"यह बीच का समय···"

"बहुत ख़ूबसूरत है। बहुत भयानक है। है ना ! लगता है इस समय की तकदीर को हज़ारों बरस पहले धरती और अम्बर ने कल्पित कर लिया हो। पर अम्बर ने उसकी भयानकता को सोचा, और धरती ने उसकी खूबसूरती को···"

"किस तरह ?"

"यूरेनस अम्बर था, गाया धरती। उनके घर जो भी बच्चा जन्म लेता, यूरेनस उसकी ज़िन्दगी की भयानकता से डरता, उसे फिर गाया की कोख में दबा देता। पर गाया की कल्पना बड़ी रँगीली थी, वह चाहती थी उसके बेटे-बेटियाँ उसकी आँखों के आगे खेलें। इसलिए उस ने एक दिन अपनी कोख में छुपे हुए अपने एक बेटे करोनस को उकसाया कि वह कायरों की तरह वहाँ न छुपा रहे, बाहर आकर अपने बाप से बदला ले। गाया ने उसे एक दराँती दी जिस से उस ने अपने बाप को हरा कर अपना राज्य कायम किया। धरती और अम्बर उसी दिन एक-दूसरे से जुदा हुए थे···"

"भयानक···"

"लोग कहते हैं डोरिअनज़ से पहले धरती पर 'गिल्ट-कलचर' नहीं थी, पर मैं सोचती हूँ कि जिस दिन गाया ने अपने बेटे को उसके बाप के खिलाफ उकसाया था, गुनाही-सभ्यता उसी दिन शुरू हो गयी थी। मुझे पता है, फिर करोनस ने क्या किया ?"

"क्या ?"

'संस्कार भी शायद वहाँ से ही अस्तित्व में आ गये थे। करोनस को पता था कि उस ने बेटा होकर अपने बाप पर हाथ उठाया था, इसलिए उस के मन में यह संस्कार बैठ गया कि हर बेटा अपने बाप पर ज़रूर हाथ उठायेगा। इसलिए उसके घर भी जितने बेटे-बेटियाँ जन्मे, उस ने भी यह सब धरती में छुपा दिये।"

"सो गुनाह का अहसास भी मनुष्य के साथ पैदा हो गया, और संस्कार भी। पर करोनस की औरत कौन थी ? अम्बर की तो धरती थी···"

"करोनस की बहन रहीया, जो उस के साथ ही धरती की कोख में दबी हुई थी, और वह भी उसकी स्वतन्त्रता हुई थी···"

"पर तब मनुष्य की 'गिल्ट कलचर' में बहन से साथ ब्याह करने का गुनाह शायद नही था ?"

"नही, यह गुनाह, बहुत बरसों के बाद, गुनाहों की सूची में शामिल हुआ। भारतीय मिथहास में भी यह जुड़वाँ थे, बहन-भाई, उन से ही दुनिया का अगला वंश बना। इजिपशियन मिथहास में भी आतुम पहला देवता था, जो अपनी इच्छा-शक्ति से पैदा हुआ, उस के मुँह में से उस का बेटा और उस का बेटी जन्मे, जिन के संयोग से धरती और आसमान भी बहन-भाई थे, जिनके संयोग से चार बेटे जन्मे···"

"हाँ, तू बता रही थी कि करोनस ने अपने सब बेटे-बेटियाँ धरती में दबा दिये···"

"पर मर्द मर्द है, औरत औरत है, रहीया भी आखिर गाया की तरह उतावली हो गयी कि उसके बेटे-बेटियाँ भी अगर ऐसे ही खत्म हो गये तो क्या बनेगा ! आगे वह पाँच बच्चे धरती में दबा बैठी थीं, इसलिए जब उसे छठे बच्चे की आस हुई तो उसने क्रीट टापू पर जाकर एक गुफा में उस बच्चे को जन्म दिया, और उस के बाप को इस बेटे के बजाय एक पत्थर देकर कहने लगी कि इस बार उसकी कोख से पत्थर जन्मा है···"

"सो वह बच्चा जीता रहा···"

"वही बड़ा होकर बाप से लड़ा, और बाप को क़ैद करके खुद तख्त का मालिक बना।"

"पर उसका वंश कैसे बढ़ा ? वह अकेला था और धरती पर कोई औरत

नहीं थी ?"

हैरा मुसकरायी, "उस को माँ ने बताया कि उ १ के पाँच भाई-बहन धरती में दबे हैं। सो उस ने उन को ढूँढ़ा। इन में ही उस की बहन हैरा थी, जिस के साथ उस ने ब्याह किया।"

"सो अम्बर दुनिया का पहला मर्द था, और धरती पहली औरत। ग्रीक बोली में यूरेनस और गाया।"

'हाँ, हिब्रु में धरती को अद्मा कहते हैं, इसीलिए धरती के पहले बेटे का नाम आदम हुआ।"

"आदम और हव्वा।"

"हव्वा, ख़ुदा के मुँह में से आती साँस। एशियायी विश्वास है कि यह अम्बर में कत्ल हुए एक देवता के शरीर से गिरा हुआ ख़ून था, पर यह हिब्रु विश्वास नही।"

"शायद प्रारम्भिक लिवास एक ही हों पर वक़्त के साथ-साथ जुदा हो गये हों..."

"मुझे एक खयाल आया है," हैरा कुछ सोचती रही। फिर एक किताब उठा-कर उस के सफे पलटती हुई कहने लगी, "इंडियन माईथालोजी में प्रारम्भिक देवता मित्र और वरुण थे। वरुण का सम्बन्ध अम्बर के साथ था, मित्र का धरती के साथ। ग्रीक माईथालोजी में खेती-बाड़ी की देवी दिमेतर है। 'दा' लफ्ज़ धरती के लिए होता था, गाया की तरह। दा-मेतर का अर्थ धरती माँ बनता है। शायद हिन्दुस्तान का देवता मित्र और यूनान का दिमेतर—मूल में एक ही रूप है..."

"प्रारम्भ में मनुष्यों की एक-सी ज़रूरतें थीं, एक-सी हैरानियाँ इसलिए ख़याल भी ज़रूर एक जैसे होंगे..."

"सब देवी-देवता उनके हैरान ख्यालों के चिन्ह हैं, जैसे ग्रीक देवी दिमेतर की बेटी, धरती की हरियाली का चिन्ह है। यह जब ब्याही गयी...।"

"इसका ब्याह किसके साथ हुआ था ?"

"अपने चाचा हेडस के साथ, ग्रीक मिथहास में चाचा के साथ ब्याह का आम ज़िक्र मिलता है। यह हेडस धरती में गहरी जगह पर रहता था। इसलिए ब्याह के बाद दिमेतर की बेटी को भी वहीं ले गया। माँ को बेटी कहीं नज़र न आयी, इसीलिए उस ने बेटी को ढूँढ़ना शुरू किया। आखिर हेडस ने दिमेतर को उस की बेटी वापिस कर दी, पर उसे एक ऐसा बीज खिला दिया, कि जिस के पीछे उसे हर बरस का तीसरा हिस्सा फिर वहीं उस के पास रहने के लिए आना पड़ता था। बरस के दो हिस्से वह अपनी माँ के पास रहती थी। यह ज़ाहिर है कि खेती जब बीजी जाती है तो कितने दिनों तक धरती में अलोप हो जाती है। धीरे-धीरे बीज पनपता है तो वह बाहर आती है। इस की पूजा तभी ग्रीक लोग

मक्की के सिट्टे से करते हैं···।"

"सो इसका धरती की तह में जाकर अपने मर्द के पास रहना, और फिर बाहर अपनी माँ के पास रहने के लिए आना, खेती-बाड़ी का पूरा अमल है। पर वह हेडस ?"

"वह हमेशा धरती की तह मे रहता है। इसलिए उसे सोने और चाँदी का देवता कहा जाता है —दोनों धातुएँ धरती के अन्दर होती हैं।"

"हैरा ! धरती अम्बर के फटने का मिथहास ग्रीक मिथहास है, पर हिन्दुस्तान के मिथहास में इस सब कुछ का आरम्भिक रूप क्या था ?"

"एक सुनहरी अंडा, आग का चिन्ह, जो एक हज़ार बरस पानी पर तैरता रहा। यह अंडा जब कुछ वक़्त बाद टूट गया तो इस में से पुरुष निकला। इसी ने अपने दो टुकडे कर के एक का नाम मर्द रखा, एक का औरत। साबुत अडा ग्रीक मिथहास की तरह धरती अम्बर के जुड़े होने का चिन्ह था, और जो बीच में से टूटकर, एक हिस्सा धरती बन गया, एक आसमान।"

"सो पहले पुरुष पैदा हुआ था, चाहे बाद में उस ने अपने ही आधे टुकड़े का नाम औरत रख दिया।" मैं हँस पड़ा। मेरे भीतर का मर्द हँस पड़ा। हैरा भी मुसकरायी। "पैदाइश तो एक ही समय हुई थी, इकट्ठी, सिर्फ़ उस के एक की जगह दो नाम बाद में रखे गये। इसे इस तरह भी कहते हैं कि उगते सूरज में से एक जोड़ा पैदा हुआ—यम, और उस की जुड़वाँ बहन यमी। यही मनुष्य जाति के आदि माँ और बाप थे।"

"हैरा और उस के भाई की तरह ?"

"उस से भी पहले उन दोनों के माँ-बाप रहीया और करोनस की तरह।"

"सो मर्द और औरत जुड़वाँ थे ?"

"अफरीकन मिथहास में भी दुनिया का पहला मर्द और दुनिया की पहली औरत जुड़वाँ थे। औरत का नाम मावसी और मर्द का नाम लिया। माव चन्द्रमा था, लिसा सूरज। अफरीकन मिथ का एक विश्वास यह भी है कि धरती ने अपने हाथों से कुम्हारिन की तरह मिट्टी के पुतले बनाये, खुदा ने अपने साँस में से उन में साँस भरा, और वह जीते-जागते इन्सान बन गये।"

मुझे लगा -- मेरे जिस्म में मेरा खून रेंग रहा था। मेरे साँस मेरे होंठों में गर्म हो रहे थे, मैंने जल्दी से पूछा, "हैरा ! मनुष्य ने जितने देवी-देवताओं की कल्पना की, सुख और आराम की तलाश में से। पर साँप ? उस से तो शायद मनुष्य को डर और मौत के सिवाय कुछ भी नहीं मिल सकता था। उस की पूजा क्यों ?"

"भारतीय विश्वास है कि शेषनाग पाताल का राजा है, इस के एक हज़ार सिर हैं। सात पाताल इस के सिर के आधार पर ही खड़े हैं। अफरीकन विश्वास

है कि धरती अथाह पानी में बह जाती, अगर उस के गिर्द एक साँप ने पूँछ को मुँह में पकड़कर, और धरती के गिर्द घेरा बनाकर उस को थामा न होता। ग्रीक माईथालोजी में प्रो-ग्रीक एक मिथ है कि एथना एक माँ-देवी थी, यह सदा कुँआरी रही। जिस तरह इस का अपना जन्म एक देवता के माथे में से हुआ था, इसी तरह एक साँप इसका बेटा इसकी कोख में से जन्मा।"

"यह जरूर गुनाही सभ्यता से पहले की बात होगी?" मेरे जिस्म का रोम-रोम बोल पड़ा। हैरा अपने ध्यान में कहे गयी, "साँप हर जगह जा सकता है—धरती की तह में भी, दूर जंगलों में भी, पहाड़ों की शिखर पर भी, और नदी, नाले, दरिया और समुद्रों में भी ।"

"और मनुष्य के अंगों में भी···" मैं ने चौंककर कहा।

हैरा ज़रा-सा मुसकरायी, फिर कहने लगी, "इसलिए इसकी शक्ति को शक्ति का सबसे बड़ा चिन्ह समझ लेना स्वाभाविक बात लगती है। इसकी राह में ना धरती रुकावट बनती है, ना पर्वत, ना समुद्र···।"

"और ना समय, ना उम्र···" मैं अपने अन्दर रेंगते खून से अपने अंग-अंग में चढ़ते एक खुमार में कुछ मदहोश-सा हो गया। हैरा को अपनी बाँहों में कस लेने के लिए मैंने तड़पकर अपनी बाँहें पसार दीं—

पर हैरा जल्दी से पीछे हो गयी, और एक किताब की एक जिल्द को उठाकर उसके अन्दर चली गयी···चार हज़ार वर्ष पहले···

मिथहास के अनन्त वर्कों में एक वर्का···

हैरा की खुली आँखें—मेरी तरफ़ देखे जाती हैं···

मैं अपने प्यासे होंठों से उसके होंठों को देखता हूँ—खुदाया। उस के होंठों में साँस क्यों नहीं आता···तू कहाँ चला गया? अपने साँस में से उसके अन्दर साँस क्यों नहीं भरता?

सामने—कागज़ का एक वर्का मेरे जिस्म की तरह काँप रहा है···यह शायद धरती में से निकलने और फिर धरती में समाने के बीच का समय है··· खूबसूरत···भयानक···

गौ का मालिक

उस के जिस्म का रंग भूरा था, थन एकदम काले नहीं थे, पर काली झलक मारते थे। इसलिए गाँववालों ने उस का नाम 'कपिला गौ' रखा था।

कपिला ने जितनी बार अपनी टूटी टाँगों पर भार डालकर उठने की कोशिश की, उतनी ही बार ज़ोर से अर्राकर वह ज़मीन पर गिर गयी थी। अब उस में और हिम्मत नहीं थी। हाँफते हुए उस ने घास की सीलन को चाटने के लिए जीभ निकाली, पर घास में पानी की तरावट की जगह गरम, नमकीन लहू-सा लगा।

उस ने रात को अपने साथ घास चरने के लिए आयी हुई बाकी नौ चितकबरी गायों को अपनी पथराई आँखों से ढूंढ़ने की कोशिश की, पर आस-पास उसे, दूर से, बहुत दूर से केवल कुछ आवाज़ें सुनायी दीं···

एक कड़कती आवाज़ थी, "गऊ माता पर यह ज़ुल्म ! ये हत्या करनेवाले पापी, हत्यारे···!"

दूसरी चीख़ती आवाज़ थी, "जिस देश में इस तरह पाप होता है, जहाँ कोई धर्म-कर्म नहीं रहा, वह देश डूब जायेगा···"

और फिर पता नहीं कितनी आवाज़ें थीं जिन्होंने उगते हुए सूरज की रोशनी पर जैसे हमला बोल दिया हो···

आवाज़ें पास भी हुईं, दूर भी, और फिर खामोशी छा गयी।

कपिला का जिस्म सुन्न होता जा रहा था, और खुर उस के गिर्द बह रहे खून में डूब रहे थे। उसे लगा—जैसे कुछ लोग फौजी वर्दियों में उस के पास घूम रहे हैं···

वे लोग जिधर देख रहे थे, कपिला ने भी पथराती आँखों से उधर देखा—दूर एक हवाई जहाज़ पड़ा हुआ था !

कोई कह रहा था, "सर, मेरी दूसरी डार्क नाइट फ्लाइंग एक्सरसाइज़ थी, बिना लैंडिंग लाइट्स के 'टेक ऑव' करने की ब्रीफिंग थी···"

"फिर ?" किसी ने पूछा।

वह कह रहा था, "सर, मैं ने टेक ऑव करने से पहले के वाइटल एक्शंस किये, और जहाज़ को रनवे पर लाइन-अप कर लिया। ब्रेकों पर छह हज़ार आर. पी. एम. तक पावर खोली, और ब्रेक छोड़ दिये। और इंजन पावर 'टेक ऑव' आर. पी. एम. तक खोल दी। बाहर देखा तो रनवे-लाइट्स के बिना कुछ नहीं दिख रहा था।"

"फिर?" किसी ने पूछा।

"सर! हवाई जहाज़ रोल करता गया। स्पीड बढ़ रही थी। मिडल मार्कर पर स्पीड एक सौ पैंतीस नॉट्स पर पहुँच गयी। मैं ने कण्ट्रोल स्टिक को अपनी तरफ़ खींचा। मैं उस वक़्त इंसट्रूमेण्ट की तरफ़ देख रहा था। हवाई जहाज़ का नोज़-व्हील ऊपर को उठा, अचानक बहुत जोर के झटके महसूस हुए।

'मैंने इंजन एकदम बन्द कर दिये, और ब्रेक लगा दिये। इस तरह लगा जैसे कोई जोर-जोर से हवाई जहाज़ को झकझोर रहा हो।

"मुझे ख़याल आया कि कहीं जहाज़ का टायर न फट गया हो!...जहाज़ रनवे से एक तरफ़ उतरकर दरख्तों की तरफ़ या गढ़ों में जा गिरा था। पर मैं रनवे की लाइट दोनों तरफ़ देख सकता था। इतने में जहाज़ का दायां पहिया टूट गया और जहाज़ एकदम दायीं तरफ मुड़कर रनवे के नीचे उतर गया। रगड़ के कारण जहाज़ पर से चिनगारियाँ निकल रही थीं।"

"उस वक़्त नेवीगेटर कहाँ था?" कोई पूछ रहा था।

किसी ने उत्तर दिया था, "सर, मैं इस का नेवीगेटर हूँ। 'टेक ऑव' के समय मैं क्रैश सीट पर बैठा था। जहाज़ रुक गया तो मैं ने एन्टरेन्स-डोर को खोलने की कोशिश की, पर वह डोर जाम हो चुका था। फिर मैं ने देखा, जहाज़ का नोज़-सैक्शन टूट चुका था, वहाँ एक बड़ा छेद हो गया था। मैं उसी छेद में से बाहर निकल गया।"

"तुम बाहर किस तरह निकले?"

"सर, मेरे पास एक ही तरीका था कि मैं बाहर निकलने के लिए अपनी सीट-कैनोपी को जैटीसन करता। कैनोपी को खोलने के लिए मैं ने बटन दबाया, वह कुछ ऊपर हुई, पर फिर अपनी जगह आ गयी। हवाई जहाज़ खड़ा था, इसलिए नीचे हवा का बहाव नहीं था। मैं जहाज़ में कैद था। हाथों से मै ने कैनोपी को उठाने की कोशिश की, पर उठायी नहीं गयी। फिर मैं ने खड़े होकर सिर के ज़ोर से कैनोपी को उठाने का प्रयत्न किया। वह ऊपर हुई तो हाथों के ज़ोर से मैं ने उसे आगे करके बाहर छलाँग मार दी। बाहर आकर देखा कि हवाई जहाज़ के दाहिने विंग का एक हिस्सा टूटकर एक तरफ़ पड़ा हुआ था। रनवे के इर्द-गिर्द खून-ही-खून था और गायें मरी पड़ी थीं। हमें डर था कि शायद जहाज़ को आग लग जायेगी, इसलिए हम यहाँ से दौड़कर दूर जा खड़े हो गये।"

फिर आवाज़ आयी, "पर ये गउएँ यहाँ एयर-फील्ड में आयीं किस तरह ?"

"सर, हमें कुछ पता नहीं।"

"यह तफतीश होती रहेगी, पर इस वक़्त तुम्हें बाहर खतरा है। तुम दोनों अपनी सीमा से बाहर न जाना। गाँव में हमारे खिलाफ़ जलूस निकल रहे हैं। मुज़ाहरे हो रहे हैं !"

कपिला की जान टूट रही थी। पर अभी निकली न थी। आँखें कभी पल-भर को खुलतीं, फिर मुँद जातीं।

रोशनी अँधेरे में बदल रही थी। उसे लगा जैसे उस के समीप कई लोग जमा हो गये हैं। कई आवाज़ें उस के कानों में पड़ीं···

"इन मरी हुई गउओं के मालिक कौन हैं ?"

कपिला को लगा—फिर एक खामोशी छा गयी है। कोई कुछ नहीं कह रहा है···

"तुम लोग, जिन की भी गउएँ हैं, अपने-अपने नाम लिखा दो। तुम्हें तुम्हारी मरी हुई गउओं का मुआवजा दिया जायेगा।"

फिर बड़ी आवाज़ें आयीं, जैसे सारे लोग एक साथ बोल रहे हों···।

"एक गऊ मेरी थी, हुरज़ू ! गोरी गऊ ! मेरा नाम शेरा है।"

"एक गऊ मेरी थी, हुरज़ू ! 'तीनथनी' नाम रखा है।"

"एक मेरी थी, हुज़ूर, 'लुड़ी' गऊ···"

बहुत-सी आवाज़ें थीं, बहुत-से नाम, और फिर कोई कड़कती आवाज़ आयी, "तुम ने बीस नाम लिखवा दिये हैं, पर गायें सिर्फ दस हैं। सब झूठ बोल रहे हो !"

कपिला ने बुझती आँखों को खोलकर अपने और अपने साथ की गायों के मालिकों को पहचानने की कोशिश की। कुछ चेहरे पहचाने हुए भी लगे, पर कुछ एकदम अजनबी थे, पता नहीं कहाँ से आ गये थे···कपिला ने अपने मालिक मोहना का चेहरा पहचाना। उसे अपने बछड़े की बड़ी याद आयी और उस ने गले के सारे ज़ोर से रँभाकर कुछ कहना चाहा, पर गले में से आवाज़ न निकल सकी।

कड़कती आवाज़ में कोई कह रहा था, "तुम इसीलिए अपने को गउओं का मालिक बता रहे हो कि तुम्हें मुआवज़ा मिलेगा। पर तुम मरी हुई गउओं के झूठे मालिक हो !"

फिर पता नहीं सब कहाँ चले गये। सारी आवाज़ें अँधेरे में डूब गयीं। पता नहीं कि यह रात का अंधेरा था या कपिला की आँखों में फैला मौत का अँधेरा···

पता नहीं कब, कितनी देर बाद फिर कुछ आवाज़ें उभरीं, "बोल, चौकीदार ! ये गायें यहाँ एयर-फील्ड में किस तरह आयीं ? पता लगा है कि घास चरने के

लिए ये यहाँ रोज़ रात का आती थीं। इन के मालिक तुझे हर महीने रिश्वत देते थे···तुझ पर रिश्वत का केस···"

कपिला के होश-हवाश गुम हो रहे थे। कोई बात कानों में पड़ती थी, कोई नहीं। जिस्म से मक्खियाँ उड़ाने के लिए उस ने पूँछ को हिलाना चाहा, पर पूँछ अब हिलती न थी···

फिर एक आवाज़ आयी, "वे सब—शेरा, रक्खा और बीस लोग—कहाँ चले गये? अब कोई किसी गाय का मालिक नहीं बनता, सब कह रहे हैं—हुज़ूर, ये गायें हमारी नहीं थीं···सिर्फ़ इसलिए कि उन्हें पता लग गया है कि हमारा जो पैंतीस लाख का हवाई जहाज़ तबाह हो गया है, उस का हरजाना गायों के मालिकों को देना पड़ेगा···"

कपिला ने अपने मालिक मोहना का स्मरण किया, पर वह आस-पास कहीं नहीं था···

कपिला को याद आया—एक बार मोहना बीमार पड़ा था, राज़ी नहीं हो रहा था, तब एक सयाने ने उसे बताया था कि मंगलवार को आटे का एक पेड़ा वह अपनी गऊ को अपने हाथ से खिलाया करे···

कपिला के मरे-मरे अंगों को भी भूख-सी लग आयी—आटे का पेड़ा! मंगल-वार···क्या आज मंगलवार नहीं? मोहना···क्या मोहना उस का मालिक नहीं? ···उस का कोई मालिक नहीं?

कपिला की पथराती आँखों को एक हिलती-सी चीज़ का झाँवला पड़ा—शायद मोहना आ गया!···अपनी मरती गऊ के जिस्म पर एक बार हाथ फेरने के लिए आ गया?

उस ने फैली हुई आँखों से पहचानने की कोशिश की—उस के जिस्म पर कुछ छू रहा था—बहुत कोमल···स्निग्ध···मोहना के हाथों से भी कोमल···और उस ने आँखों से गिरती पानी की आखिरी बूँद से पहचाना—उस का बछड़ा पता नहीं कैसे वहाँ आ पहुँचा था, और अपनी जीभ से मरती हुई माँ का जिस्म चाट रहा था···

तहखाना

हवा कुछ तेज़-सी हो गयी—
शायद इसलिए कि हवा में तुम्हारा सांस मिला हुआ था—
और, हवा के सीने में खड़े वृक्षों के पत्ते धड़कने लगे ।

मैं हड्डियों और मांस की एक इमारत, कितनी ही देर चुप खड़ी रही ।
फिर जैसे अपने आप ही अपने शरीर के बाहर आ गयी ।
मैं ने बाहर के रास्ते की तरफ़ देखा
तुम उस बाहर के रास्ते पर जा रहे थे—
रास्ते पर कई लोग गुज़रते हैं—पर इस तरह नहीं—
तुम तो उस रास्ते पर इस तरह चल रहे थे, इस तरह खड़े हो जाते थे—
मानो तुम्हारे पाँव उस रास्ते से बातें कर रहे हों ।
तुम ने पता नहीं मुझ से क्या कहा—
कि रास्ते की मिट्टी का रंग गुलाबी-सा हो गया ।
और फिर मैं कितने ही दिन उस रास्ते की तरफ़ देखती रही ।

और फिर मैं ने एक दिन देखा—
तुम बाहर के दरवाज़ेवाले पेड़ के पास खड़े हो—
उस पेड़ का ख़याल है—कि उस दिन उस में पहली बार 'बौर' पड़ा था—
और मैं कई दिन तक उस पेड़ के 'बौर' को देखती रही ।
एक दिन बहुत तपती दोपहर थी —
तुम आये और बाहर के दरवाज़े के पास इस तरह खड़े हो गये—
मानो तुम उस दरवाज़े से पानी के किसी कुएँ का रास्ता पूछ रहे हो ।
दरवाज़े ने चौंककर एक बार तुम्हारी तरफ़ देखा, फिर मेरी तरफ़—
दरवाज़े के भीतर घर की दहलीज़ थी—

तुम ने दहलीज़ की तरफ़ देखा, वह सोयी जाग पड़ी।
और फिर मैं ने अन्दर जाकर घड़े में से पानी का एक कटोरा भरा
और तुम ने चुपचाप अन्दर आकर पानी का वह कटोरा पी लिया।

पता नहीं तुम कहाँ से आते थे और कहाँ चले जाते थे
सिर्फ़ इतना जानती थी कि मेरा घर तुम्हारे रास्ते में पड़ता है।
और तुम जब भी वहाँ से गुज़रते हो तुम्हें प्यास लगती है
और मैं पानी का कटोरा भरकर तुम्हारे सामने रख देती हूँ।

"मेरा नाम यूरेनस है!" एक दिन तुम ने पानी पीते हुए बताया था।

"मेरा नाम : गाया!" मैं ने तुम्हारे हाथ मे खाली कटोरा पकड़ते हुए कहा था।

और मुझे लगा था—
तुम्हारे आने के समय सदा कुछ पानी के कटोरे की तरह भरा होता था।
और तुम्हारे जाने के बाद वह सदा खाली कटोरे की तरह हो जाता था।
और उस से भी अधिक मेरे सूखे हुए गले की तरह हो जाता था—

मैं तिमंज़िली इमारत हूँ—
तुम ने सिर्फ़ एक मंजिल देखी थी, दूसरी नहीं।
और एक दिन जब तुम आये—
पानी पीने के बाद तुम दूसरी मंजिल की सीढ़ियों की ओर देखने लगे।

तुम्हें शायद प्यास के साथ कुछ भूख भी थी और शायद तुम ने यह भी जान लिया था कि तन की तृप्ति जैसी चीज दूसरी मंजिल पर थी। तुमने सीढ़ियों की ओर देखा तो मैं भी सीढ़ियों की ओर देखने लगी।

और सीढ़ियाँ चढ़ते हुए जब तुम ने अपना हाथ दीवार पर रखा तो मेरी कोख में से एक सिहरन-सी उत्पन्न होकर अंगों में विलीन हो गयी।

सीढ़ियाँ चढ़कर, सामने—बेलों से ढका हुआ छज्जेदार बरामदा और उस के पास सोने का कमरा।

तुम बेलों से ढके छज्जेदार बरामदे में खड़े थे और मैं कोने में आग सुलगाने लग गयी थी। फिर ठण्डी रोटी को गर्म करने लगी थी कि तुमपर नज़र पड़ी—हे भगवान! यह क्या···तुम्हारे चेहरे की ओर से सेंक आ रहा था, शायद तुम्हारे चेहरे पर आग की लपटों के साये पड़ रहे थे। लकड़ियों में से कुछ चिन-

गारियाँ उड़कर मेरे पाँवों के पास आ पड़ी थीं। पाँव चौंक उठे थे। पर फिर मैं ने चिनगारियों को पाँवों के तलवों से मसल दिया था।

गर्म रोटी तुम्हारे आगे रखते हुए मेरा हाथ काँप रहा था।

और मैं ने देखा रोटी का निवाला तोड़ते हुए तुम्हारे हाथ की उँगलियाँ काँप रही थीं।

मैं ने अपना कम्पन अपने शरीर में दबा लिया। तुम मेरी ओर कितनी देर तक ताकते रहे, मानो मेरे शरीर में उस छिपाये हुए कम्पन को खोज रहे हो।

शरीर के कम्पन को शायद आँख से नहीं खोजा जा सकता। तुम ने मुझे बाँहों में लेकर गले से लगा लिया और अपने शरीर के कम्पन से मेरे शरीर के कम्पन को ढूंढ़ लिया।

कोने में आग अभी भी जल रही थी और उस की लपटों के साये हमारे चेहरों पर पड़ रहे थे।

तिमंज़िली इमारत के नीचे एक तहखाना है जो किसी को दिखायी नहीं देता, पर है, और उस दिन जब तुम चले गये, रात को मैंने अपनी आयु का बीसवाँ वर्ष अपने शरीर से उतारकर उस तहखाने में रख दिया! सोचती थी तुम जब चाहोगे तुम्हें निकालकर दिखाऊँगी—तुम्हारी अमानत।

आवाज़ की एक लकीर थी जो सीधी छाती में से उठकर मेरे गले से गुज़रती थी और फिर मेरे होंठों के पास आकर छोटी-छोटी गोलाइयों में बदल जाती थी—यू···रे···न···स!···

और मेरी यह आवाज़ मेरे होंठों से निकलकर मेरे कानों में चली जाती थी और फिर कितनी ही देर मेरे कानों में पड़ी रहती थी।

मेरे अन्दर एक जगह छाती में, बायीं ओर, लगता था कि एक आग जलती है और उस के सेंक से इस आवाज़ की गोलाइयाँ फिर ढल जाती हैं। और फिर ये मेरी नस-नस से गुज़रकर मेरी छाती में चली जाती हैं। और यह एक लकीर-सी फिर छाती में से उठकर मेरे गले में से गुज़रती है। और फिर होंठों के पास आकर छोटी-छोटी गोलाइयों में बदल जाती है—यू···रे···न···स!···

दिन और रात शायद इसी आवाज़ की तरह घूमते हैं—वे भी एक दायरे में घूमते रहे, और यह आवाज़ भी।

और एक दिन तुम आये—बहुत दिन बाद पर आये। और उस दिन तुम्हारे पाँव में न पहली मंज़िलवाला संकोच था, न दूसरी मंज़िलवाला—तुम सीधे तीसरी मंज़िल पर आ गये, जहाँ मेरी सैकड़ों किताबें—इन्तज़ार के दिनों की भाँति—बन्द, ठण्डी और खामोश पड़ी हुई थीं।

तुम कितनी ही देर चुप खड़े रहे। लगा—जैसे किताबों में एक किताब और बढ़ गयी थी। और फिर मैं ने आगे बढ़कर तुम्हारे हाथ को ऐसे छुआ मानो

कोई आहिस्ता से किताब की प्रति को उठाकर उस के पहले पृष्ठ को देखता हो।

तुम हँस दिये और किताब के सारे पन्ने तुम ने अपनी आँखों में भर लिये, और सारी इबारत होंठों में। और तुम ने मेरे होंठों को इस तरह चूमा मानो मुझे तुम्हारे होंठों की सारी इबारत अपने होंठों से पढ़नी हो!

तुम जैसे सहज कदम तीसरी मंज़िल पर आये थे उसी तरह सहज कदम मेरा हाथ पकड़े नीचे दूसरी मंजिल पर आ गये। बेलोंवाले छज्जेदार बरामदे में से गुज़रकर मेरे कमरे में···और फिर कितनी ही देर तक मखमल के बिछौने को अपनी चौड़ी मर्दानी हथेलियों से दुलारते रहे।

पीछे बहुत लम्बे रीते दिन थे और आगे न जाने क्या था, पर उस वर्तमान में से एक क्षण उठा, जिस ने एक बाँह बीते हुए समय पर फैला दी, और दूसरी दूर तक आनेवाले समय पर, और आगे-पीछे जहाँ तक दृष्टि जाती थी वह क्षण फैल गया था···

उस से घड़ी पहले मांस की एक दीवार तुम्हारे गिर्द थी और मांस की एक दीवार मेरे गिर्द—और मांस-मिट्टी की दीवारें भी, पता नहीं, कैसे गिर गयीं और तुम मुझ से ऐसे मिले जैसे एक नदी का पानी दूसरी नदी के पानी से मिलता है—और उस घड़ी न जाने कितने हंस उस पानी में तैरते रहे।

नदियाँ जब सूख जाती हैं, फिर मिट्टी बन जाती हैं। लगा, तुम पास थे तो मैं नदी थी, तुम चले गये तो मैं फिर धरती थी, मिट्टी थी, मांस-मिट्टी की एक औरत थी।

उस दिन और फिर हर रात को मुझे लगता रहा कि मेरी कोख में से किसी के रोने की आवाज़ आती है।

फिर तुम एक अर्से तक आना ही भूल गये और एक रात—जब कितनी देर तक मेरी कोख से रोने की आवाज़ आती रही, तब मैं ने अपनी कोख को उस तहखाने में जाकर रख दिया जहाँ कभी मैं ने अपने बीसवें बरस को रखा था।

कभी-कभी मैं मोमबत्ती जलाकर उस तहखाने में जाती थी। कितनी देर अपने बीसवें बरस की ओर देखती थी और कितनी देर अपनी कोख में से किसी के रोने की आवाज़ सुनती थी, और सोचती थी कि अब जब तुम आओगे मैं तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हें इस तहखाने में ले आऊँगी।

फिर बरसों बाद—तुम एक बार आये, पर इस बार तुम अकेले नहीं थे—बाहर दरवाज़े के पास खड़े तुम्हारे कितने ही काम-काज तुम्हारे साथ आये थे—तुम ने एक पल अन्दर आकर हड़बड़ाकर पानी का कटोरा पिया और मैं ने जब हाथ पकड़कर तहखाने की ओर इशारा किया तो तुम मेरे हाथ में फिर कभी आने का इकरार पकड़ाकर चले गये।

तुम्हारे इकरार को मैं ने फूल की तरह नहीं पकड़ा था, अपनी मुट्ठ. न भींच लिया था, और वह कई बरस तक मेरी मुट्ठी में खिला रहा।

पर मांस की हथेली आखिर मांस की होती है, यह मिट्टी की तरह हमेशा जवान नही रहती। इसपर समय की सिलवटें पड़ जाती हैं। और जब यह बंजर होने लगती है तो इस में उगा हुआ हर पत्ता मुरझा जाता है। तुम्हारे इकरार का फूल भी मुरझा गया और एक दिन मैं ने कांपती हुई हथेली से उस मुरझाये हुए फूल को ले जाकर तहखाने के अँधेरे में रख दिया।

तीसरी मंज़िल पर बहुत किताबें हैं—दुनिया-भर के इतिहास की। पर उन में एक किताब की कमी है। उन में मेरे तहखाने के इतिहास की कोई किताब नहीं···

जिस ने दुनिया का इतिहास पढ़ा है उसे पता है कि आज से हज़ारों साल पहले यूरेनस नाम का एक पुरुष था और गाया नाम की एक स्त्री, और गाया की कोख से जो भी बच्चा जन्म लेता था यूरेनस उसे धरती की तह के नीचे दबा देता था···और गाया को धरती में से हमेशा बच्चों के रोने की आवाज़ आती थी···।

पर आज के इतिहास का किसी को पता नहीं चलेगा कि बीसवी शताब्दी में भी एक गाया थी—उस ने एक यूरेनस से प्यार किया था और अपनी उस कोख को एक तहखाने में रख दिया था जिस मे से सदा एक बच्चे के रोने की आवाज़ आती थी···

किसी को पता नहीं कि रोना केवल जनमे हुए बालक के गले से ही नहीं निकलता, अजन्मे बालक के गले से भी रोने की आवाज़ आती है।

पिघलती चट्टान

रात का चौथा पहर था। शायद अभी चौथा भी नहीं था, क्योंकि स्वयंभू पर्वत के शिखर पर बने हुए मन्दिर में पूजा करनेवाले लोग चौथे पहर इस रास्ते पर चलने लगते थे; लेकिन अभी इस पगडण्डी पर राजश्री के सिवा कोई नहीं था।

पथरीली चट्टानों को चीरती हुई यह पगडण्डी और इस पगडण्डी से बातें करते हुए राजश्री के पैर···

राजश्री को लगा जैसे इस पगडण्डी की और उस के पैरों की बातें बहुत लम्बी थीं, बहुत पुरानी। शायद दो सौ बरस पुरानी···

पर्वत के शिखर पर बने हुए मन्दिर की चौंध जब राजश्री की आँखों पर पड़ी, उस ने आँखें झपककर मन्दिर की चौंध की तरफ़ से अपना मुँह परे कर लिया और मन्दिर के पिछवाड़े की तरफ़ बसीगा नदी के तरफ़ पर्वत से नीचे उतरती हुई पगडण्डी पर हो ली···

अब भी पैरों के नीचे स्वयंभू पर्वत की पगडण्डी थी - पर चढ़ाई की तरफ़ जानेवाली नहीं, उतराई की तरफ़ उतरनेवाली···

और अचानक राजश्री के पैर एक चटट्ान के पास रुक गये, जैसे उस चट्टान को थामकर खड़े हो गये हों···

'मैं कहाँ जा रही हूँ ?' राजश्री का दिल ज़ोर से धड़का। यह बात उस ने शायद अपने दिल से ही पूछी थी। दिल ने एक बार बसीगा नदी के उस रास्ते की तरफ़ देखा जो नदी के उस भयानक मोड़ की तरफ़ जाता था जहाँ पानी का प्रवाह हमेशा एक भँवर बना रहता था—और फिर हँसकर कहने लगा, 'वहाँ ही, जहाँ दो सौ साल हुए तुम्हारे वंश की एक कुमारी रत्नराज लक्ष्मी गयी थी···'

राजश्री ने कुछ घबराकर आस-पास की चट्टानों की तरफ़ देखा। ऊपर-नीचे सब तरफ़ चट्टानें थीं—पत्थर की चट्टानें, और वहाँ इस रास्ते के सिवा कोई और रास्ता नहीं था।

उस की आँखों में एक हसरत सी भर आयी—'पैरों के लिए सिर्फ़ एक ही

रास्ता···कोई और रास्ता क्यों नहीं ?···इस पर्वत पर सिर्फ़ एक ही रास्ता क्या बना ?···'

राजश्री की पतली गोरी बाँहें जैसे एक चट्टान को हज़ारों बरस की नींद से जगाकर कुछ पूछ रही हों। पर वह चट्टान उस का बाँहों को गले से लगाकर भी इस तरह चुप थी जैसे उस के पास कोई उत्तर न हो।

"रकसी !" पथरीले पर्वत में से एक नरम-सी आवाज़ आयी।

राजश्री ने फूल की एक डण्डी की तरह काँपकर देखा—उस से थोड़ी दूर 'वही' खड़ा हुआ था जिस को वह पूरे चालीस दिन से रोज़ इस पर्वत की परिक्रमा में देखती थी।

"रकसी ! मुझे दो बात करने की तो इजाज़त दे दो !" वह, जो परे खड़ा हुआ था, वहीं खड़ा रहा, सिर्फ़ उस की आवाज़ धीरे से चलती हुई राजश्री के पास आयी।

राजश्री की सफ़ेद धोती का रंग जैसे रात के चौथे पहर में भी गुलाबी-सा हो गया, पर उस ने धोती के सफ़ेद रंग की तरह उदास और ठण्डी आवाज़ में जवाब दिया—"मेरा नाम रकसी नहीं।"

"मुझे नहीं जानना तुम्हारा नाम क्या है। मैं ने सिर्फ़ यहाँ की रकसी पी है, और मुझे लगता है तुम इस धरती की रकसी से भी बढ़कर कोई चीज़ हो···"

"रकसी सिर्फ़ चावलों की शराब होती है।"

"पर अगर कोई धरती की मिट्टी की शराब भी हो सकती है, तो वह तुम···"

"मैं···"

"तुम्हें देखा, और मैं इस धरती से लौट नहीं सका···"

"तुम···" राजश्री की आवाज़ रात के चौथे पहर की हवा की तरह और कोमल हो गयी और ठण्डी भी, कहने लगी, "तुम जिस देश से आये हो वहाँ लौट जाओ···नहीं तो···"

"नहीं तो ?"

"···परदेसी !"

"मेरा नाम कुमार है।"

"अच्छा, राजकुमार !"

"मैं राजकुमार नहीं हूँ, सिर्फ़ एक साधारण कुमार हूँ।"

"पर इतिहास···" राजश्री कुछ कहते-कहते रुक गयी, पर फिर सवेरे की पवन सरीखी कहने लगी, 'तुम्हें पता है मैं कौन हूँ ?"

कुमार ने किसी फूल की पहली खिलती हुई पत्ती की तरह कहा, "इस मिट्टी

की बेटी इस मिट्टी की शराब !"

राजश्री ने अपनी पीठ को चट्टान का सहारा दे रखा था, पर उसे लगा—इस घड़ी हर सहारे को छोड़ना था। सीधे खड़े होकर, वह तन-सी गयी और बोली, "मैं कुमारी हूँ। तुम्हें पता है हमारे देश में कुमारी क्या होती है?"

"नहीं।"

"नीचे—काठमाण्डू की वादी में जाकर किसी से पूछो।"

"और किसी से नहीं, जो पूछना है सिर्फ़ तुम से।"

"मैं शाक्यवंशी हूँ, बोधियों ने वन्दनीय वंश से, बाँडियों से।"

"फिर?"

"मेरे वंश में जिस लड़की के रूप में बत्तीस लक्षण हों···"

"वह मैं देख रहा हूँ—तुम मेरे स्वप्नों से भी सुन्दर···"

"पर मेरे वंश में ऐसी लड़की जब सात वर्ष की होती है, कुमारी चुनी जाती है।"

"क्या मतलब?"

"तुम्हें शायद मेरी धरती का इतिहास नहीं मालूम। यहाँ का राजा सिर्फ़ राज का प्रतिनिधि होता था—राज असल में कुमारी का होता था। वह कुमारी घर में रहती थी और राजा उस की पूजा करके राज-काज सँभालता था।"

"पर वह पुरातन समय की बात होगी···"

"हाँ, पर एक तरह से अब भी है। अब भी मेरे वंश की लड़की उस समय तक कुमारी रहती है जब तक वह जवान नहीं होती।"

"फिर?"

"वह जब जवान हो जाती है, कुमारी नहीं रहती। उस की जगह और कुमारी चुनी जाती है, और देश का राजा अब भी उस की पूजा करता है। कुमारी उस के माथे पर तिलक लगाती है···"

"पर तुम···अब···"

"अब मैं कुमारी नहीं हूँ, पर कुमारी थी।"

"मेरी मुहब्बत को तुम्हारे अतीत से कोई वास्ता नहीं है···तुम जो भी थीं···"

"पर तुम्हें पता नहीं···एक बात बताऊँ?·· मैं आज इतनी रात के समय इस मन्दिर मे पूजा करने आयी थी, पर नहीं कर सकी···"

"क्यों?"

"मैं अपने शाक्य वंश के बुद्ध से अपना आप माँगने आयी थी, मेरा अपना आप···" राजश्री ने चट्टान की तरफ़ देखा और कहा, "कुमारी एक चट्टान होती है जो पिघलती नहीं, पर मैं···कई दिनों से लग रहा था, जैसे पिघल रही हूँ···

तुम्हें देखकर···रोज तुम्हें इस पर्वत की परिक्रमा में देखती थी···" राजश्री कुछ इस तरह उदास हो गयी जैसे सवेरा होने से पहले रात और गहरी हो जाती है। कहने लगी, "अपना आप अपने हाथों में से छूटता जा रहा है···पर मन्दिर के पास आकर भी मन्दिर के अन्दर नहीं गयी –सोचती हूँ अपने-आप को हाथ में पकड़े रखकर भी क्या करूँगी ?"

कुमार के पैर उस के दिल की तरह धड़क उठे। वह कुछ आगे बढ़कर राजश्री के पास खड़ा हो गया। फूल में से आती हुई महक की तरह धीरे से कहने लगा, "कुमारी !"

"कुमारी को सारी उम्र कुमारी रहना पड़ता है···" राजश्री ने अपनी दोनों हथेलियों से अपने मुँह को एकाएक इस तरह ढक लिया जैसे पुरुष की गन्ध में सांस लेने से डरती हो। बोली, "यह कुमारी राज का कानून नहीं है—पर कोई आदमी किसी कुमारी से ब्याह नहीं करता—करे तो मर जाता है।"

"मुझे मरना मंजूर है···" कुमार ने दोनों हथेलियाँ राजश्री की दोनों हथेलियों पर, मानो फूलों की तरह, अर्पण कर दीं।

राजश्री ने काँपकर अपने मुँह के ऊपर से अपने हाथ हटा लिये। कहने लगी, "इस धरती पर पहले शक्ति-राज होता था। श्वेतकाली इस पृथ्वी की रानी थी जब इसपर हमला हुआ था। ज्योतिषियों ने कहा कि श्वेतकाली की बेटी कुमारी के हाथों अगर दुश्मन का जवान लड़का कत्ल हो तब इस धरती की विजय होगी। पर कुमारी ने जब उस हमलावर को देखा - उस को···उस को···" राजश्री ने पहाड़ी हवा की तरह काँपकर कुमार के मुँह की तरफ़ देखा, फिर एक चट्टान के पहलू में होकर कहने लगी, "मुहब्बत और दुश्मनी में लकीर नहीं खिच पा रही थी, पर श्वेतकाली ने अपनी बेटी को हुक्म दिया कि वह उसे कत्ल करे। उस ने कत्ल किया। हमलावर हार गये। कुमारी को देश की रानी बनाया गया, और उस का तख्त जहाँ सजाया गया वहाँ तख्त के नीचे उस आदमी के दोनों हाथ, दोनों पैर, उस का खड्ग रखे गये जिस से उस ने प्यार किया था···"

कुमार ने धीरे से राजश्री के पैरों के पास जमीन पर बैठते हुए अपने दोनों हाथ जमीन पर बिछा दिये और बोला, "अगर हर कुमारी की यही शर्त है तो···"

राजश्री ने झुककर कुमार के दोनों हाथ छुए और अपने हाथों से सहारा देकर उन्हें ऊपर उठाया। कहने लगी, "पर औरत की मुहब्बत राज के सिंहासन से भी बड़ी होती है। उस कुमारी ने राज किया, पर ब्याह नहीं किया। जिसे कत्ल किया था उसे ही याद करती रही। तब से ही कुमारीघर बना और तब से ही यह यकीन कि कोई कुमारी जिस के साथ भी ब्याह करेगी वह जीता नहीं

रहेगा…"

"पर कुमारी ! एक समय का सच हर समय का सच नहीं होता…"

"पता नहीं…" राजश्री ने पर्वत के पिछवाड़े बसीगा नदी की तरफ़ नीचे जाते रास्ते की तरफ़ देखा। कहने लगी, "मेरे वश में मेरी तरह एक रत्नराज लक्ष्मी हुई थी…मेरी तरह ही कुमारी चुनी गयी, हाथों में राजा के भेजे हुए कंगन उस ने पहने, गले में लाल रंग की चोली, और लाल रंग का लहँगा, माथे पर सिन्दूर का लेप, और फिर जब मेरी ही तरह जवान हो गयी, उस को कुमारीघर से वापस उस की माँ के घर भेज दिया गया—वह कई बरस इस स्वयभू पर्वत पर घूमती रही, और फिर एक दिन इस पर्वत के पिछवाड़ेवाली नदी मे डूब गयी…"

"क्यों ?" कुमार ने थिरकती हुई उँगलियों से राजश्री के कन्धे को छुआ।

"शायद…शायद उसे भी कोई कुमार अच्छा लगा था…" राजश्री ने कहा और थोड़ा-सा हटकर पर्वत के नीचे उतर रहे रास्ते की ओर देखने लगी। फिर बोली, "दो सौ साल से हमारे पैरों के लिए यही रास्ता बना हुआ है…"

"नहीं…नहीं…" कुमार ने आगे होकर राजश्री का हाथ पकड़ लिया।

राजश्री ने एक नदी जैसा गहरा सांस लिया, और कहने लगी, "जब किसी लड़की को कुमारी बनाया जाता है, उस के माथे पर सोने-चाँदी की एक आँख लगायी जाती है—तीसरी आँख ! उसे हम दृष्टि कहते है। उस मे सचमुच कोई शक्ति होती है। उस से मन की ताकत कभी नही डोलती। पर अब…अब इन दोनों साधारण आँखों से और कोई रास्ता दिखायी नही देता…"

कुमार ने आगे होकर और राजश्री को बिलकुल अपने पास करके उस के माथे को चूम लिया, "यह एक मर्द का सारा इकरार—तीसरी आंख !" और कुमार ने राजश्री को नदी की तरफ़ से हटाते हुए कहा, "क्या इस तीसरी आंख से भी और कोई रास्ता दिखायी नहीं देता ? जीने का रास्ता…?"

राजश्री ने सामने एक पर्वत जैसे मर्द को देखा, फिर हथेली से उस की छाती को इस तरह छुआ जैसे जीने का रास्ता खोज रही हो। कहने लगी, "जब सात बरस की बच्ची को कुमारी चुनते हैं, पहले सारी रात एक कमरे में जानवरों की खोपड़ियाँ रख के उस लड़की को उस कमरे में बन्द कर देते है। जो वह सारी रात न घबराये तो उस को कुमारी चुनते है…पर एक समय आता है…उम्र का तकाज़ा…जब वही कुमारी अपने-आपसे घबरा जाती है…"

कुमार ने राजश्री को कसकर अपने गले से लगा लिया—और सवेरे का पहला उजाला हज़ारों चट्टानों के बीच खड़ी हुई एक पिघलती चट्टान को देखने लगा…

अपना-अपना कर्ज़

वह एक टूटी हुई बात की तरह थी।

किसी को मालूम नहीं कि वह कौन थी, कहाँ से आयी थी, कब आयी थी—शायद कुँआरी थी, शायद विधवा थी, क्योंकि मर्द के नाम पर उस की झुग्गी में कोई दो बरस का एक बच्चा था, पर वह उस का भी हो सकता था, और उस दूसरी, उस से कुछ पक्की उम्र की औरत का भी।

नयी, बन रही बस्ती में, सभी नये थे। वे भी—जो वहाँ अपने घरों की नीवें खुदवा रहे थे, और वे भी—जो ईंटें और चूना ढोकर दीवारें खड़ी कर रहे थे। सो, नीम के पेड़ों के नीचे बनी हुई उस की चाय की झुग्गी न जाने पेड़ों की आयु की थी, या हाल में ही खुदी नींवों की आयु की।

लोगों को केवल यह मालूम था कि उस का नाम मूर्ति है, और उस की झुग्गी में सवेरे से लेकर शाम के पाँच बजे तक, मज़दूरों की छुट्टी होने के समय तक, गरम दालचीनीवाली चाय मिलती है।

वह अक्सर मोटी मलमल की लाल धोती बाँधे रहती थी, और चूल्हे में जलती हुई लकड़ियों के पास बैठी हुई वह भी चूल्हे की आग जैसी मालूम होती थी।

वह दूसरी, उस से पक्की आयुवाली, जब धूप चढ़ती तब बच्चे को खिलाती हुई बाहर नीम के पेड़ों के नीचे बैठी हुई दिखायी देती, और जब शाम की ठण्ड उतरने लगती, तब बच्चे को आँचल में लपेटकर वह झुग्गी के भीतर जाती हुई दिखायी देती। चाय सिर्फ़ वह मूर्ति बनाती और बाँटती दिखायी देती थी।

राज बख्शी के घर की छतें जब पड़ चुकीं, तब कुछ दिनों के लिए काम थम गया। पर बख्शी साहब इन दिनों भी नियम से आते थे और चौकीदार को भेजकर चायवाली झुग्गी से चाय मँगवाते थे तथा कुछ देर वहाँ अकेले कुर्सी पर बैठे रहते थे।

एक दिन वे कुछ देर से आये। बन रहे सब मकानों के चौकीदार अपनी-

अपनी झुग्गी में आग जलाकर कुछ पका-थका रहे थे और मूर्ति की झुग्गी में भी चाय के बरतन माँजे-धोये जा चुके थे, कि उन्होंने चौकीदार को चाय लाने के लिए भेजा।

मूर्ति ने नये सिरे से चाय का पानी रखा। चौकीदार शायद उन के लिए सिगरेट लेने चला गया था। मूर्ति ने चाय बना कर उस का इन्तज़ार किया, फिर स्वयं जाकर बख्शी साहब को चाय दे दी।

नीम के पेड़ों से झड़े हुए पत्ते ज़मीन पर कुछ इस तरह हिल रहे थे जैसे मिट्टी को टटोल-टटोलकर अपनी जड़ें खोज रहे हों।

राज बख्शी ने चाय का प्याला हाथ में लेते हुए मूर्ति की ओर देखा था, पर फिर आँखें परे कर ली थीं। फिर भी आँखों में से कुछ उतरकर अभी तक मूर्ति के मुँह पर हिल रहा था···

वे चाय पी रहे थे। मूर्ति परे कुछ दूर पर संध्या के सिमटते हुए उजाले की तरह खड़ी रही।

"मूर्ति !" अचानक उस की आवाज़ ऐसे आयी जैसे हवा के एक झोंके से नीम के पेड़ से बहुत सारे पत्ते झड़ पड़े हों।

"जी !" न जाने क्यों मूर्ति को लगा जैसे उस की आवाज़ पीपल के पत्ते की तरह काँप गयी थी। शायद उन तक पहुँची भी नहीं थी। होंठों में ही काँप गयी थी।

"तुम यहाँ कब आयीं ? किस तरह ?"

मूर्ति ने परे शून्य में देखा···परे, वहाँ तक—जो आँखों की पहुँच से बाहर था, फिर कहा, "काफ़िले के साथ, जब सारे लोग आये थे।"

राज बख्शी न नज़र भरकर उस की ओर देखा। गोधूलि के इस समय में वह काँसे की मूर्ति की भाँति अचल खड़ी लगती थी।

उन्हें ख़याल आया—पिछले वर्ष इस धरती का विभाजन एक और गज़नवी की तरह आया था जिस ने न जाने कितनी मूर्तियाँ तोड़ी थीं, और यह एक मूर्ति न जाने किस मन्दिर में से उठाकर यहाँ एक झुग्गी में लाकर रख दी थी···

पर साथ ही राज बख्शी को डूबते हुए सूरज की लाली जैसा एक तीखा-सा एहसास हुआ—लोग सदा अपने घर-बार, रोज़गार, और रहन-सहन जैसी हैसियतों से ही पहचाने जाते हैं—ये सब चीज़ें जब उन के पास से खो जायें, उन के चेहरे भी खो जाते हैं। पिछले बरस उन्होंने कई कैम्प और काफ़िले देखे थे—अपनी-अपनी हैसियत के बिना लोगों के अपने चेहरे भी खोये हुए थे। सब कुछ एक भट्ठी में गलकर एक जैसा हो गया जान पड़ता था—चेहरे भी, आवाज़ें भी, ख़याल भी···

'पर यह मूर्ति किस तरह साबुत की साबुत···' राज बख्शी को मूर्ति के घर-बार या उस की हैसियत का पता नहीं था, पर एक गहरा-सा एहसास था —'वह जो भी थी—वही है। उस की किसी मन्दिर या महल में रहनेवाली अदा यहाँ इस झुग्गी में भी है···'

मूर्ति उसी तरह एक दूरी पर खड़ी हुई थी। चाय का प्याला उसी तरह राज बख्शी के हाथों में थमा हुआ था। शायद वह खाली प्याला लेने के लिए खड़ी हुई थी, पर पाँवों के आगे बिछी हुई खामोशी को न वह तोड़ सकती थी, न···

फिर अचानक खामोशी टूट गयी। चौकीदार के पैरों की आवाज़ ने तोड़ दी। राज बख्शी ने खाली प्याला चौकीदार को थमा दिया, चौकीदार से मूर्ति ने ले लिया, और पीछे झुग्गी की ओर मुड़ती हुई मूर्ति को चौकीदार ने जब दो आने दिये, वे चीनी की प्लेट में इस तरह छनके जैसे दो टुकड़ों में टूटी हुई खामोशी से कुछ और कंकड़ गिर आये हों···

राज बख्शी अगले दिन भी आये, उस से अगले दिन भी, उस से अगले दिन भी, पर उन्होंने स्वय झुग्गी के पास जाकर चाय माँगी, पी, और दो टुकड़ों में टूटी हुई खामोशी फिर एक साबुन टुकड़ा मालूम होने लगी।

कुछ आवाज़ें ऐसी होती है—जो खामोशी के बदन में लहू की नसों की तरह चलती हैं, और उन के कारण वह चुप बड़ी जीती जागती मालूम पड़ती है। एक दिन चाय बनाते समय मूर्ति के पास खलते हुए बच्चे की आवाज़ भी ऐसी ही थी।

"यह बच्चा ?"

"मेरा है।"

यह सवाल और जवाब भी लहू की हरकत की तरह थे। ठण्डी खामोशी कुछ तपते हुए रंग की हो गयी।

"वह ?" राज बख्शी ने अन्दर झुग्गी में बैठी हुई दूसरी औरत की ओर देखा।

जवाब में मूर्ति ने पहले बच्चे से कहा, "जा, अन्दर अपनी माँ के पास जा।" फिर बख्शी साहब से कहा, "वह मेरे बच्चे की माँ है।"

खामोशी जैसे ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगी।

अगले दो दिन राज बख्शी के कानों में मूर्ति की आवाज़ पत्तों की शाँ-शाँ की तरह चलती रही। उन्होंने उस की झुग्गी से रोज़ चाय पी, पर फिर कुछ पूछा नही।

मूर्ति के शब्द सीधे थे—"यह मेरा बच्चा है, वह मेरे बच्चे की माँ है।" पर अर्थ सिर्फ़ पत्तों की शाँ-शाँ जैसे थे, पकड़ में नहीं आते थे।

यह नयी बन रही बस्ती शहर से आठ मील दूर थी, जिस के आस-पास अभी कोई मण्डी या बाज़ार नहीं बना था। शहर से इस बस्ती तक एक बस चलती थी, पर दिन-भर में शायद तीन बार। यह बस न मिलने पर आठ मील पैदल चलने के सिवा कोई चारा नहीं था।

इसी रास्ते पर एक दिन राज बख्शी ने मूर्ति को शहर से बस्ती की ओर आते हुए देखा। मूर्ति के दोनों हाथों में कुछ गठरियाँ, पोटलियाँ थीं। राज बख्शी ने अपनी गाड़ी रोक ली।

"बस दो मिनट का फरक पड़ गया, बस निकल गयी!" मूर्ति ने गाड़ी में गठरियाँ, पोटलियाँ रखते हुए कहा, "चाय की पत्ती, चीनी और और लटरम-शटरम लेने के लिए कभी-कभी शहर जाना पड़ता है।"

राज बख्शी ने गाड़ी को पहले से दूसरे, और दूसरे से तीसरे गियर में डालते हुए धीरे से कहा, "बहुत मेहनत करनी पड़ती है?"

संध्या समय की इठलाती हवा की भाँति मूर्ति हँस दी, बोली कुछ नहीं।

"मूर्ति! तुम्हारे बच्चे का बाप?" राज बख्शी के मुँह से अधूरा-सा वाक्य निकला जो उन्हें कुछ गलत-सा भी लगा। फिर उसी वाक्य को कुछ ठीक करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारा आदमी वहीं फसादों के दिनों में···"

"हाँ, बलवाइयों ने मार दिया।"

अगली खामोशी में फिर उस दिनवाले मूर्ति के शब्द राज बख्शी के कानों में शाँ-शाँ करने लगे···

कुछ देर बाद कह सके, "लोग अजीब-अजीब बातें करते हैं···"

"मेरी?" मूर्ति ने पूछा, पर आवाज़ में फिक्र जैसा कुछ नहीं था।

"वह दूसरी औरत?"

"उस का नाम रुक्मणी है—वह मेरी रुक्की बहन है।"

"यह बच्चा उस का है?"

"हाँ।"

"तुम्हारा नहीं?"

"मेरा भी।"

राज बख्शी हँस पड़े, "ज़्यादा किसका है?"

"ज़्यादा उस का है।" मूर्ति भी हँस-सी पड़ी।

राज बख्शी एक पल की खामोशी के बाद गम्भीर-से स्वर में कहने लगे, "असल में तुमें दोनों में एक को औरत होना चाहिए था, एक को मर्द।"

"हाँ, पर तुम्हारी जगह यह ख़याल रब को आना चाहिए था!" मूर्ति ने कहा तो राज बख्शी ने कुछ चौंककर मूर्ति की ओर देखा। फिर कहने लगे, "तुम्हें मालूम है, लोग क्या कहते हैं?"

"क्या ?"

"एक दिन मेरे ठेकेदार का मुंशी किसी से कह रहा था···"

"क्या ?"

"कि तुम्हें···फिर से ब्याह करने में कोई एतराज़ नहीं···अगर···" राज बख्शी इस 'अगर' के आगे कुछ नहीं कह सके।

मूर्ति ने ही कहा, "लोग ठीक कहते हैं, मैं ने ही कहा था—अगर कोई मेरे और रक्की दोनों के साथ ब्याह करे, मैं कर सकती हूँ।"

"अजीब शर्त है।"

"नहीं, अजीब नहीं है।" मूर्ति सामने खाली सड़क की ओर देखती रही, फिर कहने लगी, "साहब ! अभी तुम ने कहा था—हम दोनों में, मुझ में और रक्की में, एक को औरत होना चाहिए था, एक को मर्द, यह सच बात कही थी। मुझे रक्की जैसा मर्द चाहिए था।"

"पर इस वक़्त तो तुम उस के लिए काम करती हो, कमाती हो, मर्द की तरह···"

"मैं ऐसे ही ठीक हूँ।"

"पर वह बात ?"

"आख़िर मैं मर्द नहीं, मर्द की जगह हूँ, मर्द की तरह···"

राज बख्शी ने सोचा नहीं था कि वे कभी मूर्ति से बातें करके इस तरह आश्चर्य में पड़ जायेंगे। वे हँस-से दिये। मानो हँसी से आश्चर्य को ढँक रहे हों।

मूर्ति ने ही कहा, "असल में मर्द न उसे मिला, न मुझे।"

"उस का आदमी भी फसादों के दिनों में···?"

"वही जिसे बलवाइयों ने मार दिया···।"

"मूर्ति !" राज बख्शी झड़ते हुए पत्तोंवाली टहनी की तरह खाली-खाली-से मूर्ति की ओर देखने लगे। फिर कहने लगे, "वह आदमी तुम्हारा भी, उस का भी···? यह बच्चा तुम्हारा भी, उस का भी···?"

"हाँ, साहब !" मूर्ति हँस पड़ी, "रब एक बात पर चूक गया तो फिर चूकता ही गया।"

राज बख्शी ने गाड़ी की चाल को हलका किया, कहा, "बस्ती आनेवाली है, मूर्ति ! अगर तुम्हें एतराज न हो, मैं यहाँ कुछ देर गाड़ी रोक दूँ।"

मूर्ति की खामोशी बख्शी साहब से ज़्यादा मूर्ति को अजीब लगी; कहने लगी, "हाँ, साहब ! मैं ने सुना है, तुम अच्छे आदमी हो।"

"और क्या सुना है ?" राज बख्शी गाड़ी रोककर पूछने लगे।

"और···और यह कि तुम्हारे कोई बच्चा नहीं है···"

"बच्चे की माँ भी नहीं !" राज बख्शी हँसने लगे ।

"हाँ, कोई भी नहीं ।"

"कहाँ सुना था ?"

"तुम्हारे ठेकेदार, चौकीदार—सब मेरे पास चाय पीने आते हैं ।"

"वे ये बातें भी करते हैं ?"

"सिर्फ़ उस दिन कर रहे थे—जिस दिन तुम्हारे मकान की नींव रखी गयी थी। तुम ने उस दिन न हवन किया, न मोतीचूर के लड्डू बाँटे। वे सब लोग तुम्हारी इज़्ज़त करते हैं···सिर्फ़ सोचते हैं—तुम्हारा कोई नहीं, इसलिए तुम्हें मकान की खुशी नहीं···"

राज बख्शी बहुत देर तक चुप रहे ।

लगा—उन में और मूर्ति में बात करनेवाली सड़क टूट गयी है ।

पर यह सड़क शायद वह थी—जो राज बख्शी की अपनी ज़िन्दगी की ओर मुड़ती थी। वे उधर से पलटकर उस दूसरी सड़क की ओर देखने लगे, जो मूर्ति की ज़िन्दगी की ओर जाती थी। कहने लगे, "अच्छा, मूर्ति वह ! दूसरी औरत रुक्की मर्द नहीं थी, इसलिए तुम्हें किसी और से ब्याह करना पड़ा···"

"हाँ, साहब !" मूर्ति हँस-सी पड़ी, "उस की-मेरी किस्मत एक ही थी, इसलिए हमारा ब्याह भी एक ही जने के साथ हुआ और हमारा दोनों का बच्चा भी एक ही है।"

बाहर कुछ बूँदाबाँदी होने लगी थी। राज बख्शी ने धुँधले-से हो रहे विंडस्क्रीन की ओर देखा, वाइपर चलाया, और कहने लगे, "दोनों का ब्याह तो एक आदमी के साथ हो सकता है, लेकिन बच्चा किस तरह···?"

"तन और मन में कितना-सा फरक होता है, साहब ? बस यह समझ लो—मन सिर्फ़ उस का था, मेरा नहीं था, मेरा सिर्फ़ तन था ।"

शायद 'हूँ' जैसा कुछ राज बख्शी ने कहा, फिर कितनी ही देर चुप रहे।

अचानक बोले, "उस समय एक आदमी से ब्याह करना शायद कोई मजबूरी थी, या सिर्फ़ ज़रूरत थी, पर अब क्यों ?"

"अब भी ज़रूरत है···वह नहीं, पर ज़रूरत है।"

"वह ज़रूरत कैसी थी ?"

"वह ज़रूरत सिर्फ़ पैसे की थी। वह आदमी बहुत अमीर था, उस के कई भट्ठे थे, और लोग कहते थे—उस के भट्ठों में मिट्टी की ईंटें नहीं, सोने की ईंटें पकती हैं !"

"फिर ?"

"उस की पहली औरत रुक्की थी। नहीं, पहली नहीं, पहली मर गयी थी—शायद उस ने उसे निकाल दिया था। मैं ने उसे नहीं देखा। पर सुना था कि वह

सुन्दर नहीं थी, इसलिए···"

"सुन्दर नहीं थी, इसलिए मर गयी?" राज बख्शी ने हँसकर कहा।

"हाँ, साहब ! किसी को दुतकारते रहो, वह मरे जैसा हो जाता है, कभी मर भी जाता है···"

"फिर?"

"फिर उस ने रुक्की से ब्याह कर लिया। रुक्की अपने दिनों में बहुत सुन्दर थी। पर कई बरस बीत गये···"

"रुक्की के बच्चा नहीं हुआ?"

"हाँ, साहब ! लोग कहते थे—भट्ठोंवाले को पहली का शाप लगा हुआ है। कहते थे, जब पहली मरी थी, उसे बच्चे की उम्मीद थी, पर इस आदमी ने एक दिन उसे इतना मारा कि वह भी और उस का बच्चा भी···" मूर्ति पुरानी बात याद करके अब भी काँप-सी गयी।

"सो, उस ने बच्चे की खातिर फिर तुम से ब्याह किया?"

"हाँ, साहब ! बच्चे की खातिर। मेरे माँ-बाप से उस ने मुझे एक तरह से मोल खरीदा था।"

"और आखिर वह शाप टूट गया···"

"नहीं···हाँ···" मूर्ति की आवाज़ काँप गयी। फिर वह काँपती हुई आवाज़ को सँभालते हुए बोली, "पर, साहब, तुम यह सब बात क्यों पूछ रहे हो? मैं तुम्हें यह सब कुछ···सब कुछ क्यों बताऊँ?"

राज बख्शी एकटक मूर्ति के मुँह की ओर देखते रहे। फिर कहने लगे, "मैं तुम्हें छः महीने से देख रहा हूँ, न जाने क्यों···मैं यहाँ रोज सिर्फ़ मकान की खातिर नहीं आता···शायद···शायद···" राज बख्शी का दाहिना हाथ खड़ी हुई गाड़ी के स्टीयरिंग व्हील पर था, उन्होंने बायाँ हाथ मूर्ति के कन्धे पर रखा, "मैं तुम्हारे साथ ब्याह कर सकता हूँ।"

"साहब ! तुम?" मूर्ति के सवाल में जितनी हैरानी थी, आवाज़ में उतनी नहीं थी। फिर धीरे से कहने लगी—"अपने ऊपर जोर होता है, पर सपनों पर नहीं होता। मैं ने तीन बार सवेरे उठकर अपने-आपको झिड़का है···मुझे तीन रात, साहब, तुम्हारा सपना आता रहा···"

"मुझे साहब नहीं, कुछ और कहा करो।"

मूर्ति चुप रही।

"अच्छा, यह बताओ—अगर मैं ऐसे सोचूं, तुम मेरे लिए भी वही शर्त लगाओगी?"

"वही रुक्कीवाली? हाँ।"

राज बख्शी ने मूर्ति के कन्धे से हाथ हटा लिया और उसे भी स्टीयरिंग व्हील

पर रख लिया।

बाहर बूंदें तेज हो गयी थीं। विंड-स्क्रीन पर धुन्ध गहरी होती जाती थी। पर वाइपर पूरे ज़ोर से धुन्ध को पोंछता जा रहा था।

"साहब !···बख्शी साहब ! यह बात पक्की है कि जहाँ मैं रहूँगी, वहीं रुक्की···। जिस हाल में मैं रहूँगी, उसी हाल में वह···" मूर्ति कह रही थी कि बख्शी साहब ने बात काटी, "इस से मुझे कोई इन्कार नहीं है। वह पूरे सुख में, पूरे आराम में रहेगी।"

मूर्ति हँस-सी पड़ी, "किस तरह ?"

बख्शी साहब को मूर्ति का 'किस तरह' अर्थहीन-सा लगा, पर कहने लगे, "पूरी इज़्ज़त के साथ, आराम के साथ, घर की माँ की तरह, बहन की तरह···"

मूर्ति ने सामने विंड-स्क्रीन की ओर देखा। वाइपर चल रहा था, फिर भी हथेली से उस की धुन्ध को पोंछते हुए बोली, "बस यही बात है, बख्शी साहब ! तुम चाहे कितने ही अमीर हो, वह घर में माँ की तरह रहेगी तो माँ नहीं होगी, सिर्फ़ माँ की तरह होगी। बहन नहीं होगी, बहन की तरह होगी। यह 'तरह' बहुत दिन नहीं चलती।"

राज बख्शी को लगा—इस वक़्त शायद मूर्ति के कन्धे को उन के हाथ की ज़रूरत नहीं थी। लेकिन उन के हाथ को मूर्ति के कन्धे की ज़रूरत थी। उन्होंने बायाँ हाथ, कुछ काँपता-सा, मूर्ति के कन्धे पर रख दिया।

मूर्ति कहने लगी, "पर जब कोई औरत किसी की बीवी होती है, वह बीवी होती है, बीवी की तरह नहीं होती।"

"हाँ, मूर्ति !" राज बख्शी ने दलील मान ली, पर कहा, "तुम्हें ज़िन्दगी में पहली बार भी जो कुछ मिला, उस के साथ बाँटना पड़ा, अब दूसरी बार तुम जान-बूझकर···"

"यह किसी भी औरत के लिए स्वाभाविक नहीं होता, नहीं न ? "

"नहीं।"

"पर उस ने जो कुछ मेरे साथ बाँटा है, वह भी स्वाभाविक नहीं था ·"

"वह मजबूरी थी।"

"सौकन कहलानेवाली औरत जो कुछ बँटाती है, मैं उस की बात नहीं करती···"

"फिर ?"

मूर्ति कितनी ही देर चुप रही जैसे कुछ बताने या न बताने का अपने साथ फैसला कर रही हो। फिर एक बार उस ने एक गहरी निगाह से बख्शी साहब के मुँह की ओर देखा। लगा—उन के मुँह पर कुछ ऐसा सच था जो उस ने पहले कभी किसी मर्द के मुँह पर नहीं देखा था। सोच लिया कि उस का अपना सच

चाहे कैसा ही था, पर सच के बदले में सिर्फ़ सच देना है।

कहने लगी—"मेरे लिये भट्ठोंवाले की माँग बहुत दिनों से थी। माँ-बाप गरीब थे, पर इतने नहीं कि मुझे बेचे बिना उन का काम न चलता। जो जवान लड़का मुझे अच्छा लगता था, उस ने मुझ से ब्याह करने का इक़रार कर रखा था। गरीब था, पर जवान था···" मूर्ति ने कड़वी-सी हँसी का एक घूंट पिया, फिर कहने लगी—"उस से ही मुझे दिन चढ़ गये थे···"

राज बख्शी चुप थे, मूर्ति भी चुप-सी हो गयी। फिर कहने लगी, "यह हमारी औरतों की ज़बान समझ गये हो न ?"

राज बख्शी ने 'हाँ' में सिर हिलाया। मूर्ति कहने लगी, "पर जब उसे पता चला, वह ब्याह करने से मुकर गया। सो, किसी मर्द का बदला किसी मर्द से लेने के लिए मैं ने माँ-बाप से कह दिया कि मैं भट्ठोंवाले से ब्याह करूँगी।"

"सो यह बच्चा···"

"यह भट्ठोंवाले का नही है। तुम ने कहा था– आखिर उस का शाप टूट गया, तो मेरे मुँह से निकला था—'नहीं।' फिर 'हाँ' भी कहा था, पर पहले सच ही मुँह से निकला था···"

"इस बात का रुक्की को पता है ?"

"सिर्फ़ उसे ही पता है, और किसी को नहीं।"

"पर उस ने···" राज बख्शी सोचने लगे कि रुक्की का उस समय मूर्ति से जो रिश्ता था, उस का मूर्ति को हर तरह से बचाये रखना सचमुच स्वाभाविक नहीं था।

मूर्ति कह रही थी, "इस बच्चे को मैं ने मन की पूरी नफरत के साथ जनमा था, पर रुक्की ने मन के पूरे प्यार से इसे पाला है। उस समय तक रुक्की को कुछ पता नहीं था। वह भीतर से अच्छे मन की है—वह अपने तन की हसरत मेरे तन में से···" मूर्ति की आवाज़ बाहर दूर तक बरसती हुई बूँदों में जैसे भीग गयी।

"फिर ?"

"फिर वह कमीना—जिस का यह बच्चा था, और भी कमीनेपन पर उतर आया। मुझे धमकाकर उस ने दो बार मुझ से पाँच-पाँच सौ रुपये लिये। मैं ने तंग आकर सोचा कि मैं भी मर जाऊँ और उस के बच्चे को भी जीता न रहने दूँ। उस की फिर धमकी आयी थी, मैं पागल-सी हो गयी थी—एक दिन बच्चे को उठाया, आधी रात के वक़्त, और बाहर कुएं की ओर चल दी। बच्चा रुक्की के पास सोया करता था; मैं ने उसे सोते हुए उठाया था, सो रुक्की जाग गयी थी। मुझे तब पता चला जब वह भी मेरे पीछे-पीछे कुंए की ओर दौड़ती हुई आयी। वहाँ मैं ने अपने मुंह से सब कुछ बता दिया··· पर वह, अपने बाप की बेटी, मुझे

अपने गले से लगाकर वापस लौटा लायी…"

"उस ने उस आदमी को कुछ नहीं बताया?…उस भट्ठोंवाले को?" राज बख्शी हैरान थे।

"बिलकुल नहीं। उसे सचमुच ही बच्चे से मोह हो गया था…सिर्फ़ इतना ही नहीं, उस ने सब की चोरी से उसे बुला भेजा जो मुझे आये दिन धमकाता था। उस से कहने लगी कि भट्ठोंवाले को सब कुछ मालूम है, सो धमकी का कोई फायदा नहीं है, उलटे भट्ठोंवाले ने उसे मरवाने का बन्दोबस्त किया हुआ है—सो अगर वह जान की सलामती चाहता है तो फिर कभी इस गाँव से न गुज़रे…"

राज बख्शी की आँखों में पानी-सा भर आया। उन्होंने झुग्गी के हल्के अँधेरे में बैठी हुई रुक्की को दूर से देखा हुआ था, पर आँखों में उस की पहचान नहीं थी। उन्होंने मूर्ति की ओर देखा—लगा, मूर्ति के मुँह पर जो एक लौ है वह केवल उस की जवानी की नहीं है, वह उस रुक्की की भी है—जिसे उन्होंने देखा नहीं था। मूर्ति कह रही थी, "यह बच्चा तो सचमुच में उस का है, मेरा तो यूँ ही एक बहाना है…"

राज बख्शी की हथेली मूर्ति के कन्धे पर बस-सी गयी। मूर्ति कहने लगी, "मुझे पता है मेरी उम्र छोटी है, इसलिए सब मेरी तरफ़ ताकते हैं, पर अब जो हक उसे नहीं मिलेगा, मैं भी नहीं लूँगी…"

राज बख्शी बहुत देर तक चुप रहे। फिर हथेली से मूर्ति का मुँह अपनी ओर मोड़कर, अपने सामने करके कहने लगे, "तुम्हें भी जिन्दगी का एक कर्ज़ चुकाना है…मुझे भी जिन्दगी का एक कर्ज़ चुकाना है…" मूर्ति चुप पूरे ध्यान से उन की ओर देखती रही। राज बख्शी एक गहरा सांस लेकर कहने लगे, "मुझे अपने सगे भाई का कर्ज़ चुकाना है…मेरी भाभी ने—मुझे अच्छी तरह होश भी नहीं था—जब मेरे साथ सम्बन्ध जोड़ लिया था…मैं बहुत अनजान था, कुछ नहीं समझा था…बस, शरीर जलता रहा, और मैं दिन-दिन बुझता रहा…"

मूर्ति जाने समझ सकी या नहीं, राज बख्शी ने ध्यान स उस की ओर देखा, फिर कहा, "उस का जिस साल ब्याह हुआ था, उसे उसी साल कोई रोग हो गया था…यह बात मुझे बरसों बाद मालूम हुई, पर उसे तब से ही यह पता था और उस ने बच्चे की आस छोड़ दी थी…बहुत छोटे घर से आयी थी…सब कुछ अपने पास रखने के लिए सोचती थी कि मैं भी उस के बस में रहूँ…मैं कई बरस तक एक रुकी हुई घड़ी में वक़्त देखता रहा…मैं ने समझा नहीं…भाई का दुख भी देखा, लेकिन मैं ने समझा नहीं…मुझे अपने भाई का बहुत बड़ा कर्ज़ चुकाना है, मूर्ति!"

मूर्ति—जो रोज़ काँसे की मूर्ति के समान दिखायी देती थी—हाड़-मांस की औरत की तरह काँप उठी।

राज बख्शी कह रहे थे, "अब उस से कोई वास्ता नहीं है, पर मेरे भाई का

शक उसी तरह है···मैं बीते हुए बरस लौटाकर नहीं दे सकता···पर आगे से···"

"आगे से ?" मूर्ति के होंठ धीरे से हिले।

मेंह की बौछार से चारों ओर धुन्ध फैली हुई थी। राज बख्शी गाड़ी के अन्दरवाले हल्के-से उजाले में मूर्ति के मुँह की ओर देखते रहे, फिर कहने लगे, "आओ, मूर्ति ! हम अपने-अपने कर्ज़ उतार दें।"

"तुम···" मूर्ति उनकी ओर देखकर कुछ हैरान-सी अपनी ओर देखने लगी, जैसे अपने आप को उनकी आँखों से देख रही हो···

राज बख्शी ने 'हाँ' में सिर हिलाया।

मूर्ति को शायद अभी इस 'हाँ' की एक बार और ज़रूरत थी, मुंह से निकला, "और रुक्की भी···?"

राज बख्शी ने मूर्ति के माथे के पास सिर झुकाकर उस के माथे को ऐसे चूमा कि मूर्ति को लगा—उन की 'हाँ' उस के विश्वास जितनी हो गयी थी।

धन्नो

वह तब की बात है—जब सफेद रुपया चाँदी का हुआ करता था। और पंजाब के गाँवों में अठन्नी को 'धेली' कहते थे और चवन्नी को 'पौली'। और धन्नो मौसी कहा करती थी, "औरत को तो परमात्मा ने शुरू से ही 'धेली' बनाया है। रुपया डबल तो कोई करमोंवाली होती है जिसे मरज़ी का मर्द जुड़ जाये। पर वह तो न किसी ने देखी है न सुनी है। घर-घर 'धेलियाँ' ही 'धेलियाँ' हैं—बस दो-तीन 'पौलियाँ' जनीं, और दुनिया से लद गयीं···"

"कितना मुँह फटा हुआ है धन्नो का!" कभी कोई पीठ पीछे कह देती, पर धन्नो के सामने गाँव की सब औरतें दाँतों के नीचे जीभ दिये रखतीं। सब को याद था कि एक बार शाह की केसरो ने यही बात धन्नो के मुँह पर कही थी तो धन्नो ने उस की वह गत बनायी थी कि भगवान ही बचाये! कहा, "तुम सिले मुँहवालियाँ अच्छी हो, और मैं फटे मुँहवाली बुरी? 'धेली' तो रात को, बहन केसरो, तेरी भी वैसी ही टूटती है, जैसे मेरी!" फिर धन्नो ने गाँव की एक-एक औरत का दबा-ढँका खोल दिया था—"आये तो सही लम्बड़ों की ईशरो मेरे सामने, जिस के बूढ़े खसम से उसकी 'धेली' नहीं टूटती तो वह सांड जैसे देवर से 'धेली' तुडवाती है! और चीमियों की बलवन्तो किसे भूली हुई है जो कै करती हुई डोली में से उतरी थी और सात महीनों में लड़का जन धरा! और वड़ैयों की करतारो, जिसने चार बरसों से मर्द का मुँह नहीं देखा था और मेथी के बीज काढ़-काढ़ पीती थी!···"

और धन्नो को औरतें कजैल नहीं लगी थीं। उस ने उन की अछूती कुंवारियों के नाम गिन दिये थे, "तू बड़ी सयानी है। अपनी छल्लो को संभाल, जो सन्धुओं के जगतारे से 'धेली' तुड़वाने को फिरती है। और तू धरमात्मन! पहाड़ जितनी बीरो का तू ब्याह-बरौठी क्यों नहीं करती जो गुरुद्वारे के भाई से कन्धा घिसाती है?···और···और···"

गाँव की औरतें त्राहि-त्राहि कर उठी थीं। और फिर कभी कोई धन्नो के

मुँह पर नहीं बोली थी। वैसे भी उन्हें धन्नो से गरज रहती थी। लड़के या लड़कियों के गले पड़ जाते — वे सौ बनफ़्शे और सौंफ उबालकर पिलातीं, पर महीना-महीना बच्चों के गले पड़े रहते। बच्चों के गले में से ग्रास न लँघता, हलहलाकर बुखार चढ़ जाते और औरतें हारकर उँगली पकड़े धन्नो के दरवाज़े जातीं—"ले रे, मौसी को कह तेरा गला मले!" और धन्नो गर्म घी में एक अँगूठा और एक उँगली डुबोकर जिस बच्चे का गला मलती वह दूसरे दिन भला-चंगा हो जाता।

"गले मदाना भले!" धन्नो हँसकर जब कहती तो पता लगता था कि धन्नो खत्री मदानों के जनमी-पली थी। वैसे न किसी ने उस के माँ-बाप देखे थे, न कोई सगा-सम्बन्धी।

सिर्फ़ दन्तकथा थी कि धन्नो खाते-पीते घर की बेटी थी। उसको जवानी बाढ़ की तरह चढ़ी थी, और उस उम्र में उस ने किसी से दिल लगा लिया था। पर उस के माँ-बाप के घर से भगाकर ले आनेवाला कोई वैली पट्ठा था, जो दस-बीस दिन उस के साथ खा-खेलकर उसे कहीं बेचने को फिर रहा था, कि धन्नो ने उसे मुँह फाड़कर कह दिया था, "जो पल्ले में बँधी 'धेली' तुड़वाकर ही रोटी खानी है, तो जाती बार तेरी जेब क्यों भरकर जाऊँ···?" और वह दबंग होकर उसे पैर के काँटे की तरह निकाल आयी थी। सो न उस के जननेवाले उस के रहे थे, न उस को लानेवाला।

और फिर कहते हैं कि किसी गाँव के ज़मींदार ने उसपर रीझकर उसे अपने घर बैठा लिया, पर उस के बेटों ने जब घर में डण्डा खड़काया तो उस ने बेटों से चोरी-छिपे दूर गाँव में दो बीघे ज़मीन खरीद कर उस के नाम लिखवा दी थी, और उसे एक अलग घर छतवा दिया था। जब तक जीता रहा उसकी खैर-खबर लेता रहा। पर अब वह भी, मुद्दत हुई, मर गया था और धन्नो छड़ी-छाँटी अपने बूते पर जी रही थी।

वैसे चाहे वह अपने मुँह से कह लेती थी, "काहे की चिन्ता है, बेबे! 'धेली' पल्ले बाँध रखी है, कमी-बेशी आयी तो तुड़वा लूँगी।" पर एक बार एक मूँछ-फूटते ने जब धन्नो की बाँह पर चिकोटी भरकर कहा था, "'धेली' तो दिखा, कितनी खरी है!" तो धन्नो ने उस के गले के कण्ठों को हाथ में पकड़कर कहा था, "चल दिखाऊँ—तेरी माँ के घाघरे में है!···"

और उस के बाद गाँव के किसी भी मर्द की क्या मजाल जो धन्नो को आँख उठाकर देख जाये।

और धन्नो दबंग होकर जीती थी।

अब उम्र चाहे ढल रही थी, पर उस की नाक की लौंग अब भी उसके स्वभाव की तरह चमक मार रही थी। आँखों के सामने खेतों में हल चलवाती थी

और खत्रानी होकर भी जाटनियों की-सी अकड़ में जीती थी।

एक बार धन्नो को मियादी बुखार आ गया। वैसे इक्कीसवें दिन टूट गया था, पर धन्नो का अपनी उम्र पर से भरोसा उठ गया था। वह एक दिन पास के शहर गयी और अपनी ज़मीन का कागज़-पत्र ले गयी। बात उड़ गयी कि धन्नो ने अपनी ज़मीन की वसीयत कर दी है।

"अरी, किस के नाम लिखी है?" गाँव की औरतें आपस में खुसर-पुसर करतीं, पर धन्नो से कुछ भी पूछने का उन में जिगरा न था।

एक दिन गाँव की एक लड़की सेमो को कुछ जिगरा हुआ। पिछले दिनों एक शाम को सेमो खेत से लौट रही थी कि नम्बरदार का नशे में चूर बेटा उस को राह में घेरकर खड़ा हो गया था। उधर कहीं धन्नो भी गुज़र रही थी कि सेमो ने उसे देख कर ज़ोर से आवाज़ दी थी—"मौसी धन्नो!" धन्नो छाती तानकर जा पहुँची थी, और लड़की अछूती घर पहुँच गयी थी।

सेमो ने उसी दिन के दावे पर एक दिन धन्नो से पूछा—"अरी मौसी! सुना है, तूने अपनी ज़मीन किसी के नाम कर दी है।"

धन्नो खीझ गयी, "अरी भानजी, तुझे मौसी की याद आ गयी! तेरी माँ और मैं जुड़वाँ जनमी थीं, तभी मैं तेरी मौसी लगी ना···!"

और सेमो के मुँह की हवाइयाँ उड़ गयी। वह हकला-सी गयी और कहने लगी—"गुस्सा क्यों करती है, मौसी! लोग कहते है भई कि तूने अपनी ज़मीन गुरुद्वारे को दान दे दी है। मैं ने तो सीधे-सुभा पूछा था। वैसे तो तू ने नेक काम किया है।"

धन्नो आग-बबूला हो गयी, "गुरुद्वारे का भाई मुमटण्डा पहले ही बहुतेरे हलवे खाता है—उस के हलवे-पूरी के लिए तुम्हारी माँयें जो है। यह तुम्हारी मौसी ऐसे नेक काम नहीं करती।"

और सेमो कान लपेटकर चली गयी थी। और फिर धन्नो से कुछ पूछने का किसी का हिया न हुआ।

धन्नो ने जैसे अपनी किस्मत बूझ ली थी, शायद अपनी उम्र के दिन भी बूझ लिये थे। उसे कुछ दिन बाद फिर मियादी बुखार चढ़ आया। इस बार सारे गाँव को उस के बचने की आसा न रही।

एक दिन गाँव की एक सयानी उम्र की औरत ने हिम्मत बटोरी। इस औरत को गाँववाले जीवी भगतानी कहते थे। छोटी उम्र में विधवा हो गयी थी, और बड़े जत-सत से जीती थी। उसपर अभी तक किसी ने उँगली नहीं रखी थी।

यह जीवी भगतानी जब धन्नो की खबर लेने आयी, तो धीरे से धन्नो से कहने लगी, "जो गुज़री सो गुज़री, धन्नो! अब आख़िरी वक्त पछतावा कर

ले, तो भी कुछ नहीं बिगड़ा। कहते हैं, जिस ने कहा था राम का नाम नहीं लेना, उसके मुंह से 'मरा-मरा' कहाकर अगलों ने उसे परमात्मा से बख़्शा लिया।…"

धन्नो मरती-मरती भी हँस पड़ी। कहने लगी, "भगतानी, क्यों मेरी चिन्ता करती है! धर्मराज को हिसाब देना है, दे लूंगी। यह 'धेली' जो पल्ले बांधी हुई है—धर्मराज से कहूँगी, ले तुड़वा ले, और हिसाब चुकता कर!"

और जीवी भगतानी कानों में उँगलियां देती धन्नो के पास से लौट आयी थी।

और फिर दूसरी दोपहर को धन्नो मर गयी।

धन्नो के चौथे के बाद जब गाँव के लोगों ने उस का सन्दूक खोला, उस में से उस की वसीयत का कागज़ मिला। धन्नो ने अपनी ज़मीन गाँव की पाठशाला के नाम कर दी थी, और लिखा हुआ था: 'मेरी एक ही चाह है कि चार अक्षर लड़कियों के पेट में पड़ जायें, तो उन की ज़िन्दगी ख्वार न हो।'

सात सौ बीस कदम

अँधेरा कदम-कदम गहरा होता जा रहा था···

उम ने नीले रंग की कमीज़ पहनी हुई थी जो सलेटी रंग की पैंट की तरह अँधेरे के रंग की होकर – अब अँधेरे का एक हिस्सा बन गयी थी। पर उस के पाँव में सफेद कैनवस के बूट थे और सिर्फ़ उन का ही अलग अस्तित्व बाकी था···

वह बराबर उन्हें ही देखे जा रहा था...इस तरह···जैसे वह आप एक जगह पर खड़ा हो और उस के पाँव बराबर चलते जा रहे हों···

और उसे लगा···वह अपने पाँवों को सिर्फ़ देख ही नहीं रहा है, उन की हर हरकत को गिन भी रहा है···उस के होंठों पर इस समय सात सौ बीस की गिनती थी···

पाँवों के नीचे की पक्की सड़क न जाने कब ख़त्म हो गयी थी और कच्ची सड़क न जाने कब शुरू हो गयी थी—शायद घर से निकलते ही उस ने हर कदम को गिनना शुरू कर दिया था—और इस वक़्त उस के होंठों पर सात सौ बीस की गिनती थी···

गिनती रुक गयी—क्योंकि पाँवों के आगे रास्ता रुक गया था···सामने और दायें-बायें—सिर्फ़ पेड़ थे, और पाँवों के नीचे—पेड़ों के बीच मे से गुज़रती हुई कच्ची पगडण्डी भी यहाँ खत्म हो गयी थी···वहाँ पेड़ों के घेरे में एक पुराना बना कुआँ था जिसके पास आकर वह कच्ची पगडण्डी रुक गयी थी···

शायद हवा तेज़ चल रही थी—पेड़ों के पत्ते हिल रहे थे और आपस में टकरा रहे थे, मानो कितनी ही धीमो-धीमी आवाज़ें पत्तों पर बैठी हों···

नहीं—मानो कितनी ही आवाज़ें पेड़ों पर उगी हुई हों···

पेड़ों से झड़कर कुछ पत्ते उस के पाँवो के पास गिर गये। उसके पाँव जैसे हिलने से रह गये हों। पत्ते पाँवों के पास गिरकर भी हिल रहे थे, मानो उस के पाँवों से कुछ धीरे-धीरे कह रहे हों।···

अपने पाँवों की तरफ़ झुका हुआ उन का सिर और नीचे को झुक गया, और पाँवों की तरफ़ से उठती हुई कितनी ही आवाज़ें उस के कानों से गुज़रकर उस के मस्तिष्क में घूमने लगी···

इन आवाज़ों में एक आवाज़ किसी एक जानवर के पंखों की तरह उसपर झपट रही थी···

पहले गालियों की शक्ल में, और फिर···

उस के शरीर की एक-एक हड्डी दुखने लगी, मानो हर हड्डी ने वह पीड़ा बरसों से सँभाल कर रखी हुई थी···

कानों में नीता के भाई की गालियाँ जैसे अभी भी कहीं से आ रही थीं—उस ने दोनों हथेलियों से दोनों कानों को ढँक लिया—और फिर सारा ध्यान एकाग्र करके नीता की आवाज़ सुनने की कोशिश की···

लेकिन नीता की आवाज़ उस के होंठों में बन्द थी और होंठ उस के खुलते नहीं थे ··

नीता उस से कितनी बातें किया करती थी—पर उस दिन जब उस के भाई ने उसकी किताब में रखा हुआ सुनील का ख़त पकड़ा था तब सुनील को बुलाकर एक कमरे में बन्द करके गालियाँ दी थीं—नीता की आवाज़ उसके होंठों मे बन्द हो गयी थी···

और फिर उसके भाई ने ज़ख़्मी होने की हद तक सुनील को मारा था···

और नीता की आवाज़ उस ने फिर कभी नहीं सुनी थी···वह शायद हमेशा के लिये उस के होंठों मे डूब गयी थी···

आज फिर-उस ने सारा ध्यान एकाग्र करके एक बार नीता की आवाज़ सुनने की कोशिश की···पर उसकी आवाज़ कहीं नहीं थी···

और फिर सुनील के मस्तिष्क में बहुत-सी आवाज़ें ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगीं···

नहीं—ये आवाज़ें, मैले-से पानी की तरह, लोगों के होंठों को फाड़कर होंठों में से बह रही थीं—जिनमें उनके थूक भी मिले हुए थे।···

यह आवाज़ों का सैलाब-सा एक दिन उस की पीठ के पीछे से आ रहा था—और वह पूरा ज़ोर लगाकर उस से बचने के लिए दौड़ रहा था···

उस का सांस उस के गले में फूलता हुआ उस के गले को जैसे घोंट रहा था, और उस की आँखें उस के मुँह पर फैलकर जैसे फटने लगी थीं···

उस के हाथ में एक कागज था जिस के अक्षर हथेली के पसीने से शायद पिघल गये थे और काले रंग की गरम धार की तरह उस के प्रिन्सीपल की आवाज़ बनकर उस के कानों में पड़ते जाते थे—'तुम्हें होस्टल से निकाल दिया गया है, कॉलिज से भी···'

और होस्टल के सब कमरों में जितनी भी आवाज़ें बन्द थीं वे उन सब कमरों के परनालों की तरह बाहर सड़क पर बहने लगी थीं···वह आगे-आगे दौड़ रहा था—और आवाज़ों का एक सैलाब-सा उस के पीछे-पीछे···

कितने बरस हो गये थे जब वह कॉलिज में पढ़ता था—शायद पाँच साल हो गये थे—और वे आवाज़ जब उस के मस्तिष्क में पड़ी थीं, शायद तब से ही वहीं खड़ी हुई थीं—शायद उस के मस्तिष्क से उतरकर नीचे उस के पाँवों के तलवों में जाकर बैठ गयी थीं—उसे याद नहीं। उस को पाँव कभी एक जगह नहीं रुक सकते थे—न टिककर बैठ सकते थे—न चारपाई पर निश्चल सो सकते थे। वह आधी-आधी रात को भी कमरे में चलता रहता था—एक दीवार से दूसरी दीवार तक, फिर दूसरी दीवार से तीसरी दीवार तक···और चौथी दीवार का दरवाज़ा उस की माँ रात को रोज़ बाहर से बन्द कर दिया करती थी···

आज···वे सारी पुरानी आवाज़ें, उसके पाँवों में से फिर ऊपर उस के मस्तिष्क में आ गयी थीं। आज उस के पाँव यहाँ रुक गये थे, निश्चल, वहीं रुके हुए थे—पर उसका मस्तिष्क आवाज़ों के ज़ोर से काँप रहा था···जैसे बहुत सारे लोग दहाड़-दहाड़कर किसी मकान की छत पर चढ़ आयें, और शहतीरोंवाली छत हिलने लगे···

एक शोकी था—वह अशोक—जो थोड़ी देर उसकी बाँह के साथ बाँह मिलाकर उस के साथ चलता रहा था—फिर न जाने किस समय वह भी उस की बाँह से छिटककर कहीं चला गया था।

नहीं, उसे याद आया, प्रिन्सीपल ने हाथ से शोकी को पकड़कर उसकी बाँह से अलग किया था और उसे अकेले कमरे की तेज़ रोशनी में खड़ा करके पूछा था, 'सच बताओ, तुम कितने दिनों से अशोक को रात के वक़्त अपने कमरे में ले जाते रहे हो ?'

उसे याद था—उस ने एक रात—अशोक को अपने कमरे में बुलाया था। वे कितनी देर पढ़ते-वढ़ते रहे थे, फिर एक ही बिस्तर पर सो गये थे और उस को उस रात अशोक का नरम-सा शरीर निरा-पूरा नीता के शरीर जैसा लगता रहा था···उस ने सोये हुए अशोक की बाँह कितनी देर अपने गले में डालकर रखी थी—और अपनी हथेली पहले उस के कन्धे पर रखी थी, फिर पीठ पर—फिर नीचे कमर पर—फिर टाँगों पर···

फिर एक रात और···और एक रात और···और कितनी अजीब बात थी कि अशोक की सूरत भी उस को नीता जैसी लगने लगी थी···उस ने उस रात पहली बार नीता के होंठ चूमे थे—नहीं, नीता के नहीं, अशोक के···

वैसे तो आधी रात को वह हमेशा आधे कपड़े पहने होता था···पर प्रिन्सी-

पल ने जब उसे कमरे की तेज रोशनी में खड़ा करके उस से रात वाली बात पूछी—तब उसे पहली बार लगा जैसे उस के शरीर पर से किसी ने सारे कपड़े उतार दिये थे—और वह ठण्ड से और शरम से कांप उठा था···

उस ने बोलने की कोशिश की थी, पर उस की आवाज़ कांपकर हकलाने लगी थी···और उस समय से—पाँच बरस से—हमेशा बोलते समय वह हकला जाती थी···

प्रिन्सीपल ने उस के हाथ में एक कागज़ पकड़ाकर उस को कमरे के बाहर भेज दिया था—पर बाहर—उसके होस्टल के सारे लड़के रुके हुए पानी की तरह खड़े हुए थे—और उसे देखते ही—उसके पीछे-पीछे पानी के सैलाब की तरह चल दिये थे···

वे बहुत ज़ोर से हँस रहे थे—सीटियाँ बजा रहे थे—और उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे···

आवाज़ें उस के सारे शरीर से टकरा रही थीं—पर उस के माथे में बहुत ज़ोर का दर्द हो रहा था – उसके माथे की नसें जैसे फट रही हों···

उस दिन –और उस के बाद कई दफा—वह बैठा-बैठा अपने माथे को टटोलने लगता था—उसे लगता था, जैसे उस के माथे की एक नस टूटकर उस के माथे से बाहर निकल आयी हो।

उसका पिता शायद उसे किसी डाक्टर के पास ले गया था···और डाक्टर ने उसे न जाने लाल रंग की गोलियाँ खिलाकर कितने दिन बेहोश रखा था—कि एक बेहोशी-सी फिर उसे हमेशा रहने लगी थी···

नहीं, सुनील को एक भूली हुई बात की तरह याद आया···कि इस बेहोशी में भी उस का होश कायम रहता था।

उस समय—जब तरीज़ा ने उस से कहा था कि वह उस के साथ ब्याह कर लेगी अगर सुनील का पिता अपना मकान सुनील के नाम कर दे···वह बड़ी दूर तक तरीज़ा के विचार को देख गया था और फिर उस ने तरीज़ा से कहा था, 'और इस के बाद ? इस के बाद तुम मुझ से कहोगी कि यह मकान मैं तुम्हारे नाम कर दूं ?'

और तरीज़ा उस की हकलाती आवाज़ पर बहुत देर तक हँसती रही थी—और उस ने कहा था, 'हकले बाबा ! मैं मकान को तुम से ज्यादा अच्छी तरह सँभालूंगी, उसे सजाऊँगी, हर बरस उसपर रंग-रोगन करवाऊँगी···'

और सुनील ने कहा था 'तुम हमेशा दो कुत्ते रखती हो; मैं तुम्हारा तीसरा कुत्ता नहीं बन सकता।'

पर एक अजीब बात थी—उसे याद आया—कि जिस डाक्टर ने उसे लाल गोलियाँ देकर बेहोश किया था और जिसे वह रोज़ कई दिन तक देखता रहा

था—एक दिन अचानक उस डाक्टर का मुंह किसी और तरह का मुँह हो गया था। वह कितनी देर, हैरान, डाक्टर के मुँह की तरफ़ देखता रहा था, और फिर थोड़े-से दिनों के बाद वह डाक्टर का मुंह —जिस की एक चौड़ी-चपटी-सी नाक थी— एक बड़ी लम्बी नाकवाला मुँह बन गया था। उस ने अपने पिता की मिन्नतें की थीं कि अगर उसे उस डाक्टर के पास न ले जाया जाये तो वह अच्छा हो जायेगा। पर उस के पिता ने उस की यह बात नहीं मानी थी। उस के पिता ने कहा था कि वह पहला डाक्टर और था, और दूसरा डाक्टर भी कोई और था, और अब जो नया डाक्टर वह और है—पर उसे पूरा यकीन था कि वह एक ही डाक्टर था—'विच डाक्टर', जो कुछ दिन बाद अपनी शक्ल बदल लिया करता था—बिलकुल इस तरह जैसे वह लाल रंग की गोलियों को कभी हरे रंग की कर दिया करता था, और कभी पीले रंग की···

और फिर एक दिन उस ने आप सुना था कि वह डाक्टर उस के पिता से कह रहा था कि वह उसे बिजली लगायेगा···

वह समझ गया था कि अब डाक्टर उस को बिजली का करट लगाकर मार देना चाहता है···वह डाक्टर के पास से दौड़कर सीधा अपने घर के कमरे में आ गया था और उस ने कमरे का दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया था···

माँ ने रोटी पकाकर दरवाज़ा खटखटाया था—पर उसे पता था···अगर वह दरवाज़ा खोलेगा तो उस का पिता उसे पकड़कर सीधा डाक्टर के पास ले जायेगा और डाक्टर उस को बिजली का करट लगाकर मार देगा··

तो उस ने दरवाज़ा नहीं खोला था, और सीखचोंवाली खिड़की में से हाथ निकालकर माँ से खाना ले लिया था। पर दूसरे दिन माँ कह रही थी कि वह दरवाज़ा खोल दे तो वह घर के नौकर से उस का कमरा साफ़ करवा देगी। उसे पता था—वे सब दरवाज़ा खुलवाने के बहाने हैं···

और फिर···फिर उस के सिगरेट खत्म हो गये थे। उसकी माँ ने उसे सिग-रेट मँगवाकर नहीं दिये थे। कहती थी, वह दरवाज़ा खोलेगा तो सिगरेट मिलेंगे···उस ने जेब में से पैसे निकालकर सीखचोंवाली खिड़की में रख दिये थे और नौकर से कहा था कि वह बाज़ार से सिगरेट ला दे। नौकर पैसे ले गया था, लेकिन उस के सिगरेट खरीदकर नहीं लाया था—बेईमान···कमीना !

उसे खयाल आया—बस एक बात अच्छी है कि उसका गुसलखाना उस के कमरे के साथ लगा हुआ है—जिस का दरवाज़ा उस के कमरे में है—नहीं तो उस को कमरे का दरवाज़ा खोलना पड़ता और उस के माता-पिता उसे पकड़कर जबरदस्ती उसे डाक्टर के पास ले जाते···

उसे लगा···उस के ज़ेहन में जैसे एक पानी का तालाब बना हुआ था जिस में कितनी ही आवाज़ें डूबतीं—और गोते-से खा रही थीं···

कभी-कभी कोई आवाज़ पानी पर तैरती बाहर किनारे पर भी आ जाती थी···

'सुनी बाबू ···हे सुनी बाबू···' वह काँप सा गया—यह काशनी की आवाज़ कहाँ से आ रही थी ?

काशनी ! रामदास धोबी की लडकी। जब आया करती थी, उसे बुलाया करती थी– 'सुनी बाबू !' और वह अपना नाम हमेशा ठीक करके उसे बताया करता था, 'सुनी बाबू नहीं—सुनील बाबू !' पर काशनी से आखिरी अक्षर कभी भी नहीं बोला गया—कहा करती थी—'यही तो कहती हूँ—सुनी बाबू···'

उस दिन उसी काशनी ने सीखचोंवाली खिड़की के पास खड़े होकर उसे धीरे से आवाज़ दी थी—'सुनी बाबू !' और अपनी चुन्नी में से सिगरेटों की डिब्बी निकालकर उसे पकड़ा दी थी। उस के पास पैसे खतम हो गये थे – उस ने अपने कोट और अपनी पैंट की जेब को अच्छी तरह टटोला था—पर सिर्फ़ पच्चीस पैसे निकले थे -- पूरी डिब्बी के पैसे नहीं थे। पर काशनी ने वे पच्चीस पैसे भी नहीं लिए। और फिर दूसरे दिन उस ने सिगरेटों की एक और डिब्बी लाकर उसे सींखचोंवाली खिड़की में से पकड़ा दी थी···

वह रोज़ सवेरे इन्तज़ार किया करता था—काशनी जब कपड़े प्रेस करके लायेगी—उस की खिड़की के पास आकर उसे ज़रूर आवाज़ देगी—'सुनी बाबू···' और उसे अपना नाम सुनील की जगह 'सुनी बाबू' ज़्यादा अच्छा लगने लगा था···

हाँ—उस ने काशनी के कहने से कमरे का दरवाज़ा एक दिन खोल दिया था और वह कमरे को साफ़ करके और उस के मैले कपड़े लेकर चली गयी थी···

और फिर वह दूसरे दिन उस के कपड़े धोकर ले आयी थी—उस ने गुसलखाने में जाकर जब कपड़े बदले थे · काशनी ने गुसलखाने का दरवाज़ा खोलकर कहा था, 'सुनी बाबू, तू बहुत सुन्दर है···'

उस के जेहन मे काशनी के हाथ की कंच की चूड़ियाँ छन-छन करने लगीं···

वह पाँव में चाँदी के घुँघरू भी बाँधती थी—उसे याद आया—और याद आया कि एक दिन काशनी ने अपने पाँवों में मेंहदी लगायी थी – और उसे लगा कि उस के साँवले-साँवले पाँव दो कबूतरों की तरह उस के कमरे में आ गये थे···

उस ने दोनों हाथों में जैसे दो कबूतरों को पकड़ लिया था···और काशनी चुपचाप उस की चारपाई पर बैठ गयी थी···और उस दिन काशनी ने उस के कानों के पास अपना मुँह कर के कहा था—'सुनी बाबू, तू बहुत सुन्दर है !···'

'सुनी बाबू···सुनी बाबू···' उस का सारा जेहन इस आवाज़ से भर गया···

उस ने अपनी हथेली से अपने माथे को छुआ—उसे लग रहा था—यह आवाज़ जैसे उस के माथे में से लहू की धार की तरह अब बाहर की तरफ़ बह रही थी···

फिर उस ने हथेली को देखा—पर अँधेरे में अब दिखायी नहीं देता था कि उस की हथेली पर लहू लगा हुआ है या नहीं···

हाँ···उसे याद आया···उस दिन उस के बिस्तरे की चादर पर कितना सारा लहू लगा हुआ था। काशनी ने उस के बिस्तरे पर से उठकर बिस्तर की चादर भी उठा ली थी—और कहा था कि वह चादर को कल धोकर ला देगी।

उस ने काशनी से पूछा था कि उस की चादर पर लहू कहाँ से आ गया था · पर चुन्नी का पल्ला मुँह में डालकर हँसती रही थी, और चादर को गुड़-मुडी कर के धोने के लिए अपने साथ ले गयी थी···

काशनी फिर भी आयी थी···फिर भी···पर फिर वह मर क्यों गयी?

माँ ने भी बताया था, नौकर ने भी, और बड़ के पेड़ वाली चाय की दुकान-वाले ने भी कि काशनी कुएँ में डूबकर मर गयी थी···

जैसे उलझी हुई गाँठें खुलती हैं—सुनील के माथे में कुछ नसें काँपकर हिलीं—'लोग कहते थे कि काशनी का ब्याह नहीं हुआ था, पर वह माँ बननेवाली थी···'

'काशनी का बच्चा?···' पेड़ों के बीच कुछ पटबीजने पड़े हुए थे—सुनील के माथे में भी कुछ जागने-जलने लगा—'काशनी का बच्चा मेरा बच्चा था? ···काशनी का बच्चा···मेरा बच्चा···?' और वह हैरान था—उसे यह ख़याल कभी पहले क्यों नहीं आया?

और सुनील को आज सवेरेवाली बात याद आयी—सवेरे उस के घर के सामने खाली पड़ी ज़मीन पर कितने ही बच्चे खेल रहे थे···

वह कितनी देर खेलते हुए बच्चों के पास जाकर खड़ा रहा था। उनमें एक तीन बरस की लड़की थी—सफ़ेद फ्राक वाली। सूरज की चढ़ती धूप में वह एक फूल जैसी लग रही थी। सुनील ने उसे प्यार से अपनी गोद में उठा लिया था—उस के बाल चूम लिये थे, उस का माथा—उस के हाथ—उस के पैर···

और फिर कहीं से एक काली मोटी औरत आकर चीखें मारने लगी थी—शायद उसकी आया थी···

फिर कितने लोग इकट्ठे हो गये थे···

घबराहट से उसकी बाँहें काँपने लगी थीं और लोगों ने उस के चारों तरफ़ घेरा डालकर उस बच्ची को उस के हाथों से छीन लिया था···

उस की माँ भी आकर रोने लगी थी—और उसे बाँह से पकड़कर अन्दर कमरे में ले गयी थी···और उस के पिता ने कहा था कि कल वे उसे पागल-

खाने ले जायेंगे···

'यह शायद···' सुनील ने अपने खयालों को चीरकर देखा—'यह शायद मेरे अचेत मन मे पड़ा हुआ मेरे बच्चे का खयाल था···काशनी जीती रहती तो वह बच्चा भी अब इस जैसा ही होता···सफ़ेद फ्राकवाली लड़की जैसा··· काशनी मर क्यों गयी ?'

और वह कुआं ?

सुनील के पांवों के नीचे की पगडण्डी जिस पुराने कुएँ के पास जाकर खत्म हो गयी थी, सुनील उस कुएँ की तरफ़ देखने लगा···

'लोग कहते थे,' सुनील को ध्यान आया, 'कि काशनी बारादरीवाले पुराने टूटे हुए कुएँ में कूद गयी थी···तो क्या···यह वही बारादरीवाला पुराना कुआँ है, या और कोई ?'

सुनील ने चारों तरफ़ देखा—वहाँ सिर्फ़ पेड़ थे और पेड़ों से झड़ते हुए पत्ते। और फिर उसे ध्यान आया कि बारादरी उस के घर के पिछवाड़े पक्की सड़क के पार हुआ करती थी—यह शायद वही सड़क थी, और यह शायद वही बारादरीवाला कुआं था···

कुछ पल के लिए जैसे उस के जेहन में सारी नसें एक सुकून के साथ सो गयीं—उसे लगा, वह इतने समय से जो बेचैन कमरे में चलता रहता था—वह असल में बारादरी के कुएँवाला रास्ता खोजता रहता था···

और वह रास्ता कितना पास था, बस सात सौ बीस कदम···

आज उस ने सारे कदम गिने थे—पूरे सात सौ बीस—और वह हैरान था कि वह पहले यहाँ क्यों नहीं आया···

'तभी तो रोज़ रात को बाहर की दीवार की तरफ़ से कोई आवाज़ आया करती थी···पता नही चलता था किस की आवाज़ है···पर आज मैं ने उसे पहचान लिया है···रोज़ मुझे काशनी बुलाती थी—सुनी बाबू !···'

और उस ने आगे बढ़कर कुएँ में झाँका—कुएँ में से काशनी के हाथों की कंच की चूड़ियाँ छनछन कर उठीं···उस ने ज़ोर से आवाज़ दी—"काशनी !'

कई बरस के बाद यह पहला दिन था जब उसकी आवाज़ हकलाई नहीं थी। उसे आप ही हँसी आ गयी—और एक अजीब-सा सुकून—जैसे वह बहुत समय बाद अपने घर आया हो—और उस के घर उस की बीवी और उस का बच्चा उस की राह देख रहे हों···

उस ने दोनों बाँहें काशनी की ओर फैला दीं—आस-पास के पेड़ों ने एक इन्सानी चीख जैसी हँसी सुनी और अपने पत्तों की तरह काँपने लगे···

पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस जनवरी

मुझे अपने कारोबार के सिलसिले में अकसर साल में दो बार बम्बई से दिल्ली जाना पड़ता था। हमेशा अपने दोस्त के पास ठहरता था। दोस्त का नाम नहीं बताऊँगा सिर्फ़ इतना ही : कि वह डाक्टर है।

रवाना होने से पहले उसे खत लिख दिया करता था। पर एक साल जनवरी में जब खत लिखा, उस ने तार से जवाब दिया कि वह पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस तारीख को वहाँ नहीं होगा, इसलिए मैं या तो इन तारीखों से पहले आऊँ, या बाद में। और इस तार से मुझे याद आया कि एक बार पहले भी उस ने मेरे खत के जवाब में खत लिखा था कि वह इन तारीखों में दिल्ली में नहीं रहेगा—और शायद तब भी यही जनवरी का महीना था।

मैं ने पुराने खतों की फाइल देखी। उस का खत ढूंढ़कर निकाला—सचमुच यही जनवरी का महीना था, और यही तारीखें। बात कुछ अजीब-सी लगी, लेकिन इस बार मैं ने जाने की तारीखें बदली नहीं। बदल सकता था—दो-चार दिन पहले या दो-चार दिन बाद जा सकता था, लेकिन मैं उन्हीं तारीखों में दिल्ली चला गया। सिर्फ़ इतना किया कि सीधा अपने दोस्त के घर नहीं गया—वहाँ पहुँचकर एक होटल में ठहर गया।

उस के घर टेलीफ़ोन करने का कोई फ़ायदा नहीं था—क्योंकि उस के कहने के मुताबिक वह दिल्ली में नहीं था। पर रहा नहीं गया। जी किया उस के हस्पताल में टेलीफ़ोन करके इतना ही पूछ लूँ कि वह अपने गाँव अपने माता-पिता के पास गया हुआ है—और खैर-खैराफियत के साथ गया हुआ है—या कोई खास बात है।

मैं ने फ़ोन किया। खयाल था—कोई और डाक्टर बोलेगा। लेकिन उस की कुशल-मंगल पूछनेवाले शब्द मेरे मुँह में घूम ही रहे थे जब फ़ोन के जवाब में मुझे उस की अपनी आवाज़ सुनायी दी। फिर शायद मेरी अपनी आवाज की हैरानी थी—कि मुझे उस की आवाज में उस का तपाक कुछ कम-सा लगा। पर साथ

ही मैं अपनी हैरानी को दलील भी दे रहा था—हो सकता है किसी कारणवश उस का जाना रुक गया हो—उसे जाना रहा हो, पर न जा सका हो—और अब मेरे आगे शर्मिन्दगी महसूस करता हो···

और मैं ने स्वयं ही अपने तर्क के बल पर कहा, "अब मुलाकात किस वक़्त होगी ?" मन में उस का जवाब भी सोच लिया था, "तुम होटल से सामान लेकर सीधे घर चलो, मैं अभी घर पहुँच रहा हूँ।" पर लगा, मेरे अपने कानों ने ही मुझे झुठला दिया। उस का जवाब था—"चार बजे हैं, मैं आधे घण्टे में यहाँ से फारिग हो जाऊँगा, फिर सीधा तुम्हारे होटल आऊँगा।"

खैर, अभी भी तर्क कुछ बाकी था— मैं सोच रहा था कि वह मेरे पास आकर खुद मेरा सामान उठवायेगा, और मुझे घर ले जायेगा। पर पाँच बजे के करीब जब वह आया, कितनी देर मेरे काम के बारे में सरसरी तौर पर बातें करता रहा। फिर चाय पी और शाम ढलने को आ गयी। लग रहा था, जैसे वह कुछ कहना चाह रहा हो, पर कहने की घड़ी को टाल रहा हो।

वह मेरा पुराना दोस्त था। अधिकार के साथ उस से पूछ सकता था, पर उस के चेहरे पर कुछ ऐसा संकोच दिखायी दे रहा था कि मैं ने कुछ नहीं पूछा। कुछ देर बाद उस ने जाना चाहा। मैं क्या कह सकता था—उसे नीचे होटल के बाहरवाले दरवाज़े तक छोड़ने चला गया। देखा—वहाँ उस के पाँव कुछ ठिठक-से गये, पर उस ने कहा कुछ नहीं।

मुझे वापस कमरे में आये कोई घण्टा-भर हुआ था कि उस का फ़ोन आया— "सॉरी, आई कांट एक्स्प्लेन ऐनीथिंग !" मैं जवाब में हँसता रहा, "चलो माफ किया, एन्ज्वाए यूअरसैल्फ !" अचानक लगा, हो न हो इन दिनों उस के पास घर में ज़रूर कोई लड़की थी। पर यह कल्पना भी मुझे मिटती-सी लगी, क्योंकि उस की आवाज़ में कुछ उदासी थी।

उस वर्ष सितम्बर में मुझे दिल्ली जाना पड़ा, पर मैं ने उसे खत नहीं लिखा। दिल्ली आकर एक होटल में ठहर गया। होटल से फोन किया। उस की आवाज़ पुराने तपाक से भरी हुई थी। वह उसी समय हस्पताल से छुट्टी लेकर मेरे होटल आया और मेरे इनकार करने पर भी मेरा सामान उठाकर मुझे अपने घर ले गया।

पता नहीं एक दोस्त होने के नाते मुझे ऐसा करना चाहिए था या नहीं, पर मैं ने उस के नौकर से एक दिन अकेले में जनवरीवाली बात—और बातों में कुछ घुमाकर पूछी। पुराना नौकर था, मेरा भी डाक्टर के समान आदर करता था, इसलिए आदर से बोला, "मुझे तो साहब हर बरस छब्बीस जनवरी का मेला देखने के लिए तीन दिन की छुट्टी दे देते हैं।"

तो···वही तीन दिन : पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस जनवरी ! उस से मैं

ने यह भी मालूम कर लिया था कि उस की छुट्टी में सिर्फ़ दिन ही शामिल नहीं होते थे, रातें भी शामिल होती थीं। वह तीन रात बाहर नौकरों के डेरे में रहता था जहाँ उस के गाँव के और लोग भी रहते थे।

नौकर को हर बरस इन्हीं तीन दिनों की छुट्टी देना मुझे स्वाभाविक नहीं लगा। मुझे लगा - कोई भेद है, जो मेरा दोस्त भेद ही रखना चाहता है।

और फिर जब चार महीने बाद जनवरी का महीना आया तो मैं ने अपने दोस्त को खत लिखा कि मुझे पच्चीस तारीख को दिल्ली आना पड़ेगा हालाँकि दिल्ली जाना मैं अभी और एक महीना आगे सरका सकता था। जवाब में उस का खत आया "क्या इस तारीख को तुम्हारे काम से कोई लगाव हो गया है? तुम दो-चार दिन पहले या बाद में क्यों नहीं आ सकते?"

तो···ज़रूर कोई बात थी जो न वह बता सकता था, न मैं पूछ सकता था। मैं उस महीने दिल्ली नहीं गया। बाद मे मार्च में गया, उसी के पास ठहरा और उस बार मैं ने दिल्ली में पाँच एकड़ का एक फार्म खरीदा, जहाँ साल में कम-से-कम एक महीने रहने का मेरा सपना मुझे हमेशा खींचा करता था। यह सब मेरे दोस्त की मेहनत का ही फल था। फार्म के कागज़-पत्र उसी ने देखे दिखाये थे, दो मालियों का बन्दोबस्त कर दिया था, और फार्म पर एक छोटी-सी रहने की कोठी का नक्शा भी उस ने ही बनवा दिया था। मैं वहाँ इमारत शुरू करवाकर वापस बम्बई चला गया था, बाद मे उस ने ही उसे देखा-सँभाला था, और उसे पूरा बनवाकर मुझे उस की चाभी भेज दी थी।

फिर···अचानक उस का खत आया कि उस ने ब्याह कर लिया है। खत खुशी मे भरा था, इसलिए मैं भी खुश था। पर उलाहना-सा देते हुए मैं ने लिखा कि उस ने मुझे अपने ब्याह में शामिल होने के लिए क्यों नही बुलाया। उस का जवाब आया—"जिस घड़ी ब्याह का फैसला हुआ, मैं उसी घड़ी ब्याह कर लेना चाहता था, नहीं तो शायद कभी न हो सकता। इसलिए तुम्हें बुलाने का समय ही नहीं था।" खत में उस ने यह नहीं लिखा था कि ब्याह उस घड़ी के टलने के बाद क्यों नही हो सकता था। पर यह ज़रूर लिखा हुआ था, "मै बहुत खुश हूँ, मैं तुम्हारी भाभी से इश्क की हद तक मुहब्बत करता हूँ!"—इसलिए मुझे उस के ब्याह में शामिल न होने का जो मलाल था—वह मलाल जैसा नहीं रहा। एक लगन-सी ज़रूर लग गयी कि अब मैं दिल्ली कब जा सकूँगा। इस में एक और कारण भी शामिल था – मैं ने अभी तक अपने फार्मवाले मकान में रहकर नहीं देखा था। वहाँ के मालियों के अलावा मैं ने एक ऐसे आदमी का बन्दोबस्त भी कर दिया था जो हर इतवार फार्म पर जाकर फार्म के काम को देखता था और मुझे हिसाब-किताब लिख भेजता था। मेरी आँखों में अपने फार्म की हरियाली हर हफ्ते पोर-पोर ऊँची होती रहती थी।···

अचानक मेरे दोस्त का फ़ोन आया कि अगर मैं फार्मवाले घर की चाभी उसे भेज दूँ तो वह तीन दिन वहाँ जाकर रहना चाहता है। यह जनवरी का महीना था। मुझे वही पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस जनवरी के तीन दिन इस बात से जुड़े हुए लगे। मैं ने कहा, "मैं कल चाभी भेज दूंगा। वैसे मैं भी दिल्ली आना चाहता हूँ, पर अगर तुम वहाँ अकेले रहना चाहो तो मैं इस महीने नहीं, अगले महीने आ जाऊँगा।" जवाब में उस ने कहा, "मैं पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस तारीख, सिर्फ़ तीन दिन वहाँ रहूँगा। तुम भी आ जाओ, साथ रहेंगे।"

अजीब बात थी—वही तारीखें थीं, पर इस बार उसे एतराज़ नहीं था कि मैं इन तारीखों में न आऊँ। क्या सुखी ब्याह के बाद भी उसे उन तारीखों में अकेलेपन की ज़रूरत न थी? क्यों?—मैं ने पूछा, "भाभी का क्या हाल है?" जवाब में कहीं भी संकोच जैसा कुछ नहीं था। वह कह रहा था, "बहुत बढ़िया लड़की है, तुम उस से मिलकर बहुत खुश होगे। हम अट्ठाइस तारीख को साथ-साथ घर चलेंगे।"

कुछ पकड़ में नही आ रहा था, पर उस का विवाह ठीक था, यही काफी था। मैं ने उस से कहा कि मैं पच्चीस तारीख को सवेरे पहुँच जाऊँगा—सीधा फार्म पर जाऊँगा, और तुम्हारा इन्तज़ार करूँगा।

उस की बीवी के लिए मैं ने बम्बई से एक प्यारी-सी साड़ी खरीदी, और पच्चीस तारीख को सवेरे दिल्ली पहुँच गया। फार्म की हरियाली मेरी कल्पना जैसी ही थी। मेरे मन की धरती में भी मानो फूल-पत्ते उग रहे थे। फार्म का इतवारी कारिन्दा वहीं पहुँचा हुआ था—उस ने मेरे कहे के मुताबिक, जिन चीज़ों की मुझे ज़रूरत थी, लाकर रखी हुई थीं। मालियों ने कॉटेज के फाटक को पोंछा, सँवारा और फूलों से सजाया।

शाम गहरी हो चली थी जब मेरा दोस्त आया। इस बार मैं उस के लिए बम्बई के एक दोस्त से फ्रेंच 'कोनयाक' लेकर आया था। बहुत दिन हुए जब उस ने एक बार मुझे कोनयाकवाली पिलायी थी और कहा था—कि उस का बस चले तो वह हमेशा कोनयाकवाली चाय ही पिये। इस बार तीन दिन मैं उसे कोनयाकवाली चाय पिलाना चाहता था। यूँ तो डिब्बों के फल और सब्जियाँ मैं बम्बई से ले आया था, पर अपने फार्म की गोभी मैं ने अपने हाथों से भूनी थी। मेरे लिए बम्बई की ज़िन्दगी से अलग होने का यह बड़ा प्यारा दिन था···

उस रात पहले कोनयाकवाली चाय और फिर नीट कोनयाक पीते हुए मेरा दोस्त कहने लगा, "तुम कई बरस से कुछ पूछना चाहते थे न? मैं भी कई बरस से तुम्हें कुछ बताना चाहता था···"

यह शायद मिट्टी में से कुछ हरा-सा फूट निकलने का समय था, मैं उस के

मुँह की ओर देखने लगा। वह हँस दिया—"ये पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस जनवरी—तीन दिन मेरी समझ से बाहर हैं। तुम्हें कैसे बताऊँ···अच्छा, शुरू से ही बताता हूँ···पूरे पाँच बरस हुए, मेरा एक दोस्त आज के दिन – पच्चीस तारीख को—मेरे घर आया था। कमबख्त जवान भी था, खूबसूरत भी, और बहुत प्यारा शायर भी। दिल्ली से हिन्दुस्तान की सब भाषाओं का पच्चीस जनवरी को एक मुशायरा होता है न—उसे उसी मुशायरे में सरकारी तौर पर बुलाया गया था। पर वह अकेला नहीं आया था···एक बड़ी सुन्दर लड़की उस के साथ थी। अपने शहर में वह उस लडकी से नहीं मिल सकता था—इसलिए यहाँ ले आया था। वहाँ से शायद उस के साथ नहीं आया था, पर यहाँ स्टेशन से उसे साथ लेकर आया था। वे दोनों तीन दिन मेरे घर रहे। पच्चीस की रात को मुशायरा था, छब्बीस को सब शायरों के लिए सरकार की तरफ़ से दावत हुई थी, पर सत्ताइस की रात उन्होंने ज़िन्दगी से और चुरा ली थी। और फिर अलग-अलग गाड़ियों में वापस चले गये थे···"

यह बात सुनते हुए जैसे मैं एक ऐसे दरवाजे की ओर देख रहा था—जिस के पास मैं बरसों की तलाश के बाद पहुँच तो गया होऊँ, लेकिन अभी यह सोच भी न सकता होऊँ कि उस दरवाज़े के अन्दर क्या है···

कोई कहानी शायद पाँच बरस चलती रही थी, और मेरा दोस्त भी उस के साथ पाँच बरस चलता रहा था—उस के चेहरे पर एक लम्बा रास्ता चलकर आने का सा अहसास था। कुछ देर साँस लेकर कहने लगा—"पर दिल्ली के तीन दिन वाली बात न उस के घर से छिपी रही, न उस लड़की के घर से। उसकी बीवी बड़ी दुखी थी, और उस लड़की के माता-पिता भी। शहर एक ही था, वैसे भी छोटा···दोनों घरों का वैर सारे शहर में फैल गया। एक की जान के लिए फजीते थे, दूसरे की जान के लिए खतरा। पर छह महीने गुज़रे थे कि सारी बात ही निबट गयी। कमबख्त सारे दिन और सारी रात शराब पीता था, छह महीने में खत्म हो गया···"

"क्या मतलब ?" मैं काँप-सा गया।

"बे-आयी मौत···" मेरे दोस्त की आवाज़ उस के गले में डूब गयी थी। कोनयाक के तेज पाँच-छह घूँट भरकर उस ने कहा, "फिर जब अगली जनवरी की पच्चीस तारीख आयी, मेरे नाम उस लड़की का बिलखता हुआ खत आया कि मैं तीन दिन उस कमरे में किसी को न जाने दूँ जिस कमरे में पिछले बरस वे दोनों रहे थे। उस ने खत में गेंदे के दो फूल भेजे कि वे फूल मैं उस कमरे में उसी पलंग पर रख दूँ जो उस के सुहाग की सेज था। और उस ने लिखा कि दोनों की रूहें तीन दिन उस कमरे में रहेंगी।"

मैं यह बात सुनते ही जैसे मैं नहीं रहा—सिर्फ़ एक अचम्भा था। दोस्त से

पूछना चाहता था—'और तुम ने इस बात पर यकीन कर लिया ?' पर मेरे कुछ भी पूछने से पहले वह कहने लगा—"मुझे उस का खत सिर्फ़ उस का पागलपन लगा था, उस की दीवानगी—पर दीवानगी का भी शायद कोई जादू होता है। मैं ने खत को परे रख दिया, पर वे फूल मैं फेंक नहीं सका। यह भी याद आया कि उस कमबख्त ने उस लड़की को 'गेंदे का फूल' कहकर यहाँ ही एक नज़्म लिखी थी। तो···मैं ने दोनों फूल उस कमरे के पलंग पर रख दिये और दरवाज़े भेड़ दिये। पर उस रात एक अजीब घटना घटी···"

मैं सारे का सारा जैसे अपनी ही आँखों में समा गया था—और दोस्त के मुँह की तरफ़ देख रहा था। वह कहने लगा—"कोई आधी रात गये, मुझे उस कमरे में से किसी के पैरों की आहट आयी, और फिर पैरों की आहट कमरे से निकलकर बाहर रसोई के उस थड़े तक आती हुई मालूम हुई जहाँ पानी का घड़ा रखा हुआ था। फिर घड़े में से पानी लेने की आवाज़ भी आयी और किसी के हाथ की काँच की चूड़ियों की खनक भी···"

"इम्पासिबल···" मेरे मुँह से निकल गया—पर मेरी आवाज़ जैसे काँप-सी रही थी।

मेरा दोस्त कहने लगा—"मैं ने भी सवेरे उठकर यही सोचा था कि सब मेरी अपनी यादों का भ्रम है—पिछले बरस उस लड़की ने दोनों हाथों में हरे काँच की चूड़ियाँ पहने हुए थी—और वह सब कुछ उस याद में से मुझे सुनायी दिया था। पर अगली रात भी यही हुआ, और उस से अगली रात भी···"

"फिर अगले बरस ?"

"अगले बरस भी पच्चीस तारीख को उस लड़की का खत आया, वही मिन्नत और वही गेंदे के दो फूल···और फिर उसी तरह तीनों रात वही आवाज़ें···"

अब मैं कुछ भी कहने के काबिल नहीं रह गया था। कमरे में मैं ने लकड़ियों की आग जलायी हुई थी—सिर्फ़ वही जल रही थी, मैं जैसे बुझ गया था···

दोस्त के मुँह की ओर देखा—आग की लपट से उस का मुँह तप रहा था।

जलती हुई लकड़ियों पर एक नयी लकड़ी रखते हुए मेरा दोस्त कहने लगा, "पूरे तीन बरस इसी तरह होता रहा। उन के सचमुच के मेल को आँखों से देखनेवाला भी जैसे मैं अकेला था, उन की रूहों के मेल को देखनेवाला भी दुनिया में सिर्फ़ मैं था। इसलिए इस अजीब हकीकत को सिर्फ़ अपने तक ही रखना चाहता था। तुम्हें इसीलिए लिखता था कि तुम इन दिनों न आओ···"

"पर आज फिर पच्चीस तारीख है···" इतना ही कहा, स्पष्ट था कि कहना चाहता था—'आज तुम वहाँ क्यों नहीं रहे ?' आज वहाँ गेंदे के फूल कौन रखेगा ?'

वह आग की लाट की तरह हँसने लगा। कुछ देर मेरी ओर देखता रहा, फिर हँसते हुए कहने लगा, "पिछले साल की जुलाई की बात है, हमारे हस्पताल में हमारे साइकाएट्रिस्ट के पास एक केस आया। उस ने वह केस मुझ से डिसकस किया कि फलाने शहर से एक लडकी का अजीब केस उस के पास आया है जो साल में तीन दिन बिलकुल बेजान हो जाती है—और हमेशा हर साल···! मुझे लगा, ज़रूर उसी लड़की का केस होगा। मैं ने उस से तारीखें पूछीं तो वही तारीखें थीं – जनवरी की पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस। उस के माता-पिता सब डाक्टरों से हारकर उसे यहाँ दिल्ली के हस्पताल में ले आये थे···"

"तुम उस से मिले नहीं?" बुझती हुई लकड़ी के धुएँ की तरह मेरे अन्दर एक हसरत सी जागी—'काश, मैं एक बार उस लड़की को देख सकता—क्या सच में कोई ऐसी लडकी हो सकती है ··?'

मेरे दोस्त ने हाँ मे सिर हिला दिया, फिर हँस पड़ा—"मिलना तो था ही, मिला। वही थी। वही हो सकती थी। मुझे देखकर रो पड़ी—उसे ज़बरदस्ती हस्पताल ले आये थे। ज़बरदस्ती राज़ी करना चाहते थे। ज़बरदस्ती उस का ब्याह करना चाहते थे···"

"फिर?"

'मैं ने अपने डाक्टर कोलीग से उस से बातें करने की इजाज़त ले ली थी। उस से रोज मिलता था।—एक दिन मैं ने उस से कहा, 'तुम जो कहती हो, ठीक है, पूरे तीन दिन उस की रूह तुम्हारे साथ होती है, तुम्हारी उस के साथ; लेकिन साल के बाकी तीन सौ बासठ दिन? तुम उन तीन सौ बासठ दिनों के लिए ब्याह कर लो!' बड़ी दिलवाली लड़की तो वह थी ही, कहने लगी, 'अच्छा, फिर मेरे माता-पिता को समझा दो कि जो आदमी मेरे साथ साल के तीन सौ बासठ दिन के लिए ब्याह करना चाहे, मैं कर लूँगी।'—और उस दिन, उस घड़ी, मुझे सचमुच उस से प्यार हो गया···"

मेरे काँपते हुए से हाथ ने दोस्त के हाथ को छुआ—"तो अब वही···वही तुम्हारी बीवी···?" बुझती हुई लकड़ियों पर रखी हुई नयी लकड़ी की लाट की तरह मेरा दोस्त हँसने लगा—"वही मेरी बीवी है—सिर्फ़ जनवरी की पच्चीस, छब्बीस और सत्ताइस तारीख को छोड़कर!···"

दोस्त के आगे भी सिर झुक गया, पर लगा—इस समय मैं उस कमरे की दहलीज़ को सलाम कर रहा था—जिस के अन्दर एक खाली पलग पर एक जवान लड़की गेंदे के फूल रख रही थी···

अपने-अपने छेद

कोई नहीं जानता—सिर्फ़ ईश्वर और डाक्टर राव जानते थे कि शीना ने अपनी छाती में एक छेद छिपाया हुआ है···

जिस दिन डाक्टर राव ने वीरेन्द्र के एक्स-रे सामने रखकर, उस की पत्नी को अकेले में बुलाकर कहा था, मैं कह नहीं सकता वीरेन्द्र की ज़िन्दगी के और कितने दिन बाकी है, हो सकता है कुछ महीने और बीत जायें, पर हो सकता है सिर्फ़ कुछ दिन ही · दिल के चारों हिस्सों में जो कनैक्टिग वाल्व्ज़ होते हैं, उन में से एक में एक छेद है जो कुछ हफ़्ते पहले के एक्स-रे में भुलावे-जैसा बारीक था, पर इस बार के एक्स-रे में विश्वास के समान बड़ा हो गया है···' और डाक्टर राव ने ठण्डी कारोबारी आवाज़ में कहा था, 'अगर यह छेद उसी तरह बारीक रहता तो उसे थकान की शिकायत तो रहती ही, पर हो सकता था कि वह कई साल जीता रहता, पर ···'

डाक्टर को 'पर' के आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी। शीना ने जान लिया कि छेद बड़ा होता जा रहा है, और इस छेद में से वीरेन्द्र के साँस झिरते जा रहे हैं। और उसने जब डाक्टर से कहा, 'अगर किस्मत ऐसी ही है, तो आप एक काम कीजिये, उसे इसी तरह गूंगी रहने दीजिए, जैसे वह कई महीनों से है। आप वीरेन्द्र को कुछ न बताइये। अब चाहे कुछ ही महीने बाकी हैं, या कुछ ही दिन, मैं उस के आखिरी साँस तक उस के साथ इस तरह जीना चाहती हूँ जैसे हमें मिलकर हश्र तक जीना हो···' तो यह सुनकर डाक्टर राव ने जान लिया था कि शीना ने अपनी छाती में वह छेद छिपा लिया है, और उसे दुनिया का कोई एक्स-रे नहीं देख सकता।

शीना ने यह तो जान लिया कि मौत उस के घर का पता पूछ रही है, पर सोचा—अभी जितने दिन उसे घर नहीं मिलता और अभी जितने दिन वह घर का दरवाजा नहीं खड़काती, वह उतने दिन अपने घर को इस तरह सजाना और वीरेन्द्र के साथ जीना चाहती है जैसे एक मर्द और एक औरत ने दुनिया

में पहला घर बसाया हो···

'वीरेन्द्र को बिलकुल मालूम नहीं था कि मौत जल्दी मचा रही है, तब भी न जाने उस के जी में क्या आया, उस ने सारे जोड़-तोड़ कर, मेरे लिए यह मकान खरीदा।' शीना सोचती रही, मुश्किल से पाँच बरस की नौकरी के बचे हुए कुछ पैसे थे, और कुछ उस ने अपने माता-पिता की मदद लेकर और कुछ दफ्तर की, यह छोटा-सा घर खरीद लिया ···' और शीना को छोटी-छोटी बातें याद आयीं, वीरेन्द्र को टसरी रंग के पर्दे पसन्द थे, पर उन के खरीदने के लिए पैसे नहीं बचे · घर चाहे सिर्फ़ दो कमरों का ही है, पर उस में बीस फुट का जो बगीचा है, उस में वह कलकतिया घास लगवाना चाहता था, उस में वह दो रंगों वाली बुगनबेलिया की बेल लगाना चाहता था, उस के एक कोने में वह रातरानी और एक कोने में चम्पा चमेली···और सूरजमुखी के फूल भी ···'

और शीना ने ट्रंक में पड़ी हुई सोने की दो चूड़ियाँ बेचकर टसरी रेशम के पर्दे खरीद लिये। वीरेन्द्र के पूछने पर शीना ने कहा कि मकान की चट के लिए माँ ने कुछ नहीं भेजा था, इसलिए किसी आते-जाते के हाथ उन्होंने पाँच सौ रुपये भेजे हैं···

शीना सचमुच मन की उस जगह पर खड़ी हो गयी जहाँ कई झूठ भी सच के समान पवित्र होते हैं···

पाँच महीने पहले वीरेन्द्र को, बैडमिण्टन खेलते हुए, अचानक साँस उखड़ता लगा था और उस के बाद वह रोज शाम के समय अजीब थकान महसूस करने लगा था। कहीं कोई पीड़ा नहीं थी, पर जैसे हड्डियों में से रोज़ कुछ झड़ रहा हो···और अब पिछले महीने से वीरेन्द्र ने दफ्तर से भी छुट्टी ले रखी थी···

शीना नर्सरी से एक पौधा रोज़ खरीदकर ले आती, और रोज़ सवेरे अपने छोटे-से बगीचे में वह वीरेन्द्र के हाथों से ऐसे लगवाती जैसे वीरेन्द्र का एक छोटा-सा अंश रोज धरती में बीज रही हो···

शीना का बहुत जी करता वीरेन्द्र का एक छोटा-सा अंश वह अपनी कोख में भी बीज ले···पर अब बहुत देर हो चुकी थी। अब तो डाक्टर ने कहा था कि अच्छा होता अगर वीरेन्द्र ने ब्याह न किया होता···ऐसे मरीज के लिए शरीर की उत्तेजना मृत्यु का झटका भी हो सकती है···'अगर मालूम होता'—शीना के मन में हसरत आयी, पर अब किसी हसरत में भी खो जाने योग्य समय नहीं था, अब समय केवल वीरेन्द्र के मुँह की ओर ताकते रहने का था··· शीना जागते हुए वीरेन्द्र को भी ताकती रहती और सोये हुए वीरेन्द्र को भी···

शीना के घर से सटा हुआ घर बहुत समय से खाली था और उस की गैर-आबादी से कभी-कभी शीना को रात के समय डर लगता था। वह इन दिनों अचानक बस गया—एक औरत, एक मर्द और दो बच्चे उस की आबादी बन

गये। शीना को दीवार के पार से आनेवाली आवाज़ें अच्छी लगीं, इन में बच्चों की किलकारियाँ भी थीं और हठ से भरी हुई चीखें भी, मर्द और औरत की एक-दूसरे को पुकारने की आवाज़ें भी और एक-दूसरे से किचकिच करने की आवाज़ें भी, और शीना आबादी की इन इलामतों को देखते हुए मुश्किल से मुसकरायी ही थी कि उसे लगा —उस घर की बेआबादी अब रींगते-रींगते दीवार के ऊपर से उतरते-फिसलते इस तरफ़—उसके घर की तरफ़ आ रही है···

शाम का समय था जब शीना के दरवाज़े पर खड़का हुआ। शीना ने अपने पिता और भाई तक को भी अपने हाल की भनक न पड़ने दी थी। वह किसी का हाल-चाल पूछने के लिए आना नहीं चाहती थी। वह नहीं चाहती थी — वीरेन्द्र के मरने से पहले कोई उसे मरने की हालत में देखे। इसलिए इस समय किसी और का आना सम्भव नहीं था —सिवाय डाक्टर राव के, जो पिछले दिनों में एक बार वीरेन्द्र को इधर से आते-जाते देख गया था···

पर उस का दूसरी बार आना वीरेन्द्र के मन में सन्देह पैदा कर सकता था, इसलिए शीना को दरवाज़े का खड़का अच्छा नहीं लगा। पर झिझककर दरवाज़ा खोलते हुए उस ने देखा—आनेवाला डाक्टर राव नहीं था, पड़ोस के अभी हाल में आबाद हुए मकान की औरत थी।

औरत कुछ संकोच में थी, बोली, 'आप के घर में शायद टेलीफ़ोन है? मैं फ़ोन कर लूँ ? मैं आपके पड़ोस से मिसेज़ कपूर हूँ···'

शीना ने वीरेन्द्र के कमरे का दरवाज़ा भेड़ते हुए सिर्फ़ इतना कहा, 'वह सो रहे हैं, मिसेज़ कपूर। आप फ़ोन कर लीजिये, लेकिन जरा धीरे बोलियेगा, वह जाग न जायें···'

साधारण-सा फ़ोन था—औरत ने अपने पति के दफ़्तर का नम्बर मिलाया, पूछा कि वह दफ़्तर में हैं या चले गये। लेकिन फ़ोन करके वह ऐसी निढाल-सी हो गयी कि शीना ने उसे कुर्सी पर बिठाते हुए पानी के लिए भी पूछा, और यह भी कि शायद उस के घर में कोई घबरानेवाली बात हो गयी है और अगर वह कुछ मदद कर सके···

औरत ढली हुई आयु की नहीं थी पर मुरझायी हुई-सी थी। वैसे अब भी अच्छी छब वाली थी, सिर्फ़ आयु से अधिक गम्भीर थी। कहने लगी, 'नहीं, वैसे ही देर हो गयी है, अभी तक वह घर नहीं आये हैं। सोचा, दफ़्तर से मालूम कर लूँ···'

औरत के इन साधारण शब्दों की झिरियों से जो चिन्ता छन रही थी, वह साधारण नहीं थी। पर शीना ने इस से ज्यादा कुछ नहीं पूछा। पूछना ठीक नहीं समझा।

औरत चली गयी। पर रात गये उस के घर से पहले मर्द के ज़ोर-ज़ोर से

बोलने की, और फिर औरत के सुबक-सुबककर रोने की आवाज़ आयी, तो शीना को अपना शाम के समय का ख़याल ठीक लगा। औरत की उदासी शायद एक दिन की नहीं थी —इस के पीछे शायद बहुत-से दिन थे।

धीरेन्द्र की कमज़ोरी बढ़ती गयी···वह थोड़ा-सा उठता, बगीचे तक जाता, या सिर्फ़ पास गुसलखाने तक, कि उस के माथे पर ठण्डा पसीना आ जाता और वह निढाल-सा चारपाई पर इस तरह लेट जाता कि उस की बन्द आँखों से यह पता नहीं लगता था —वह सोया है या जाग रहा है। और शीना घर का सब काम दबे पाँव करती रहती —कि कहीं वह खड़के से जाग न जाये।

तीसरे दिन दोपहर को शीना ने खिड़की से देखा कि मिसेज़ कपूर बाहर से कुछ सब्ज़ी खरीदकर आयी है, फिर सब्ज़ी को अन्दर जाकर रखकर, शीना के घर की तरफ़ आ रही है···

शीना ने दरवाज़ा खड़कने से पहले ही खोल दिया। मिसेज़ कपूर ने झिझकते स्वर में फ़ोन करने की आज्ञा माँगी। और फिर वही नम्बर, वही दफ़्तर, वही सवाल, और फोन बन्द करते हुए वह भरी आँखों से बेसहारा-सी, कुर्सी पर बैठ गयी।

शीना ने अपने लिये चाय बनायी थी, उसी को दो प्यालों में डालकर एक प्याला उस के आगे रख दिया।

मिसेज़ कपूर ने रस्मी इनकार नहीं किया, शायद एक गर्म घूँट की उसे सचमुच आवश्यकता थी। गर्म घूँट की भी, और शायद एक स्नेहभरी आवाज़ की भी··

कहने लगी, 'शीना बहन! मैं तुम्हें भी असमय दुख देती हूँ···'

और शीना के भले-से मुँह के आगे उस ने मन खोल दिया, 'मेरे पति की ज़िन्दगी में न जाने कितनी औरतें हैं···आज जब सब्ज़ी लेने गयी, दूर से एक कार देखी, लगा वह बैठे हुए हैं, उन के बराबर एक औरत···यह भी सोचा, शायद मेरे मन का वहम है, वह तो दफ़्तर में बैठे हुए होंगे···इसीलिए फ़ोन किया···वह सचमुच दफ़्तर में नहीं हैं··सो वह ही थे···और उन के साथ न जाने कौन थी···' और मिसेज़ कपूर ने बताया कि 'जिस इलाके में वे लोग पहले रहते थे उस घर के बिलकुल पड़ोस में रहनेवाली औरत के यहाँ मिस्टर कपूर ने आने-जाने का सम्बन्ध जोड़ लिया था।' और कहा, 'मैं ने सोचा, इस घर में बदलकर आ जायेंगे तो वह सिलसिला खत्म हो जायेगा·· पर यहाँ भी·· यह पता नहीं कौन है···कोई नयी मालूम होती है···'

और मिसेज़ कपूर ने भरी हुई आँखों से कहा, 'जब शाम होती है·· मेरा आदमी घर नहीं आता,···सोचती हूँ···न जाने इस समय वह किस के पास होगा···उन का रास्ता देखते भी रोती हूँ···और जब घर आ जाते हैं·· तब

उन्हें देखकर भी रोती।...'

शीना का मन भर आया—'इस का पति जो न जाने किस-किस के पास जाता है...रात पड़ने पर घर तो लौट आता है...अपनी पत्नी के पास...पर मेरा पति जल्दी, बहुत जल्दी, वहाँ चला जायेगा जहाँ से वह कभी लौटेगा नहीं...और मेरे पास इन्तजार करने लायक भी कुछ नहीं होगा...'

और शीना के चेहरे पर जब पिलापी फिर गयी, मिसेज़ कपूर ने अपनत्व से पूछा, 'शीना बहन! तुम्हारे पति बीमार हैं? मैं बहुत दिनों से देख रही हूँ, वह दफ़्तर नहीं जाते, कहीं भी बाहर नहीं जाते,' तो शीना का मन उमड़ आया, और जो मन का छेद उस ने किसी को नहीं दिखाया था, मिसेज़ कपूर को दिखा दिया।

मिसेज़ कपूर ने कहा कुछ नहीं, पर उस के मन में एक ईर्ष्या-सी पैदा हुई—'यह कितनी भाग्यवान औरत है, इस का पति आखिरी साँस तक इस का पति है, वह मरकर भी इस के लिए जीता रहेगा...यह उस की एक-एक याद को जियेगी...उस के लगाये हुए पौधों पर जब फूल आयेंगे, इसे हर पत्ती में और हर रंग में अपने पति की महक आयेगी।'

और शीना, भरी हुई आँखों से, उठकर जाती हुई मिसेज़ कपूर की पीठ की ओर देखती रही, 'मुझ से तो इस का नसीब अच्छा है...जब उस का पति आता है यह उस से लड़ सकती है, उस के आगे रो सकती है...पर मैं...मैं किस से लड़ूँगी...मैं किस के आगे रोऊँगी...'

और शीना के कानों में अपनी और वीरेन्द्र की वह आवाज़ भर गयी—जब वीरेन्द्र बाहर से आता, उस के लिए फूल ले आता, कहा करता था, 'ओ मेरी इकलौती बीवी! देख...' और शीना उस के कन्धे पर सिर रखते हुए कहा करती थी, 'मेरे इकलौते खाविन्द! अपने हाथों से मेरे बालों में लगा दो...'

और आज—बगीचे का एक ताज़ा खिला फूल तोड़कर वीरेन्द्र के कमरे में रखते हुए शीना को लगा, उस की अपनी छाती का छेद बहुत बड़ा हो गया है।

वह दूसरा

चम्पा हर डाल पर फूला हुआ था, पर हर डाल कनू के सिर से ऊँची थी। एड़ियाँ उचकाकर भी उस का हाथ किसी भी टहनी के सिरे तक नहीं पहुँच रहा था···

कनू को याद आया, माँ कहा करती है, 'कनू, तू भी उतने ही बरस की है जितने बरस का यह पेड़ है।' और कनू सोचने लगी—'फिर यह मुझ जितना क्यों नहीं है ? मैं तो छोटी हूँ, यह बड़ा कैसे हो गया ?'

घर की बाहरी दीवार पेड़ से नीचे थी। कनू को लगा, अगर वह दीवार पर चढ़ जाये तो वहाँ से टहनी पकड़कर वह फूलों का कोई गुच्छा तोड़ सकती है, और वह दीवार पर चढ़ने के लिए पैरों के नीचे छोटे-छोटे पत्थर इकट्ठे करने लगी···

उस ने गिट्टियों-जैसे पत्थरों का एक ढेर-सा लगा लिया। पर उन पर खड़े होकर भी कनू के हाथ मुश्किल से दीवार तक पहुँचे। दीवार पर उस से चढ़ा नहीं जा रहा था···

श्रीकृष्ण ने घर के बाहरी दरवाज़े से अन्दर आते हुए जिस समय दाहिनी तरफ़ की दीवार से लगी हुई कनू को देखा, तो उस समय कनू दीवार को हाथ से पकड़े उस पर लटकी हुई-सी थी—उस से न ऊपर चढ़ा जा रहा था, न नीचे ही उतर पा रही थी। श्रीकृष्ण ने दौड़कर कनू को दीवार से उतार लिया, फिर बाँहों में उठाकर ऊँचा उठाया तो कनू ने एक डाल से फूलों का एक गुच्छा तोड़ लिया।

गुच्छे की डण्डी को कनू ने एक तसल्ली से मुट्ठी में ले लिया, और श्रीकृष्ण की बाँहों में से उतरते हुए पूछने लगी, 'अंकल ! मामा कहती है यह चम्पा भी मुझ जितना है, फिर मैं कैसे छोटी हूँ ?'

श्रीकृष्ण जानता था कनू खुशी से दूध नहीं पीती, उसकी माँ जब भी उस के लिए गिलास में दूध डालती है, कनू एक आँख-मिचौली-सी खेलना शुरू कर

देती है—कभी दरवाज़े के पीछे छिप जाती है, कभी चारपाई के नीचे। इसलिए श्रीकृष्ण कहने लगा, 'बच्चे आम का पेड़ होते हैं, धीरे-धीरे बड़े होते हैं, पर अगर वे दूध पियें तो बहुत जल्दी बड़े हो जाते हैं।'

'पर आम का पेड़ दूध पीता है ?' कनू ने पूछा तो श्रीकृष्ण ने उस का हाथ पकड़कर उसे कमरे की ओर लाते हुए कहा, 'मैं तुम्हें एक तसवीर दिखाऊँगा, एक आम के पेड़ की। वह जब दूध पीने लगा तो बहुत जल्दी बड़ा हो गया···'

'आज मैं भी दूध पीऊँगी···' कनू श्रीकृष्ण से अपना हाथ छुड़ाकर कमरे की ओर इस तरह दौड़ी मानो आज उसे ज़िन्दगी का एक रहस्य मालूम हो गया हो···

बैठकवाली मेज़ पर वह फूलदान अभी तक पड़ा हुआ था जिस में कनू की माँ रोज़ ताज़े फूल लगाया करती थी, और जिस में उस ने इधर छह महीने से एक भी फूल नहीं लगाया था। कनू जब मेज़ के पास खड़े होकर हाथ का गुच्छा फूलदान में रखने लगी तो उस ने देखा—उस की पूरी हथेली पर सफ़ेद-सफ़ेद पानी-सा लगा हुआ था और गुच्छे की डण्डी में से अभी भी पानी रिस रहा था···

'मामा ! फूल रोता है···' कनू ने हाथ में लिया हुआ फूल का गुच्छा वहीं मेज़ पर रख दिया और अपनी माँ की तरफ देखने लगी जो एक कुर्सी पर बैठी हुई थी।

माँ ने एक बार कनू की ओर देखा, एक बार फूलों के गुच्छे की ओर, फिर एक पीड़ा से आँखें मूँद-सी लीं···

श्रीकृष्ण कनू के पीछे-पीछे आ रहा था। उस के पैरों की आहट-सी सुनायी दी तो कनू की माँ ने भरी हुई आँखे खोलीं। कुरसी से थोड़ी-सी उठी, और दूसरी कुरसी की ओर संकेत करते हुए, श्रीकृष्ण से बैठने को कहते हुए, फिर निढाल-सी अपनी कुरसी में धँस गयी। फिर धीरे से बोली, 'एक तो ईश्वर की मार और दूसरे यह इन बच्चों की बातें···यह फूल तोड़कर ले आयी है तो कह रही है—मामा ! फूल रोता है···'

माँ की आवाज़ भर आयी, पर श्रीकृष्ण ने छह महीने से घर के अन्दर-बाहर फैलते सोग को आज हौसले से थाम लिया। बोला, 'कनू ! मामा को वह बात नहीं बताओगी ?'

''कौन-सी ?' एक बार कनू ने कहा, पर खुद ही याद कर के कहने लगी, 'मामा ! अंकल कहते हैं बच्चे आम के पेड़ होते हैं। अगर वे दूध पियें तो बहुत जल्दी बड़े हो जाते हैं···मैं भी दूध पीऊँगी···'

माँ के होंठ थोड़े-से खिले और उस ने कनू को देखते हुए श्रीकृष्ण की ओर इस तरह देखा मानो उस का एहसान उस ने अपनी आँखों में भर लिया हो।

'मैं तुम्हारे लिए दूध ले आऊँ ?' माँ ने अपने अंगों में कुछ हिम्मत-सी भरते हुए और कुरसी से उठते हुए कनू से पूछा।

'हाँ, और फूलों के लिए पानी भी···' कनू कह रही थी, तभी श्रीकृष्ण ने कहा, 'चलो, कनू, पानी हम खुद ले आते हैं। हम फूलदान भी अभी धो डालेंगे···'

माँ जाते-जाते दहलीज़ में रुक-सी गयी, और उस ने एक बार पीछे दीवार पर लगी हुई कनू के पिता की तसवीर की ओर देखा, अपनी ज़िन्दगी के टूटे हुए पेड़ की ओर, और फिर कनू की ओर देखने लगी, मानो डाल पर से टूटे हुए फूल को देख रही हो···

कनू ने मेज़ पर से फूलों का गुच्छा उठा लिया, और श्रीकृष्ण ने वह फूलदान, जिस के साथ पिछले छह महीनों से फूलों की तक़दीर रूठी हुई थी।··· और जब रसोई की दीवार से लगे हुए बाहर के नलके पर श्रीकृष्ण फूलदान को धोकर उस में फूल लगा रहा था, अन्दर रसोई में कनू के लिए दूध गर्म करते हुए उसकी माँ को लगा—मानो श्रीकृष्ण सचमुच वह मेहरबान पानी है, जिस के आने से डाल से टूटा हुआ फूल भी घड़ी-दो-घड़ी हँस सकता है···

कनू के लिए दूध गर्म करते हुए वह श्रीकृष्ण के लिए चाय तैयार करने लगी, और पानी की तरह उस के भीतर भी उबाल आने लगा—'मौत का दुःख कोई एक दिन बँटा लेता है, कोई दस दिन—पर उन उस दिनों के बाद कौन पूछता है।···यह श्रीकृष्ण कुछ भी नहीं लगता, सिर्फ़ मरनेवाले का दोस्त···यह ही अब तक खोज-खबर लेता रहा है···' और तभी उबलते हुए पानी में से उचटकर पड़ी हुई बूँद के समान ख़याल आया, 'लेकिन कब तक···'

वह दूध का गिलास और चाय के दो प्याले लेकर जब कमरे में आयी, कमरे की हवा में एक हल्की-सी ख़ुशबू थी —मानो बीते हुए दिनों की ख़ुशबू हो, उन दिनों की जब कनू का पिता जीवित था। आज पहला दिन था जब कनू ने जल्दी से दूध का गिलास पी लिया और कहने लगी, 'माँ, माँ! आप मेरे साथ कभी ताश नहीं खेलतीं···पापा खेला करते थे···आज अंकल कह रहे हैं वह मेरे साथ ताश खेलेंगे···'

माँ छह महीने से खाना-पीना भूली हुई थी, पर आज हाथ में लिये हुए चाय के प्याले की पहली घूँट उस ने इस तरह भरी मानो उसे एक गर्म घूँट की सख़्त तलब हो···

कनू सिर्फ़ एक खेल जानती थी—तीन पत्ती, जो वह अपने पापा से खेला करती थी। पर कनू के खेल में कनू का जीतना ज़रूरी होता था, और पापा का हारना। कनू की समझ में ताश का खेल सिर्फ़ उसी को जिताने के लिए बना था। वह जब हाथ में ताश के पत्ते लेकर पापा के पीछे-पीछे दौड़ते हुए पापा से ताश

खेलने के लिए कहा करती थी, तो पापा आगे-आगे दौड़ते हुए कहा करते थे, 'ना भई, मैं नहीं खेलता, मैं हार जाऊँगा···' और अन्त में कनू पापा को ताश खेलने के लिए मना कर ऐसी ख़ुश हो जाती थी मानो उस ने पापा को हार जाने के लिए मना लिया हो···

आज कनू जब श्रीकृष्ण अंकल से ताश खेलने लगी तो पहले दो एक बार अपने पत्ते छोटे और श्रीकृष्ण अंकल के पत्ते बड़े देखकर इतना हैरान हुई मानो आज उस ने कोई अजीब बात देखी हो···और उस का नन्हा-सा मुँह गुस्से के कारण रुआँसा हो गया···पर श्रीकृष्ण ने बात समझ ली, और फिर पत्ते बाँटने लगा—इक्के, बादशाह और बेगमें कनू की तरफ़ बाँटने लगा, और छोटे पत्ते अपनी तरफ़···

कनू का खोया हुआ विश्वास लौट आया और वह एक पल में ही वही पुराने दिनों की कनू हो गयी। पास बैठी हुई माँ ने भी जैसे यह कनू आज छह महीनों के बाद देखी हो···उस के अन्तर में एक अचम्भे का सुख-सा अनुभव हुआ— 'श्रीकृष्ण को तो मालूम नहीं था कि कनू के पापा सदा बड़े पत्ते कनू को दिया करते थे, फिर उस ने यह बात कैसे जान ली···?'

'अंकल हार गये···' कनू हर बार अपने पत्ते दिखाते हुए जब ज़ोर से हँसने लगी तो छह महीनों से उदास खड़ी हुई घर की दीवारें भी कुछ मुसकरा पड़ीं···

अगले दिनों में कनू ने श्रीकृष्ण अंकल के साथ जाकर कभी सरकस देखा, कभी आइसक्रीम खायीं, कभी नया जूता ख़रीदा, और फिर जब माँ उसे स्कूल में दाखिल करवाने के लिए लेकर चली तो कनू ने ज़िद पकड़ ली कि वह श्रीकृष्ण अंकल के साथ स्कूल जायेगी···

और फिर एक दुर्घटना हो गयी—घर से थोड़ी ही दूर पर एक सरकारी बाग था जहाँ पड़ोसियों की लड़की के साथ कनू खेलने गयी। वहाँ बाग के कोने-वाली बुर्जी पर चढ़ते समय वह उस की सीढ़ियों पर से गिर पड़ी और उस की एक टाँग की हड्डी चटख गयी। यह एक छोटा-सा शहर था जहाँ जल्दी से सिर्फ़ हकीम को बुलाया जा सकता था। वह जब अपने अन्दाज़ से हड्डी चढ़ा रहा था तब उस की सहायता के लिए केवल श्रीकृष्ण था, जिस ने चीखें मारती हुई कनू की टाँग को पकड़ रखा था। कनू चीखती रही, 'अंकल, मेरी टाँग छोड़ दीजिए,' पर जब उस के कहने के विपरीत श्रीकृष्ण ने उस की टाँग नहीं छोड़ी, तो कनू ने जितनी भी गालियाँ सुनी हुई थीं, वे सब दे दीं···वह पीडा से और गुस्से के कारण, रोती रही, और गालियाँ देती रही···

पर हड्डी बैठ गयी, पट्टी बँध गयी, और फिर जब कनू सोकर उठी तो उस की टाँग में पीड़ा नहीं थी। यह एक ऐसे दिन की घटना थी जो कनू को न जाने क्या दे गयी। दूसरे दिन श्रीकृष्ण की गोद में बैठकर धीमे स्वर में उस ने पूछा,

'अंकल ! अब आप मेरे पापा हैं न ?'

श्रीकृष्ण ने धीरे से कनू का माथा चूम लिया—उसे लगा, जो बात वह स्वयं नहीं कह पा रहा था, वह कनू ने कह दी थी···और फिर मानो इस बात का जवाब देने के लिए उस ने कनू की माँ से हिम्मत माँगी—एक नज़र भरकर उस की ओर देखा···

माँ कनू के प्रश्न मे शायद बहुत सकुचा गयी थी, जल्दी से कनू से कहने लगी, 'यह अंकल हैं, बेटा···तुम्हारे पापा तो वह थे···' और उस ने कनू को दीवार पर लगी हुई तसवीर की ओर देखने का संकेत किया···

कनू ने उधर भी देखा, और फिर श्रीकृष्ण के कन्धे से लगकर बोली, 'यह भी पापा हैं···'

और श्रीकृष्ण ने बच्ची को कसकर अपने गले से लगा लिया···

फिर पता लगा कि जंग में काम आये हुए अफ़सरों की विधवाओं को सरकार सहायता दे रही है—जमीनें भी, और जमीनों पर मकान बनाने के लिए रुपया भी। कनू की माँ को बड़े शहर जाकर कुछ फ़ार्म भरने थे, इसलिए गयी। पर जब वापस आयी, वह अकेली नहीं थी, उस के साथ कनू के पापा के रैंक का एक अफ़सर था जो सरकारी लिखा-पढ़ी में उस की सहायता करने के लिए उस के साथ आया था···

श्रीकृष्ण उसी प्रकार आता रहा, कनू से खेलता रहा। पर कुछ दिनों बाद एक दिन अचानक उस ने कनू से कहा, 'हम यहाँ नहीं, बाहर बाग में चलकर ताश खेलेंगे'···और बाग में जाकर वह उसी तरह पत्ते बाँटता रहा, कनू जीतती रही और हँसती रही। पर श्रीकृष्ण शायद आज पहले की तरह उस की हँसी में शामिल नहीं था। कनू अचानक ताश छोड़कर पूछने लगी, 'अंकल ! आप हँसते नहीं ? आप हार जाते हैं न, इसलिए ?'

श्रीकृष्ण को लगा, कनू के प्रश्न पर उस की आँखें गीली हो आयी थीं—शायद कुछ भीतर से रिसकर आँखों में आ गया था। उस ने कनू को कसकर अपने गले से लगा लिया—उस के मुँह से निकला, 'कनू बेटा ! लगता है हम दोनों ही हार गये हैं।'

खबर शहर के एक कोने से निकली—कचहरी से—और फिर फल गयी—कि कनू की माँ ने उस अफ़सर से शादी कर ली है···

पर कचहरी ने जिस खबर की सूचना कई दिन बाद दी थी, श्रीकृष्ण के मन ने कई दिन पहले दे दी थी—अब कचहरी ने भी दे दी तो श्रीकृष्ण ने अपना माथा अपनी आँखों के आगे झुका लिया···

केवल, कई दिन बाद, जब वह एक बार, गहरी संध्या पड़े, उस बाज़ार से गुज़र रहा था जो कनू के घर के पास था, तो उस ने कनू को अकेले उस बाज़ार में घूमते हुए देखा। उस से रहा नहीं गया—पास जाकर उस ने कनू को उठा लिया, पूछा, 'तुम इस वक़्त ठण्ड में यहाँ क्या कर रही हो?'

कनू के हाथ में एक रुपये का नोट था, वह उसे दिखाते हुए बोली, 'वह जो पापा है न, उस ने कहा था—तुम यह पैसा ले लो और बाहर जाकर खेलो··· और बाज़ार में जाकर गोलियाँ खरीद लेना···।'

श्रीकृष्ण ने एक दूकान से चाकलेट खरीदकर कनू को दिया। फिर उसे उठाकर उस के घर के दरवाज़े तक छोड़ गया। पर कनू को यह नहीं मालूम है कि श्रीकृष्ण कितनी ही देर बाहर सड़क पर अंधेरे में खड़ा रहा···और कनू से कहता रहा, 'मैं तुम से कहा करता था न, कनू—हम दोनों ही हार गये हैं···'

फिर उस के बाद किसी की आवाज़ किसी तक नहीं पहुँची···

श्रीकृष्ण नहीं जानता कि कनू ने एक दिन बुखार के ज़ोर में एक ही बात की रट लगा दी थी—'पापा कहाँ हैं?' और माँ ने जब इशारा कर के कहा था—'यह है तेरा पापा' तो कनू ने सिर फेर लिया था, और कहा था, 'यह नहीं, वह दूसरा···'

यह कहानी नहीं

पत्थर और चूना बहुत था, लेकिन अगर थोड़ी-सी जगह पर दीवार की तरह उभरकर खड़ा हो जाता, तो घर की दीवारें बन सकता था। पर बना नहीं। वह धरती पर फैल गया, सड़कों की तरह, और वे दोनों तमाम उम्र उन सड़कों पर चलते रहे···

सड़कें, एक-दूसरे के पहलू से भी फटती हैं, एक-दूसरे के शरीर को चीरकर भी गुजरती हैं, एक-दूसरे से हाथ छुड़ाकर गुम भी हो जाती हैं, और एक-दूसरे के गले से लगकर एक-दूसरे में लीन भी हो जाती थीं। वे एक-दूसरे से मिलते रहे, पर सिर्फ़ तब, जब कभी-कभार उन के पैरों के नीचे बिछी हुई सड़कें एक-दूसरे से आकर मिल जाती थीं।

घड़ी-पल के लिए शायद सड़कें भी चौंककर रुक जाती था, आर उन के पैर भी···

और तब शायद दोनों को उस घर का ध्यान आ जाता था जो बना नहीं था···

बन सकता था, फिर क्यों नहीं बना ? वे दोनों हैरान-से होकर पाँवों के नीचे की ज़मीन को ऐसे देखते थे जैसे यह बात उस ज़मीन से पूछ रहे हों···

और फिर वे कितनी ही देर ज़मीन की ओर ऐसे देखने लगते मानो वे अपनी नज़र से ज़मीन में उस घर की नींवें खोद लेंगे।···

और कई बार सचमुच वहाँ जादू का एक घर उभरकर खड़ा हो जाता और वे दोनों ऐसे सहज मन हो जाते मानो बरसों से उस घर में रह रहे हों···

यह उन की भरपूर जवानी के दिनों की बात नहीं, अब की बात है, ठण्डी उम्र की बात, कि अ एक सरकारी मीटिंग के लिए स के शहर गयी। अ को भी वक़्त ने स जितना सरकारी ओहदा दिया है, और बराबर की हैसियत के लोग जब मीटिंग से उठे, सरकारी दफ़्तर ने बाहर के शहरों से आनेवालों के लिए वापसी

टिकट तैयार रखे हुए थे, स ने आगे बढ़कर अ का टिकट ले लिया, और बाहर आकर अ से अपनी गाड़ी में बैठने के लिए कहा।

पूछा—'सामान कहाँ है ?'

'होटल में !'

स ने ड्राइवर से पहले होटल और फिर वापस घर चलने के लिए कहा।

अ ने आपत्ति नहीं की, पर तर्क के तौर पर कहा—'प्लेन में सिर्फ़ दो घण्टे बाकी हैं, होटल होकर मुश्किल से एयरपोर्ट पहुँचूंगी।'

'प्लेन कल भी जायेगा, परसों भी, रोज जायेगा।' स ने सिर्फ़ इतना कहा, फिर रास्ते में कुछ नहीं कहा।

होटल से सूटकेस लेकर गाड़ी में रख लिया, तो एक बार अ ने फिर कहा—'वक़्त थोड़ा है, प्लेन मिस हो जायेगा।'

स ने जवाब में कहा—'घर पर माँ इन्तज़ार कर रही होगी।'

अ सोचती रही कि शायद स ने माँ को इस मीटिंग का दिन बताया हुआ था, पर वह समझ नहीं सकी—क्यों बताया था ?

अ कभी-कभी मन से यह 'क्यों' पूछ लेती थी, पर जवाब का इन्तज़ार नहीं करती थी। वह जानती थी—मन के पास कोई जवाब नहीं था। वह चुप बैठी शीशे में से बाहर शहर की इमारतों को देखती रही···

कुछ देर बाद इमारतों का सिलसिला टूट गया। शहर से दूर बाहर की आबादी आ गयी, और पाम के बड़े-बड़े पेड़ों की क़तारें शुरू हो गयीं···

समुद्र शायद पास ही था, अ के साँस नमकीन-से हो गये। उसे लगा—पाम के पत्तों की तरह उस के हाथों में कम्पन आ गया था,—शायद स का घर भी अब पास था···

पेड़ों-पत्तों में लिपटी हुई-सी एक कॉटेज के पास पहुँचकर गाड़ी खड़ी हो गयी। अ भी उतरी, पर कॉटेज के भीतर जाते हुए एक पल के लिए बाहर केले के पेड़ के पास खड़ी हो गयी। जी किया—अपने काँपते हुए हाथों को यहीं बाहर केले के काँपते हुए पत्तों के बीच में रख दे। वह स के साथ भीतर कॉटेज में जा सकती थी, पर हाथों की वहाँ जरूरत नहीं थी—इन हाथों से न वह अब स को कुछ दे सकती थी, न स से कुछ ले सकती थी···

माँ ने शायद गाड़ी की आवाज़ सुन ली थी, बाहर आ गयी। उन्होंने हमेशा की तरह अ का माथा चूमा और कहा—'आओ, बेटी !'

इस बार अ बहुत दिनों बाद माँ से मिली थी, पर माँ ने उस के सिर पर हाथ फेरते हुए—जैसे सिर पर से बरसों का बोझ उतार दिया हो—और उसे भीतर ले आकर बिठाते हुए उस से पूछा—'क्या पियोगी, बेटी ?'

स भी अब तक भीतर आ गया था, माँ से कहने लगा—'पहले चाय बन-

वाओ, फिर खाना !'

अ ने देखा - ड्राइवर गाड़ी से उस का सूटकेस अन्दर ला रहा था। उस ने स की ओर देखा, कहा—'बहुत थोड़ा वक़्त है, मुश्किल से एयरपोर्ट पहुँचूँगी।'

स ने उस से नहीं, ड्राइवर से कहा—'कल सवेरे जाकर परसों का टिकट ले आना।' और माँ से कहा—'तुम कहती थीं कि मेरे कुछ दोस्तों को खाने पर बुलाना है, कल बुला लो।'

अ ने स की जेब की ओर देखा जिस में उस का वापसी का टिकट पड़ा हुआ था, कहा—'पर यह टिकट बरबाद जायेगा···'

माँ रसोई की तरफ़ जाते हुए खड़ी हो गयी, और अ के कन्धे पर अपना हाथ रखकर कहने लगी—'टिकट का क्या है, बेटी! इतना कह रहा है, रुक जाओ।'

पर क्यों? अ के मन में आया, पर कहा कुछ नहीं। कुर्सी से उठकर कमरे के आगे बरामदे में जाकर खड़ी हो गयी। सामने दूर तक पाम के ऊँचे-ऊँचे पेड़ थे। समुद्र परे था। उस की आवाज़ सुनायी दे रही थी। अ को लगा—सिर्फ़ आज का 'क्यों' नहीं, उस की ज़िन्दगी के कितने ही 'क्यों' उस के मन के समुद्र के तट पर इन पाम के पेड़ों की तरह उगे हुए हैं, और उन के पत्ते अनेक वर्षों से हवा में काँप रहे हैं।

अ ने घर के मेहमान की तरह चाय पी, रात को खाना खाया, और घर का गुसलखाना पूछकर रात को सोने के समय पहननेवाले कपड़े बदले। घर में एक लम्बी बैठक थी, ड्राइंग-डाइनिंग, और दो और कमरे थे—एक स का, एक माँ का। माँ ने ज़िद करके अपना कमरा अ को दे दिया, और स्वयं बैठक में सो गयी।

अ सोनेवाले कमरे में चली गयी, पर कितनी ही देर झिझकी हुई-सी खड़ी रही। सोचती रही—मैं बैठक में एक-दो रातें मुसाफ़िरों की तरह ही रह लेती, ठीक था, यह कमरा माँ का है, माँ को ही रहना चाहिए था···

सोनेवाले कमरे के पलँग में, पर्दों में, और अलमारी में एक घरेलू-सी बू-बास होती है, अ ने इसका एक घूंट-सा भरा। पर फिर अपना साँस रोक लिया मानो अपने ही साँसों से डर रही हो···

बराबर का कमरा स का था। कोई आवाज़ नहीं थी। घड़ी पहले स ने सिर-दर्द की शिकायत की थी, नींद की गोली खायी थी, अब तक शायद सो गया था। पर बराबरवाले कमरों की भी अपनी एक बू-बास होती है, अ ने एक बार उस का भी एक घूंट पीना चाहा, पर साँस रुका रहा।

फिर अ का ध्यान अलमारी के पास नीचे फ़र्श पर पड़े हुए अपने सूटकेस की ओर गया, और उसे हँसी-सी आ गयी—यह देखो मेरा सूटकेस, मुझे सारी रात

मेरी मुसाफ़िरी की याद दिलाता रहेगा···

और वह सूटकेस की ओर देखते हुए, थकी हुई-सी, तकिये पर सिर रखकर लेट गयी···

न जाने कब नींद आ गयी। सोकर जागी तो ख़ासा दिन चढ़ा हुआ था। बैठक में रात को होनेवाली दावत की हलचल थी।

एक बार तो अ आँखें झपककर रह गयी—बैठक में सामने स खड़ा था—चारखाने का नीले रंग का तहमद पहने हुए। अ ने उसे कभी रात के सोने के समय के कपड़ों में नहीं देखा था। हमेशा दिन में ही देखा था—किसी सड़क पर, सड़क के किनारे किसी कैफ़े में, होटल में, या किसी सरकारी मीटिंग में—उस की यह पहचान नयी-सी लगी, आँखों में अटक-सी गयी···

अ ने भी इस समय नाइट सूट पहना हुआ था, पर अ ने बैठक में आने से पहले उस पर ध्यान नहीं दिया था, अब ध्यान आया तो अपना-आप ही अजीब लगने लगा—साधारण से असाधारण-सा होता हुआ···

बैठक में खड़ा हुआ स, अ को आते हुए देखकर कहने लगा—'ये दो सोफ़े हैं, इन्हें लम्बाई के रुख रख लें। बीच में जगह खुली हो जायेगी।'

अ ने सोफ़ों को पकड़वाया, छोटी मेज़ों को उठाकर कुर्सियों के बीच में रखा। फिर माँ ने चौके से आवाज़ दी तो अ ने चाय लाकर मेज़ पर रख दी।

चाय पीकर स ने उस से कहा—'चलो, जिन लोगों को बुलाना है, उन के घर जाकर कह आयें और लौटते हुए कुछ फल लेते आयें।'

दोनों ने पुराने परिचित दोस्तों के घर जाकर दस्तक दी, सन्देशे दिये, रास्ते से चीज़ ख़रीदीं, फिर वापस आकर दोपहर का खाना खाया, और फिर बैठक को फूलों से सजाने में लग गये।

दोनों ने रास्ते में साधारण-सी बातें की थीं—फल कौन-कौन-से लेने हैं? पान लेने हैं या नहीं? ड्रिंक्स के साथ के लिए कबाब कितने ले लें? फलाँ का घर रास्ते में पड़ता है, उसे भी बुला लें?—और यह बातें वे नहीं थीं जो सात बरस बाद मिलनेवाले करते हैं।

अ को सवेरे दोस्तों के घर पर पहली-दूसरी दस्तक देते समय ही सिर्फ़ थोड़ी-सी परेशानी महसूस हुई थी। वे भले ही स के दोस्त थे, पर एक लम्बे समय से अ को जानते थे, दरवाज़ा खोलने पर बाहर उसे स के साथ देखते तो हैरान-से हो कह उठते—'आप!'

पर वे जब अकेले गाड़ी में बैठते, तो स हँस देता—'देखा, कितना हैरान हो गया, उस से बोला भी नहीं जा रहा था।'

और फिर एक-दो बार के बाद दोस्तों की हैरानी भी उन की साधारण बातों में शामिल हो गयी। स की तरह अ भी सहज मन से हँसने लगी।

शाम के समय स ने छाती में दर्द की शिकायत की। माँ ने कटोरी में ब्राण्डी डाल दी, और अ से कहा—'लो, बेटी! यह ब्राण्डी इस की छाती पर मल दो।'

इस समय तक शायद इतना कुछ सहज हो चुका था, अ ने स की कमीज़ के ऊपरवाले बटन खोले, और हाथ से उस की छाती पर ब्राण्डी मलने लगी।

बाहर पाम के पेड़ों के पत्ते और केलों के पत्ते शायद अभी भी काँप रहे थे, पर अ के हाथ में कम्पन नहीं था। एक दोस्त समय से पहले आ गया था, अ ने ब्राण्डी में भीगे हुए हाथों से उस का स्वागत करते हुए उसे नमस्कार भी किया, और फिर कटोरी में हाथ डोबकर बाकी रहती ब्राण्डी को उस की गर्दन पर मल दिया—कन्धों तक।

धीरे-धीरे कमरा मेहमानों से भर गया। अ फ्रिज़ से बरफ़ निकालती रही और सादा पानी भर-भर फ्रिज़ में रखती रही। बीच-बीच में रसोई की तरफ़ जाती, ठण्डे कबाब फिर से गर्म करके ले आती। सिर्फ़ एक बार जब स ने अ के कान के पास होकर कहा—'तीन-चार तो वे लोग भी आ गये हैं, जिन्हें बुलाया नही था। ज़रूर किसी दोस्त ने उन से भी कहा होगा, तुम्हें देखने के लिए आ गये है'—तो पल भर के लिए अ की स्वाभाविकता टूटी, पर फिर जब स ने उस से कुछ गिलास धोने के लिए कहा, तो वह उसी तरह सहज मन हो गयी।

महफ़िल गर्म हुई, रात ठण्डी हुई, और जब लगभग आधी रात के समय सब चले गये, अ को सोनेवाले कमरे में जाकर अपने सूटकेस में से रात के कपड़े निकालकर पहनते हुए लगा—कि सड़कों पर बना हुआ जादू का घर अब कहीं भी नहीं था···

यह जादू का घर उस ने कई बार देखा था—बनते हुए भी, मिटते हुए भी, इसलिए वह हैरान नहीं थी। सिर्फ़ थकी-थकी-सी तकिये पर सिर रखकर सोचने लगी—कब की बात है···शायद पचीस बरस हो गये—नहीं, तीस बरस···जब पहली बार वे ज़िन्दगी की सड़कों पर मिले थे—अ किस सड़क से आयी थी, स कौन-सी सड़क से आया था, दोनों पूछना भी भूल गये थे, और बताना भी। वे निगाह नीची किये, ज़मीन में नीवें खोदते रहे, और फिर यहाँ जादू का एक घर बनकर खड़ा हो गया, और वे सहज मन से सारे दिन उस घर में रहते रहे।

फिर जब दोनों की सड़कों ने उन्हें आवाज़ें दीं, वे अपनी-अपनी सड़क की ओर जाते हुए चौंककर खड़े हो गये। देखा—दोनों सड़कों के बीच एक गहरी खाई थी। स कितनी ही देर उस खाई की ओर देखता रहा, जैसे अ से पूछ रहा हो कि इस खाई को तुम किस तरह पार करोगी? अ ने कहा कुछ नहीं था, पर स की हाथ के ओर देखा था, जैसे कह रही हो—तुम हाथ पकड़कर पार करा

लो, मैं मज़हब की इस खाई को पार कर जाऊँगी।

फिर स का ध्यान ऊपर की ओर गया था, अ के हाथ की ओर। अ की उँगली में हीरे की एक अँगूठी चमक रही थी। स कितनी देर तक देखता रहा, जैसे पूछ रहा हो—तुम्हारी उँगली पर यह जो कानून का धागा लिपटा हुआ है, मैं इस का क्या करूँगा? अ ने अपनी उँगली की ओर देखा था और धीरे से हँस पड़ी थी, जैसे कह रही हो—तुम एक बार कहो, मैं कानून का यह धागा नाखूनों से खोल दूँगी। नाखूनों से नहीं खुलेगा तो दाँतों से खोल दूँगी।

पर स चुप रहा था, और अ भी चुप खड़ी रह गयी थी। पर जसे सड़कें एक ही जगह पर खड़ी हुई भी चलती रहती हैं, वे भी एक जगह पर खड़े हुए चलते रहे···

फिर एक दिन स के शहर से आनेवाली सड़क अ के शहर आ गयी थी, और अ ने स की आवाज़ सुनकर अपने एक बरस के बच्चे को उठाया था और बाहर सड़क पर उस के पास आकर खड़ी हो गयी थी। स ने धीरे से हाथ आगे करके सोये हुए बच्चे को अ से ले लिया था और अपने कन्धे से लगा लिया था। और फिर वे सारे दिन उस शहर की सड़कों पर चलते रहे···

वे उन की भरपूर जवानी के दिन थे—उन के लिए न धूप थी, न ठण्ड। और फिर जब चाय पीने के लिए वे एक कैफ़े में गये तो बैरे ने एक मर्द, एक औरत और एक बच्चे को देखकर एक अलग कोने की कुर्सियाँ पोंछ दी थीं। और कैफ़े के उस अलग कोने में एक जादू का घर बनकर खड़ा हो गया था···

और एक बार···अचानक चलती हुई रेलगाड़ी में मिलाप हो गया था। स भी था, माँ भी, और स का एक दोस्त भी। अ की सीट बहुत दूर थी, पर स के दोस्त ने उस से अपनी सीट बदल ली थी और उस का सूटकेस उठाकर स के सूटकेस के पास रख दिया था। गाड़ी में दिन के समय ठण्ड नहीं थी, पर रात ठण्डी थी। माँ ने दोनों को एक कम्बल दे दिया था, आधा स के लिए, आधा अ के लिए। और चलती हुई गाड़ी में उस साझे के कम्बल के किनारे जादू के घर की दीवारें बन गयी थीं···

जादू की दीवारें बनती थीं, मिटती थीं, और आख़िर उन के बीच खण्डहरों की सी ख़ामोशी का एक ढेर लग जाता था···

स को कोई बन्धन नहीं था। अ को था। पर वह तोड़ सकती थी। फिर यह क्या था कि वे तमाम उम्र सड़कों पर चलते रहे···

अब तो उम्र बीत गयी—अ ने उम्र के तपते दिनों के बारे में भी सोचा और अब के ठण्डे दिनों के बारे में भी। लगा—सब दिन, सब बरस पाम के पत्तों की तरह हवा में खड़े कांप रहे थे।

बहुत दिन हुए, एक बार अ ने बरसों की खामोशी को तोड़कर पूछा था—

'तुम बोलते क्यों नहीं ? कुछ भी नहीं कहते । कुछ तो कहो !'

पर स हँस दिया था, कहने लगा—'यहाँ रोशनी बहुत है, हर जगह रोशनी होती है, मुझसे बोला नहीं जाता ।'

और अ का जी किया था—वह एक बार सूरज को पकड़कर बुझा दे···

सड़कों पर सिर्फ़ दिन चढते हैं । रातें तो घरों में होती है···पर घर कोई था नहीं, इसलिए रात भी कहीं नही थी – उन के पास सिर्फ़ सड़कें थीं, और सूरज था, और स सूरज की रोशनी में बोलता नहीं था ।

एक बार बोला था –

वह चुप-सा बैठा हुआ था जब अ ने पूछा था—'क्या सोच रहे हो ?' तो वह बोला –'सोच रहा हूँ, लड़कियों से फ़्लर्ट करूँ और तुम्हें दुःखी करूँ ।'

पर इस तरह अ दुखी नही, सुखी हो जाती । इसलिए अ भी हँसने लगी थी, स भी ।

और फिर एक लम्बी ख़ामोशी···

कई बार अ के जी में आता था—हाथ आगे बढ़ाकर स को उस की ख़ामोशी मे से बाहर ले आये, वहाँ तक जहाँ तक दिल का दर्द है । पर वह अपने हाथों को सिर्फ़ देखती रहती थी, उस ने हाथों से कभी कुछ कहा नहीं था ।

एक बार स ने कहा था—'चलो, चीन चलें !'

'चीन ?'

'जायेंगे, पर आयेंगे नहीं !'

'पर चीन क्यों ?'

यह 'क्यों' भी शायद पाम के पेड़ के समान था जिस के पत्ते फिर हवा मे काँपने लगे···

इस समय अ ने तकिये पर सिर रखा हुआ था, पर नींद नहीं आ रही थी । स बराबर के कमरे में सोया हुआ था, शायद नींद की गोली खाकर ।

अ को न अपने जागने पर गुस्सा आया, न स की नींद पर । वह सिर्फ़ यह सोच रही थी—कि वे सड़कों पर चलते हुए जब कभी मिल जाते हैं तो वहाँ घड़ी-पहर के लिए एक जादू का घर क्यों बनकर खड़ा हो जाता है ?

अ को हँसी-सी आ गयी—तपती हुई जवानी के समय तो ऐसा होता था, ठीक है, लेकिन अब क्यों होता है ? आज क्यों हुआ ?

यह न जाने क्या था, जो उम्र की पकड़ में नहीं आ रहा था···

बाकी रात न जाने कब बीत गयी— अब दरवाज़े पर धीरे-से खटका करता हुआ ड्राइवर कह रहा था कि एयरपोर्ट जाने का समय हो गया है···

अ ने साड़ी पहनी, सूटकेस उठाया, स भी जागकर अपने कमरे से आ गया, और वे दोनों उस दरवाज़े की ओर बढ़े जो बाहर सड़क की ओर खुलता था···

ड्राइवर ने अ के हाथ से सूटकेस ले लिया था, अ को अपने हाथ और खाली-खाली से लगे। वह दहलीज़ के पास अटक-सी गयी, फिर जल्दी से अन्दर गयी और बैठक में सोयी हुई माँ को खाली हाथों से प्रणाम करके बाहर आ गयी···

फिर एयरपोर्टवाली सड़क शुरू हो गयी, खत्म होने को भी आ गयी, पर स भी चुप था, अ भी···

अचानक स ने कहा—'तुम कुछ कहने जा रही थीं?'

'नहीं।'

और वह फिर चुप हो गया।

फिर अ को लगा—शायद स को भी—कि बहुत कुछ कहने को था, बहुत कुछ सुनने को, पर बहुत देर हो गयी थी, और अब सब शब्द ज़मीन में गड़ गये थे—पाम के पेड़ बन गये थे और मन के समुद्र के पास लगे हुए उन पेड़ों के पत्ते शायद तब तक काँपते रहेंगे जब तक हवा चलती रहेगी···

एयरपोर्ट आ गया और पाँवों के नीचे स के शहर की सड़क टूट गयी···

अब सामने एक नयी सड़क थी—जो हवा में से गुज़रकर अ के शहर की एक सड़क से जा मिलने को थी···

और वहाँ जहाँ दो सड़कें एक-दूसरे के पहलू से निकलती हैं, स ने धीरे से अ को अपने कन्धे से लगा लिया। और फिर वे दोनों काँपते हुए, पाँवों के नीचे की ज़मीन को इस तरह देखने लगे, जैसे उन्हें उस घर का ध्यान आ गया हो जो नहीं बना था···

वह आदमी

बीस बरस तक उसे एक ही सपना आता रहा···

जिस दफ़्तर में वह नौकरी करता था, उस का मालिक खुश था कि वह दफ़्तर के सारे डायल पर घड़ी की सुई की तरह घूमता था। उसे किसी काम को याद दिलाने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। यानी घड़ी को चाबी देने की ज़रूरत नहीं थी। उस का मालिक कभी-कभी सोचता था– घड़ी तो कभी-कभी रुक जाती है, सिर्फ़ वक़्त नहीं रुकता···वह ज़िन्दगी के वक़्त की तरह है···

वह दफ़्तर की चारदीवारी में से निकलता और सीधा घर की चारदीवारी में दाखिल हो जाता। उस की बीवी खुश थी– छोटी से लेकर बड़ी ज़रूरतों तक वह जो चाहती उससे माँग सकती थी। वह कभी मना नहीं करता था। घर में कुछ भी गिरता, टूटता, खोता, वह कभी माथे पर बल नहीं डालता था।

चार-चार दीवारों के दो परकोटे थे—जिनमें दफ़्तर का मालिक दिन की तरह चढ़ता था, और घर की बीवी रात सरीखी पड़ती थी—सिर्फ़ अज्ञात रोग की तरह। उसे एक बात पता थी कि यह सबकुछ एक पराया सपना था···

और पूरे बीस बरसों तक उसे यह पराया सपना आता रहा···

सिर्फ़ जो तेवर उस के माथे पर नहीं पड़े थे, वे उस के अन्तस में पड़ गये थे। वे उस के ही दिल पर पड़ गये थे—और दिल एक तेवर के कसे हुए मांस की तरह हो गया था।

उसे लगता वह पराई नींद सोता था, पराई नींद जागता था।

फिर एक हादसा हुआ। उसकी बीवी को छोटे-से आपरेशन की ज़रूरत थी। अच्छी-भली अस्पताल गयी, पर ज़िन्दा वापस नहीं आयी।

और उस की ज़िन्दगी का एक परकोटा टूट गया—भगवान के हाथों से··· पर दूसरा बाकी था—उसे उस ने दूसरे दिन भगवान की रीस में अपने हाथों से तोड़ दिया!···अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।

और इस तरह एकबारगी चार-चार दीवारों के दोनों परकोटे टूट गये।

उसे बीवी की मौत पर अफ़सोस था — पर इस तरह जैसे एक नरम दिल वाले इनसान को पड़ोसी के घर हुई मौत पर अफ़सोस होता है, या अखबार में किसी दूर पास के व्यक्ति की मौत की खबर पढ़कर होता है। पल-भर के लिए आदमी का मुंह उतर जाता है, मन भी, पर फिर आदमी अपने काम-धन्धे में लग जाता है।

वह भी काम-धन्धे में लग गया।

उस का सब से पहला काम था—कि घर में उस को जो भी चीज़ फालतू लगती, उसे वह आधी-चौथाई कीमत पर बेचकर, जगह खाली कर रहा था।

रेडियोग्राम उस के लिए सब से फालतू चीज़ थी—निरा शोर, उसने सब से पहले उस से छुटकारा पाया। 'कुकिंग रेंज' ने भी यूं ही जगह घेर रखी थी —उसे तो कुछ पकाने के लिए सिर्फ़ आग की एक लपट चाहिए थी, और आग की लपट के लिए दो-एक ईंटें बहुत थीं। फ्रिजे ने यूं ही पसारा किया हुआ था —उसे दो जून की ताजा रोटी में से कुछ भी बचाकर रखने की ज़रूरत नहीं थी। महँगे स्टील के बर्तन बिलकुल फिज़ूल थे—एक हांडी, एक तवा, और एक-आध प्लेट-प्याला, या एक-आध और कोई बर्तन बहुत था। वाशिंग मशीन एक-दम निकम्मी चीज़ थी, वह अपना कमीज़-कुर्त्ता रोज़ अपने हाथ से धो सकता था। महँगी कुर्सियां और मेज़ तो उसे बिलकुल नहीं चाहिए थे—लकड़ी के एक-दो मूढ़े उस के लिए काफी थे।

बिजली, पानी, टेलीफोन, हाउस टैक्स और इन्कम टैक्स के बिल अदा कर दिये थे। अब उस ने फैसला किया कि ये सब आखिरी बिल थे। अब वह इन की अदायगी के लिए किसी कतार में खड़ा नहीं होगा।

उसे सिर्फ़ खाली जगह चाहिए थी—अपने बैठने के लिए, अपने खड़ होने के लिए, अपने सोने के लिए, और अपने जागने के लिए···

चीज़ों ने जगह खाली कर दी, पर यह काफी नहीं था, उसके चारों तरफ़ पक्की ईंटों की दीवारें थीं, और ये उसके अस्तित्व को चुभ रही थीं।

उसे याद आया—जब कभी शुरू-शुरू में वह अपनी बीवी से अपने सपनों की बातें किया करता था, तो उस की बीवी को अपने चारों ओर धूल उड़ती-सी लगती थी। उसे पता था कि उस का सपना शहर की और सभ्यता की पक्की सड़कों पर चलनेवाला नहीं था, वह कच्ची, निर्जन राह मांगता था, और उस की बीवी को कच्ची-निर्जन राह की बात कभी समझ में नहीं आती थी।

वह बीवी की मौत के बाद और नौकरी के इस्तीफे के बाद जब जी भरकर सोया, उसे लगा वह अपनी नींद सोया था—और अपनी जाग जागा था।

सो, जल्दी ही, अगले दिनों में, उस ने पक्की सड़कों से हिसाब-किताब चुका-

कर एक पहाड़ी गाँव की कच्ची राह पकड़ ली। थोड़ी-सी जमीन खरीदी, उस पर घास और मिट्टी की एक झोंपड़ी इस तरह बनायी जैसे आदमी अपने गले में कमीज़-कुर्त्ता पहनता है, या सर्दी और पाले से बचाव के लिए कोई चादर या लोई लपेटता।

यह झोंपड़ी उस के बदन को चुभती नहीं थी—उस के अस्तित्व के लिए दूर, परे तक ज़मीन भी खुली हुई थी—आसमान भी खुला हुआ था···

और दूर जहाँ तक नज़र जाती थी खेतों से परे—नदी से परे—छोटी-बड़ी पहाड़ियों से भी आगे—उसे अपना अस्तित्व दिखता था।

उस के हाथ-पैर थकना चाहते थे पर मन नहीं थकना चाहता था। अब वह जब अपनी छोटी-छोटी क्यारियों को गोड़ता और बीजता—उसे एक रहस्य-सा खुलता लगा :

"जब हाथ-पैर नहीं थकते तब मन थक जाता है—
मैं बीस बरसों का थका हुआ था।
अब मेरे हाथ-पैर थकने लगे हैं—
तो मेरे बीस बरसों की थकावट उतरने लगी है।"

आवाज़ें अब भी दूर और पास उस के गिर्द थीं—पेड़ों के पत्तों की शाँ-शाँ, घास की सरर-सरर, पास की नदी के पानी की कल-कल, उस की एक बकरी की मैं-मैं, उस की तीन मुर्गियों की कुड़-कुड़, और शुरू जाड़ों में दूर पहाड़ी पगडण्डियों पर से उतरते 'गद्दी' गीतों की आवाज़, और शुरू गर्मियों में उन्हीं पगडण्डियों पर से पहाड़ों पर चढ़ते गीतों के स्वर। पर ये आवाज़ें उसे अपने दिल की धकधक की तरह लगतीं। या अपनी बाँह में टकटक करती नब्ज़ की तरह। और इन की जगह जब कभी उसे अपने दफ़्तर के मालिक के, या घर की बीवी के, रोटी के, चाय के, या शराब के समागम याद आ जाते तो वह घबराकर अपने दोनों कानों पर हाथ रख लेता। और अब वह अपनी आँखों से अपना सपना देख रहा था जो नित्य नया था। इस में कहीं से उड़कर आ बैठते पंछी थे, पेड़ों की शाखाओं पर उगते पत्ते थे, मक्की के सिट्टों के उभरते दाने थे, याद के पौधों पर फूटती पत्तियाँ थीं···

सात बरस गुज़र गये। शान्त और निर्विघ्न।

एक दिन दिनढले, वह गुड़ और शहद से रोटी खाकर चूल्हे की आग के पास बैठा, दिये की रोशनी में रोज़ की तरह एक किताब पढ़ रहा था कि झोंपड़ी के दरवाज़े की जगह अड़ाये हुए लकड़ी के तख्ते पर खड़का हुआ।

वह किताब से सिर उठाकर कुछ देर तख्ते को ऐसे ताकता रहा···जैसे वह उस की झोंपड़ी का तख्ता नहीं, किसी और के घर का दरवाज़ा हो। भला उस

के पास कौन आता ?

फिर वह खड़ा हुआ। साथ ही तख्ते की झिरियों में से गुज़रती हुई कुछ आवाज़ भी आयीं, जो उस ने पहचानी नहीं। उस ने उठकर दरवाजे के तख्ते को हाथ से उठाया, परे किया—सामने एक जवान-सा लड़का खड़ा हुआ था, जिस ने झिझकते हुए कहा—"आप के. पी. मदान···कँवर साहब···?"

उस ने बरसों बाद अपना नाम सुना, जिस को उस ने इस कच्ची राह पर आते हुए, परे पक्की सड़क पर ही छोड़ दिया था। पर पूछनेवाले को जवाब देना ही था, इसलिए दिया—"हाँ।"

"मैं अन्दर आ जाऊँ?"

उस ने दरवाजे से परे होकर, आनेवाले के गुज़रने के लिए जगह छोड़ दी। आनेवाले के हाथ में एक पुराना, पर बड़ा-सा सूटकेस था।

आनेवाले ने सूटकेस को अन्दर रखते हुए, उस के बोझ से हल्का होते हुए, चूल्हे की आग की ओर देखा, फिर उस के मुँह की ओर ताकता कहने लगा—"मैं इन्द्र हूँ, आपका छोटा भाई···"

"इन्द्र···?" उसे एक-एक पुरानी सुनी हुई—आधी याद और आधी भूली हुई कहानी के पात्र की तरह यह नाम याद आया—और कुछ पहचान-सी भी···उन दिनों जब उसका बाप जिन्दा था तो अपनी सौतेली माँ के इस बेटे को देखा था। तब यह इन्द्र मुश्किल से स्कूल जाने लायक बड़ा था।

तख्ते को फिर पहली जगह रखते हुए और ऊँचे मूढ़े जितने लकड़ी के ठूंठ को चूल्हे के पास रखते हुए उस ने इन्द्र से बैठने के लिए कहा, फिर कुछ पूछने के लिए उस की तरफ़ देखा। पर बाप जिन्दा नहीं था, जिस के बारे में कुछ पूछ सकता था, और सौतेली माँ ने मुद्दत से उस से नाता तोड़ रखा था, इसलिए पूछने लायक कुछ भी नहीं था···

इन्द्र खुद ही कहने लगा, "मैं ने शहर से, आपके पुराने दफ़्तर से आपका कुछ पता लगाया। फिर गाड़ी से उतरकर रास्ते में पड़नेवाले गाँवों में पूछता रहा···"

उस के जी में आया कि वह कहे—'किसलिए?' पर किसी घर आये को ऐसे कहना उसे ठीक नहीं लगा। इस की जगह उस ने कहा—"कुछ खाओगे? रोटी—चाय···?"

इन्द्र ने जल्दी से कहा—"मुझे तो बड़ी भूख लगी है।"

उस ने एक मिट्टी के घड़े में रखा हुआ आटा मुट्ठियों से निकालकर एक थाली में गूँदा, फिर चूल्हे पर तवा रख दिया। चूल्हे में कुछ नयी लकड़ियाँ डालकर उस ने कुछ रोटियाँ सेंकीं, फिर थाली में गुड़ और शहद रखकर उसे रोटी दे दी। ख़याल आया, सुबह उस ने अपने लिये दो अण्डे उबाले थे, पर खाना भूल गया था, वे अभी आले में पड़े हुए थे। उस ने वे अण्डे भी छीले और

चूल्हे पर चाय का पानी रख दिया।

इन्द्र को शायद बहुत भूख लगी थी—यह सादी रूखी-सूखी रोटी वह जल्दी-जल्दी खा रहा था। इन्द्र को ऐसे रोटी खाते देखकर उसे कुछ अच्छा लगा। पर साथ ही उस का ध्यान उस के सूटकेस की ओर गया—तो उसे ख़याल आया कि यह अब रात को यहीं रहेगा। और उस के लिए अपने बिछौने से ज़रा परे एक बिछौना बिछाते हुए उसे समूची झोंपड़ी अजीब-सी लगने लगी।

गर्म चाय के घूंट भरता हुआ इन्द्र ऊँघ रहा था। फिर वह चुपचाप चाय का खाली प्याला एक ओर रखकर अपने बिछौने पर जाकर सो गया।

वह कुछ देर तक उस के मुँह की तरफ़ ताकता रहा, फिर चूल्हे की लकड़ियाँ पीछे खींचता हुआ खुद भी सोने की कोशिश करने लगा।

सुबह चूल्हे पर दलिया पकाने को रखकर, जब वह बकरी का दूध दुहने लगा, तब वह सोचने लगा—बस, अब चाय-पानी पिलाकर विदा कर दूंगा। वैसे तो शायद वह खुद ही···

. और दूध की लुटिया उठाते हुए उसे ख़याल आया—कह रहा था, शहर में दफ़्तर से तुम्हारा पता पूछा, फिर गाड़ी से उतरकर रास्ते में आनेवाले गाँवों में पूछता रहा—जो ऐसे पूछते-पूछते आया है, पता नहीं किसलिए आया है, कितने समय के लिए आया है···

दूध की लुटिया लाते हुए उस ने देखा, इन्द्र सोकर उठा है, झोंपड़ी के बाहर आया है, दूर पहाड़ की ओट में उगते हुए सूरज को देखकर बहुत खुश होकर हैरान-सा खड़ा हुआ है···उस का गुस्सा कुछ कम हो गया।

"कहीं पानी की आवाज़ आ रही है, पास ही कहीं कोई नदी बहती है?" इन्द्र ने पूछा, और हाथ के इशारे से जवाब मिलने पर कि सामने इन पेड़ों के पीछे ···वह एक हिरन की तरह चौकड़ी भरता हुआ पेड़ों की तरफ़ बढ़ गया।

उस ने दलिया पकाकर, गुड़ और दूध डालकर, हांडी चूल्हे के पास रख दी, और चूल्हे पर चाय का पानी रखकर, चश्मे से पानी का घड़ा भरने के लिए चला गया।

वह पानी का घड़ा लेकर लौट रहा था कि नदी से नहाकर आते हुए इन्द्र ने उसे दूर से ही देखा, और तेज़ कदमों से चलकर रास्ते में ही पानी का घड़ा उठा लिया।

रात शायद इस लड़के को लम्बे सफ़र की थकान थी, शायद भाई 'नाम' के सुने-सुनाये आदमी से इस तरह आकर मिलने की घबराहट थी, या वैसे ही शायद रात अँधेरे में यूँ लगता था—अब उस के आगे दलिये का प्याला और चाय का गिलास रखते हुए उसे लगा—रात को यह कुछ और ही तरह का शहर का बिगड़ैल-सा लग रहा था, पर अब नदी से नहा-धोकर आया है तो

अच्छा-भला···अच्छी सूरत-शक्ल का दिख रहा है···शायद मन का भी बुरा नहीं।···

और चूल्हे के पास बैठकर धीरे-धीरे चाय पीते हुए बीस बरसों से भी ज्यादा बीते समय के कुछ टुकड़े स्मृति-पट पर हिलते-से लगे···बाप हमेशा अपने व्यापार में व्यस्त, हमेशा बढ़ते या गिरते भाव की बातें करता, हमेशा किसी जल्दी में कहीं जा रहा···और माँ हमेशा शीशे के आगे खड़ी कंघी करती, या बाज़ार नये कपड़े खरीदने के लिए जा रही···उसे छुटपन में ही होस्टल मे भेज दिया गया था, और कितनी देर बाद पता लगा कि घर में माँ नाम की जो औरत थी, वह उस की माँ नहीं थी। उस की माँ उस के जन्म के बाद ही मर गयी थी।

स्कूल-कॉलेज की छुट्टियों मे देखे हुए घर की कुछ परछाइयाँ-सी उस की आँखों मे हिली, पर वह आँखें झपकाकर इन्द्र की तरफ़ देखता, उस के नक़्शों में किसी याद को खोज न पाया।

तू यहाँ क्यों आया है ?—कुछ ऐसी ही बात पूछनी थी—पर इन्द्र इस समय नहा-खाकर एक तृप्त बिल्ली की तरह चूल्हे के पास अलसाया-सा बैठा हुआ था। उस से कुछ भी न पूछा गया।

बल्कि चूल्हे की धीमी आँच पर दाल की हडिया रखते हुए उस ने कहा—"चने की दाल खा लोगे ना ?" और साथ ही कहा—"तुम्हारा जी करता हो तो सामने की पहाड़ी पर घूम आना, मैं ज़रा मटर की क्यारी देख आऊँ—कोई दाना पड़ गया हो तो दो-चार तोड़ लाऊँ···"

वह उठकर बाहर की क्यारी की तरफ़ चला, तो देखा—इन्द्र उस के पीछे-पीछे उस के साथ चला आ रहा था। कुछ देर दोनों चुपचाप चलते रहे। एक बार वह पीछे अमरूदों के पेड़ों के पास खड़ा हुआ-सा लगा, पर फिर लम्बे-लम्बे डग भरते हुए वहाँ उस के पास आ गया, जहाँ फलियों को टटोलकर वह पके हुए मटर तोड़ रहा था।

"अपने कितने-एक खेत हैं ?"

उसे दूर परे देखते हुए इन्द्र की आवाज सुनायी दी तो उसने परली पहाड़ियों तक देखते हुए जवाब दिया—"जहाँ तक नज़र जाती है सब कुछ अपना है, यहाँ का झरना भी, नदी भी···यह सारा जंगल भी···"

इन्द्र जंगली फूलों की तरह हँसने लगा। आस-पास कोई बोया या जुता हुआ खेत दिखायी नहीं दे रहा था, कहने लगा—"यह जंगल तो जंगलात के महकमे का होगा।"

मटर की पोटली-सी बाँधते हुए, वह क्यारी के पास से उठ बैठा, और जंगल की तरफ़ देखकर कहने लगा—"उन का क्या है, वर्दियाँ पहनकर बरस में एक

बार आते हैं, पेड़ों पर नम्बर-से लिख जाते हैं और चले जाते हैं। यह सब कुछ मेरा ही रहता है या जंगली जानवरों का…"

और वह खुद भी जंगली फूलों की तरह हँसने लगा।

इधर अनार और अमरूदों के पेड़ों के नीचे उस ने मिट्टी का एक थड़ा-सा अपने बैठने के लिए बनाया हुआ था। उस थड़े के पास आकर वे दोनों खड़े हो गये। एक तरफ़ कुछ ढलान पर मक्की की एक छोटी-सी क्यारी थी, इन्द्र उस की ओर देखकर पूछने लगा—"अपनी है?"

उस ने मिट्टी के थड़े पर बैठते हुए 'हाँ' में सिर हिलाया।

"बस इतनी-एक? हम और भी तो बो सकते हैं…"

उस ने एक बार गौर से इन्द्र के मुँह की ओर ताका, फिर कहने लगा—"किसलिए? फिर फालतू की मंडी में ले जाकर बेचनी पड़ेगी…मक्की भी मैं ने अपने लिये बो रखी है, चाय के दो-चार पौधे भी अपने लिये…साग-सब्ज़ी भी अपने लिये…"

और उसे इन्द्र का अभी कहा हुआ वाक्य अपने कानों में अटकता-सा लगा—'हम और भी तो बो सकते हैं'…और उस ने अपने कानों को मला—जैसे 'हम' शब्द को कान के मैल की तरह बाहर निकाल रहा हो…

इन्द्र ने उस के पास उस के थड़े पर बैठते हुए बड़ी नम्रता से कहा—"मुझे यहाँ अपने पास रख लो…"

वह थड़े पर से उठने को हुआ, पर फिर सँभलता हुआ बैठ गया।

इन्द्र, सिर को कुछ नीचा-सा करके, कहने लगा, "माँ बहुत दिनों से बीमार थीं…उस ने तमाम रुपया मामा के पास रखा हुआ था…"

उसे याद आया—यह उड़ती-सी बात उस ने सुनी थी कि बाप का सारा पैसा माँ अपने भाइयों के पास रखा करती थी कि उस के पीछे उस का सौतेला बेटा कुछ ले न सके।…उसे हँसी-सी आयी, इन्द्र से पूछने लगा—"फिर?"

"मामा ने कुछ नहीं दिया—माँ पिछले महीने मर गयी…" इन्द्र का मुँह उतरा हुआ था, सिर झुका हुआ था, आवाज़ बुझी हुई थी; कह रहा था—"मेरे पास और कोई जगह रहने को नहीं है…"

वह घबराकर थड़े पर से खड़ा हो गया। उस ने ज़ोर से चीखकर कहना चाहा—'नहीं, नहीं…बिलकुल नहीं…' पर उस की आवाज़ उस के गले में ऐसे खो गयी—जैसे पहाड़ी मोड़ पर खो जाती है। वह बेबस-सा इधर अपनी बाँह के पास आकर खड़े हुए इन्द्र की ओर देख रहा था, और इन्द्र कह रहा था—"कँवर भैया! मेरा और कोई नहीं…"

उस ने हाथ से इन्द्र को बाँह से परे करना चाहा, पर हैरान होकर देखा, उसका हाथ इन्द्र के कन्धे के पास जाकर कन्धे पर टिक गया था। जैसे वह हाथ

की हथेली से उस को सहारा भी दे रहा था और आसरा भी।

सामने एक भोला-सा मुंह था, कोमल-सा, और शायद मामा लोगों की दगा से घबड़ाकर सारी सभ्यता से भागा हुआ। उस ने हाथ से उस के कन्धों को सहलाया। कहा—"अच्छा! तू इस मक्की की क्यारी के पास अपनी कुठरिया बना ले।"

लड़का मक्की के दाने की तरह खिलता-सा लगा। उस ने खुद उस के साथ मिलकर गारा बनवाया। नीचे के गाँव से छत के लिए पत्थर की सलेटें ढुलवायीं, और उस के कहने पर—उस का मन रखने के लिए—गांव के बढ़ई से चौखट और दरवाज़ा भी बनवा दिया।

वैसे वह मन में सोच रहा था कि ये शहर के बीज शहर में ही उगते हैं। पढ़ा-लिखा है—मर्द है, खुद ही दो-चार महीनों में ऊबकर शहर चला जायेगा।

उस की खरीदी हुई ज़मीन की हदबन्दी सिर्फ़ कागज़ों में थी, उस ने कोई बाड़-बाँध नहीं लगाया हुआ था। ज़मीन काफ़ी थी, पर उस ने कभी जोती-बोई नहीं थी। इन्द्र ने उस से पूछकर काफ़ी सारी ज़मीन को क्यारियो में बाँट दिया। फिर नीचे के गाँव से कुछ कमेरे बुलाकर उन की जुताई-बिजाई करवा दी।

इन्द्र बीच-बीच में शहर चला जाता था, और उस के जाने के बाद वह हर बार सोचता था कि इस बार शायद उस को कोई नौकरी मिल जायेगी, और वह शहर में ही रह जायेगा। उस का यह सोचना सिर्फ़ उस की तमन्ना थी, जो हर बार पूरी नहीं होती थी। और इन्द्र पाँचवें-सातवें दिन, या दसवें दिन फिर लौट आता था।

अब कभी-कभी इन्द्र को शहर से चिट्ठी भी आती थी, पर पता नहीं किस की, उस ने कभी पूछा नहीं था। पर डाकिये का ऐसे अचानक सिर पर आ खड़े होना उसे अच्छा नहीं लगता था।

एक दिन इसी तरह एक चिट्ठी आयी, उस के सामने इन्द्र ने खोली, पढ़ी, और उस का मुंह मटमैला-सा होता गया।

उस के अनुमान से यह ऐसी चिट्ठी थी—इन्द्र के किसी दोस्त-मित्र की लिखी हुई, जिस में इन्द्र को नौकरी की आस टूटती-सी लगी थी।

इन्द्र की जुती-बोयी हुई क्यारियाँ अब कमर तक उसरा आयी थीं—पर इन्द्र चिट्ठी को हाथ में पकड़कर क्यारियों की तरफ़ ऐसे देख रहा था—जैसे किसी बैल या डंगर ने उन क्यारियों को रौंद दिया हो।

वह पेड़ की एक टहनी में हाथ डालकर, और हाथ की किताब को हाथ में ही बन्द करके, इन्द्र के मुँह की ओर ताक रहा था। इन्द्र ने डरी हुई आँखों से उस की तरफ़ देखा—फिर उस की बाँह के पास खड़े होकर, बाँह को धीमे से थामकर बोला—"कँवर भैया···उस लड़की का खत आया है···" और उस की

आवाज़ बाहर होने की बजाय उस के गले में उतर गयी।

उस ने बाँह को झटके से छुड़ाकर पूछना चाहा कि कौन-सी लड़की···किस लड़की का···पर उस से न बाँह हिलायी गयी न जीभ।

"कहती है—उस का बाप उसे भी जान से मार देगा और मुझे भी···"

"क्यों?" उस के मुँह से मुश्किल से निकला।

इन्द्र की आवाज़ लड़खड़ाई-सी थी—"वह बीमार है···नहीं, बीमार नहीं ···डाक्टर ने बताया है···उसे बच्चा···"

सुनकर उस के माथे पर एक तेवर पड़ गया। तपी हुई-सी आवाज़ में पूछने लगा—"तेरा बच्चा है?"

इन्द्र ने शर्मिन्दा-सा होकर सिर झुका लिया।

उस ने उसी तपी हुई आवाज़ में पूछा—"और वह क्या कहती है?"

"ब्याह···" इन्द्र के मुह से सिर्फ़ इतना-सा कहा गया।

वह पल-भर कच्चे अनारों की टहनी पर आ बैठी चिड़िया को देखता रहा। फिर हँस पड़ा—"जाओ, शहर जाकर, जैसे वह कहती है, उस के साथ ब्याह कर लो।"

इन्द्र का मुँह अनार के फूलों की तरह खिल उठा। उस ने मुँह से कुछ न कहा, पर अपनी सलेटोंवाली छत की ओर ऐसे चल पड़ा जैसे अभी जल्दी से ब्याह का कुछ काम-काज करना हो।

वह खुद जब अपनी झोंपड़ी में आया, न चाहते हुए भी उस ने छत की कड़ियों के बीच रखी हुई एक पोटली को खोला, और उस में से कुछ नोट निकालकर अपनी कमीज़ की जेब में रख लिये।

शहर जाते हुए इन्द्र को उस ने धीरे से वे नोट पकड़ा दिये और कहा—"तुझे ज़रूरत पड़ेगी।" फिर दो-एक फर्लांग उस के साथ स्टेशन की ओर जाती पगडण्डी पर चलता रहा। और फिर अचानक खड़ा होकर पीछे अपनी राह की ओर ताकते हुए कहने लगा—"तुम पढ़े-लिखे हो—शहर में कोई नौकरी ढूंढ़ लेना।"

और वह पीछे तेज़ कदमों से ऐसे लौट पड़ा—जैसे उस का जंगल आज खाली होकर उस का इन्तज़ार कर रहा हो।

वह और उस का एकाकीपन एक-दूसरे को कसकर गले मिले।

जंगल की सारी हवा फिर उस की अपनी हो गयी। अब पेड़ों के पत्ते सिर्फ़ उस की आँखों के लिए झूमते थे। अब नदी का पानी सिर्फ़ उस के लिए बहता था। अब दिन सिर्फ़ उस के लिए चढ़ता था, रात सिर्फ़ उस के लिए होती थी।

पर आठ दिन गुज़रे थे, वही दिन ढलने का वक़्त था, वह चूल्हे की आग के पास बैठकर कोई किताब पढ़ रहा था कि दरवाज़े की जगह अटकाया हुआ

लकड़ी का तख्ता खड़क उठा ।

उस ने सहमकर तख्ते को परे किया। सामने इन्द्र हँसता-सा खड़ा हुआ था।...

वह अभी हैरान-सा उस के मुँह की ओर ताक ही रहा था कि उस के पीछे खड़ी एक लड़की ने आगे होकर, झोंपड़ी की दहलीज़ में आकर उस के पैरों को छुआ, और पैरों की ओर सिर झुकाये ऐसे खड़ी रही जैसे उस से आशीर्वाद माँग रही हो। पल-भर की सुन्न-सी खामोशी के बाद उस ने लड़की के सिर पर प्यार से हाथ फेरा और कहा - "आओ ! आओ ! अन्दर आ जाओ ।"

सुबह की दाल पड़ी हुई थी। उस ने जब चूल्हे पर तवा रखा, लड़की ने आगे होकर चकला-बेलन पकड़ लिये, और चूल्हे के पास बैठकर रोटियाँ पकाने लगी।

लड़की के हाथ में कांच की चूड़ियाँ थीं। वह जब रोटी बेलती, चूड़ियाँ खनकती थीं। इन्द्र भी रोटी खा रहा था, वह भी, पर उसका ध्यान सिर्फ़ चूड़ियों की खनक की ओर था—जो दूर तक पसरी हुई पेड़ों की शाँ-शाँ में बिलकुल अलग लग रही थी। अलग भी, अजनबी भी, और कानों को खटकती-सी भी।

दूसरे दिन सलेटों की छतवाली कुठरिया के पास एक नयी कुठरिया बन रही थी—उन दोनों की रसोई के लिए। और नीचे के गाँव से दो नयी खटियाँ आ रही थीं, नये लिहाफ, गद्दे भी, और कुछ नये बर्तन भी।

गाँव से टूटा हुआ ज़मीन का यह टुकड़ा जैसे गाँव का हिस्सा बन रहा था। गाँव से कमेरे, बढ़ई, राज-मज़दूर रोज़ आते-जाते थे। एक बहँगीवाला नदी से पानी के कनस्तर भरकर लाने लगा था।

और खड्ड के पार दिखती सामने की पहाड़ी तक— जहाँ तक नज़र पक्षियों की तरह उड़कर जाती थी—वहाँ जब एक बड़ा-सा छप्पर डलने लगा, तो वह ऐसे तड़प उठा, जैसे उस के जिस्म से उस के पंख नोचे जा रहे हों...

इन्द्र ने नम्रता से कहा—"आप कहते थे ना कि मैं पढ़ा-लिखा हूँ, कोई काम करूँ। सो मैं ने सोचा—यहाँ बच्चों का स्कूल खोल लूँ। नीचे के किसी गाँव में कोई स्कूल नहीं...बस आठ आने या रुपया महीने की फीस रख लूँगा, इतने पैसे तो हर कोई..."

उस के दोनों कानों में जैसे फुंसियाँ हो गयी हों...

और अगले महीने इन्द्र कह रहा था—"सुना है स्टेशन के पास के गाँव में परसों एक मिनिस्टर आ रहा है, आप बुज़ुर्ग हैं, आप उस से जाकर कहें—कि हमें...हमारी ज़मीन तक सड़क पक्की करवा दें, और साथ ही यहाँ बिजली भी दिलवा दें, स्टेशन तक तो बिजली आयी हुई है..."

उस के कानों में ऐसे टीस होने लगी जैसे कानों की फुंसियों में पीप पड़

गयी हो।

और अगले महीने दो दिन के लिए इन्द्र शहर गया। वापिस आते हुए वह दूर परे से ही सुनायी दे रहा था। उस के हाथ के ट्रांज़िस्टर की आवाज़ अगले पहाड़ से भी टकरा रही थी और उस ने पिछले गाँवों के कितने ही लड़के-लड़कियों को अपने पीछे लगा रखा था। और इन्द्र पास आते हुए हँसते-हँसते कह रहा था—"देखो, कँवर भैया, यहाँ कोई अखबार-वखबार तो आते नहीं, अब हम रोज़ खबरें भी सुन लिया करेंगे, और ड्रामे भी।"

और अगले महीने नीचे के गाँव से आयी हुई दाई उस से कह रही थी—"ईश्वर सलामत रखे, अब तो गिनती के दिन रह गये हैं। बच्चे के लिए गउ-भैंस खरीद लो···घर-आँगन सुख से भर जायेगा।"

और उसे पहाड़ों की ओट से उगते सूरज की तरह पहले जो कुछ धुंधला-धुंधला दीखता था, वह अब प्रत्यक्ष दीखने लगा···कि वह अब फिर, सात वर्ष के बाद, पराया सपना देख रहा है···

तीसरी औरत

अरथियाँ घरों से बाहर जाती हैं, पर जब मीना अपने पीहर आयी, सब को लगा —जैसे एक अरथी घर में आ गयी हो···

सरकारी मुहरें लगा हुआ एक ख़त मीना के कफ़न की तरह था। यद्यपि उस में मीना के मरने की खबर नहीं थी, देश की सीमा पर उस के 'बाँके सिपहिया' के मरने की खबर थी, फिर भी यह ख़त मीना के कफ़न के समान था···

कई बातें औरत सहज ही जानती है। यह भी उन्हीं में से एक सच बात थी कि इस देश में मर्द एक बार मरता है, पर उस की मृत्यु के बाद उस की औरत जितने समय जीवित रहती है, न जाने कितनी बार मरती है···

सो जब मीना अरथी की भाँति पीहर आयी, घर की गूँगी दीवारें भी त्राहि-त्राहि करने लगीं···

जब ईश्वर मनुष्य की जीभ काट देता है, वह कुछ बोल नहीं सकता। मीना के माता-पिता जैसे गूँगे होकर रह गये···

घर खुला था। घर के जीवों के पास शुरू से ही अपनी-अपनी छत थी और अपनी-अपनी दीवारें। छोटे-से-छोटे बच्चे का भी घर में उस के नाम का हिस्सा था, सो मीना जिस समय आयी, सीधी अपने कमरे में इस तरह चली गयी जैसे कभी स्कूल या कॉलेज से आकर जाया करती थी···

पर घर के कमरों के दरवाज़े जो शुरू में साधारण तौर पर खुलते और साधारण तौर पर बन्द होते थे, पिछले बीस बरस से शापित थे। अब वे विवाह या तलाक, जन्म या मृत्यु जैसी घटनाओं के हाथों से खुलते और बन्द होते थे···

बूढ़े माता-पिता—कभी खुश्क आँखों से होनी को देखते थे, कभी गीली आँखों से···

आज से बीस बरस पहले जब मीना की बड़ी बहन का विवाह हुआ था, उस का कमरा विवाह की घटना ने अपने हाथों से बन्द किया था। पर दो बरस बाद जब वह अपने पीहर बच्चे के जन्म के अवसर पर आयी थी, बच्चे के जन्म

ने अपने हाथ से उस कमरे का दरवाजा खोला था। और फिर जब वह चालीसे के अन्दर दुधमुँहे बच्चे को बिलखता छोड़कर मर गयी, तो मृत्यु ने अपने हाथ से कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया। नवजात बालक को पहले उस के ददहसाल वाले ले गये थे, पर जब उस नन्हे बालक की सँभाल कठिन हो गयी तो उन्होंने बालक को ननिहाल भेज दिया और होनी ने, उस बालक के नन्हे-नन्हे हाथों से, वह कमरा फिर खुलवा दिया था...

इसी तरह मीना का भाई आज से बारह बरस पहले जब यूनिवर्सिटी के होटल में रहने के लिए चला गया तो उस का जो कमरा साधारण हाथो ने बन्द किया था, वह पाँच बरस बाद, होनी ने अपने हाथों से खोला। वह यूनिवर्सिटी की एक दूसरे मजहब की लड़की को, उस के माता-पिता की चोरी से, ब्याहकर घर ले आया था। कमरा खुल गया, रेशमी पर्दों में लपेटा गया, और उस में से चावलों की देग की भाँति और मांस की पकती हुई हांड़ी की भांति, जवानी की चुहलों की खुशबू आने लगी। पर फिर मुश्किल से कोई एक बरस बीता था कि अचानक हुए विवाह की भाँति, अचानक हुए तलाक ने, उस कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया।

और अब—आज से तीन बरस पहले, मीना के विवाह ने उस का जो कमरा बन्द किया था, उस के रँडापे ने वह अपने हाथों से खोल दिया···

इस कमरे से मीना डोली की तरह गयी थी, अरथी के समान आयी···

बूढ़े माता-पिता, उन दर्शकों के समान थे, जिन्हें ज़िन्दगी ने यह सब कुछ देखने के लिए, बाँध-बूँधकर बिछा दिया हो···

मीना का भाई अब मर्चेन्ट नेवी में था और दो बरस से देश के बाहर था। और जो बहन मर गयी थी, उस का पुत्र, जो अब अठारह बरस का था, पिछले दो बरस से दूर शहर में कॉलेज में पढ़ रहा था और होस्टल में रहता था। और घर के कमरे क्या खुले हुए, क्या बन्द। मीना को देखकर त्राहि-त्राहि करने लगे···

और बूढ़े पिता की आँखों में, न जाने कुछ और देखने की शक्ति कम हो गयी थी, इसलिए मोतियाबिन्द उतर आया···

सरकारी मुहरें लगा हुआ खत, जो एक दिन मीना के कफ़न की तरह आया था, फिर भी आया, और फिर भी। ऐसे—जैसे मकान पर कुछ फूल आ जाते हों। लिखा हुआ था—सरकार जंगी विधवाओं को मदद देना चाहती है, इसलिये उन्हें घर बनाने के लिए जमीन देगी, और साथ ही कार-रोजगार। कार-रोजगार के सिलसिले में सरकार ने उन की मर्जी पूछी थी— कि वह चाहें तो छोटे उद्योग के लिए रुपया ले सकती थीं, या फौजी स्कूलों में नौकरियाँ ले सकती थीं।

पर सरकारी मुहरें लगे ये ख़त, जो अरथी के फूलों के समान थे, मीना ने हाथों में लिये और मसल दिये। उस के धुर-अन्दर एक हिस्सा इस तरह मर गया था कि अब उसे किसी फूल की ख़ुशबू नहीं आती थी। वह—क्या दिन और क्या रात—खाट पर एक लाश की तरह पड़ी रहती।

मीना का भाई देश से दूर था, चार दिन के लिए भी नहीं आ सकता था, पर बहन का पुत्र अविनाश शहर के होस्टल से घर आ गया। अविनाश ने ज़िन्दगी में माँ नहीं देखी थी, और शुरू जन्म से लेकर अपने साथ कोई खेलनेवाला नहीं देखा था, और उस ने उन सब की जगह सिर्फ़ मीना को देखा था। वह जब दौड़कर मीना के पास आया, मीना उसे गले से लगाकर पहली बार रोका हुआ रोना रोयी।

शायद उसे गले से लगाकर नहीं, उस के गले से लगकर।

आज से तीन बरस पहले अविनाश लड़का-सा हुआ करता था—वह, जिसे मीना ने गोदी में उठा-उठाकर बड़ा किया था, और अब वह मीना से भी पूरे एक चप्पा लम्बा मर्द हो गया था।

माँ जो खाने की थाली परोसती थी, रोज़ बेकार जाती थी। अब जब अविनाश हाथ में लेकर मीना के पास लाया और बोला—'उठ, मीनू ! खाना खाएँ !' तो मीना की भूख पहली बार जागी और उस ने अविनाश के साथ पहली बार जी भरकर खाना खाया।

मीना की भूख के जगनेवाली यह रोटी की गन्ध नहीं थी, यह अविनाश के मुँह से निकली 'मीनू' शब्द की गन्ध थी।

मीना, ज़िन्दगी में, सब के लिए या मीना थी या मीना जी, पर अविनाश के लिए शुरू से ही 'मीनू' थी—और या फिर अपने 'बाँके सिपहिया' के लिए ज़िन्दगी में 'मीनू' बनी थी।

जो मीना को मीना कहकर पुकारते थे वे सदा उसे उस की आयु से छोटा रखते थे, और जो उसे 'मीना जी' कहते थे वे सदा उसे आयु से बड़ा कर देते थे। यह सिर्फ़ अविनाश ही था, चाहे वह उस से दस बरस छोटा था, पर जब उस ने तोतली बोली में उसे मीनू कहा था—तब भी उसे अपना आड़ी बना लिया था और अब कुछ बड़ा हुआ तब उस ने उस से स्कूल के सवाल समझते समय उसे 'मीनू' कहा था, तब भी उस का आड़ी होकर खड़ा हो गया था।

फिर जब मीना का विवाह हुआ—उस ने अपने 'बाँके सिपहिया' से एक ही बात कही थी कि वह उसे 'मीनू' कहकर बुलाया करे, और वह उसे अपने आख़िरी वक़्त तक 'मीनू' कहता रहा।

और उसकी मृत्यु से 'मीनू' ही तो मरी थी। बूढ़े काँपते हाथों से उस का सिर सहलाते हुए माता-पिता की बेटी मीना अभी भी जीवित थी, और परिचितों-

जानकारों और सरकारी सहायता देनेवाले समाज की 'मीना जी' जीवित थी—पर जो आड़ी मीना पुकारनेवाला था उस की मृत्यु से 'मीनू' मर गयी थी···

अविनाश ने जब उसे 'मीनू' कहकर पुकारा, उस ने एक बार चीख़कर उस के होंठों पर अपनी हथेली रख दी, पर फिर हाथ परे हटा लिया—अपने कानों से एक बार फिर यह शब्द सुनने के लिए···शायद मृत्यु के अन्तिम साँस की तरह···

और फिर अविनाश से कुछ नहीं कहा। और शून्य में लटके हुए इस शब्द को देखती रह गयी···

कई बातें औरत सहज ही जानती है—और यह बात भी उन्हीं में से एक थी कि इस शब्द का अब 'मीना' की ज़िन्दगी से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था—और इस शब्द को अब वह दोनों हाथों से कभी नहीं छुयेगी, पर वह फटी फटी आँखों से रोज़ इसे दूर से देखने लगी।

अविनाश उस के सामने खाना लाकर रख देता, वह खा लेती। अविनाश उस के आगे कैरम बिछाकर बैठ जाता, वह खेलने लगती। अविनाश उसे घर की पिछली दीवार से लगे हुए बगीचे में ले जाता, वह पेड़ों की छाया में छाया की तरह घूमती रहती।

एक जादू उजाले का था, एक अँधेरे का, जो धीरे-धीरे मीना के गिर्द लिपट गया। अविनाश, जो पूरे एक चप्पा मीना से लम्बा हो गया था, अँधेरे के जादू में उसे अपने 'बाँके सिपहिया' जैसा लगता, और उजाले के जादू में वही अविनाश ढाई-तीन महीने की आयु का हो जाता जिसे मीना ने छोटी-सी माँ की भाँति अपनी गोदी में खिलाया था।

मर्द मर जाये तो औरत के चाहे सारे अंग जीवित रहते है, उस की कोख ज़रूर मर जाती है—और मीना को अपनी मरी हुई कोख की दुर्गन्ध नाक में चढ़ती मालूम हुई।

और उस के मन में एक हसरत उत्पन्न हुई—अगर उस ने 'बाँके सिपहिया' को अपनी कोख में संभाल लिया होता तो उस का एक टुकड़ा दुनिया में जीता रह जाता ··और खोया हुआ पल मीना के शरीर में चीख़ें मारने लगा···

और फिर एक दिन वह समय था जब अँधेरा और उजाला एक-दूसरे से मिलते हैं। मीना अपने कमरे में खाट पर लेटी हुई अविनाश के चेहरे की ओर एकटक देखने लगी···

इस समय अविनाश के चेहरे में दो चेहरे मिले हुए थे—एक मीना के पति का चेहरा, और एक उस पति से होनेवाले बच्चे का। मीना जानती थी—एक अब इस दुनिया में नहीं है और दूसरा अब इस दुनिया में आयेगा नहीं। पर वह हैरान देखे जा रही थी कि सामने यह दो साये-से क्यों दिखायी दे रहे हैं।

एक चेतन अवस्था भी थी—कि सामने कोई साया नहीं है, एक अब के जवान-जहान अविनाश का चेहरा है, और एक बिलकुल नन्हे-से बालक अविनाश की याद···और जिस से उस का अठारह बरस का एक रिश्ता है···

पर एक अचेतनता की दशा भी थी—कि यह जो सामने दिखायी दे रहा है सिर्फ़ एक मर्द है, और वह स्वयं सिर्फ़ एक औरत, जिस की कोख उस मर्द को और उस के शाश्वत अस्तित्व को चीख कर माँग रही है।

उजाला और अँधेरा जैसे एक-दूसरे में घुल जाते हैं, मीना के मन की दशाएँ भी एक-दूसरे में घुल गयी—और उस की—एक औरत की दोनों बाँहों ने आगे होकर जब एक मर्द की दोनों बाँहों को थाम लिया—मांस को मांस की एक तेज़ महक आयी।

एक औरत के कपड़े और एक मर्द के कपड़े काँपकर खाट से नीचे गिर गये, और खाट के पाँवों के पास सिर झुकाकर गठरी की तरह बैठ गये।

यह एक शान्त—आत्मा को आत्मा के स्पर्श का पल नहीं था, यह एक प्रलय समान घड़ी थी जिस में एक औरत मन के संस्कारों पर पाँव रखकर अलभ्य को खोज रही थी, और एक मर्द बहुत घबराकर अपनी आयु से अधिक बड़ा हो रहा था।

प्रलय की घड़ी बीत गयी—तो मीना एक नयी मौत मर गयी···

सिर्फ़ मीना नहीं, 'मीनू' भी···

सारी रात खाट पर जैसे दो औरतें थीं, और दोनों ने एक-दूसरे को दोष देते हुए, एक-दूसरे को मार दिया था···

और सवेरे के समय जो औरत कमरे से बाहर निकली, वह एक तीसरी औरत थी। और उस ने मसलकर फेंके हुए सरकारी कागज़ों पर जल्दी से दस्तख़त किये, और लिखा कि वह जल्दी से जल्दी किसी दूर के पहाड़ी इलाके के स्कूल में नौकरी करना चाहती है···

और थोड़े-से दिनों के बाद, उस घर का एक कमरा जो एक घटना ने खोला था, एक घटना ने फिर बन्द कर दिया। मीना दूर पहाड़ी इलाके के एक स्कूल में चली गयी—शायद सदा के लिए।

और नदी बहती रही

एक घटना थी—जो नदी के पानी में बहती हुई किसी उस युग के किनारे के पास आकर खड़ी हो गयी, जहाँ एक घने जंगल मे वेदव्यास तप कर रहे थे···

समाधि की लीनता टूटी तो सामने रानी सत्यवती उदास पर दिव्य सुन्दरी के रूप में खड़ी हुई थी।

वृक्ष के पत्तों की तरह झुककर वेदव्यास ने प्रणाम किया, कहा—मेरी शाश्वत सुन्दरी माँ! आज उदासी का यह वेश क्यों?

माँ न ऋषिपुत्र को मोह से भरी छाती से लगाया, कहा—तुम ऋषि कुल से हो, तुम मोह की पीड़ा नहीं जानते। राज का दर्द मैंने राजा शान्तनु से पाया और उस के राज्य की रक्षा के लिए मैंने जिस कोख से तुम्हें जन्म दिया, उसी कोख से राजा शान्तनु के दो पुत्रों को जन्म दिया। पर एक मेरा राजकुमार युद्ध में मारा गया, और दूसरा, दो रानियों को रोती छोड़कर क्षय से मर गया।

वृक्ष के सारे पत्ते जैसे कुम्हला कर वेदव्यास के तापस चेहरे की ओर देखने लगे···

रानी सत्यवती का मन गंगा की निर्मल लहरों की तरह बहने लगा, उस ने कहा—महर्षि पाराशर ने गंगा के पानी की तरह मुझे अंग से लगाया था, तुम उसी पानी का मोती हो, जलथल में क्रीड़ा करते हो, जंगल, वन और बीहड़ तुम्हारे अधीन हैं, तुम ताज में जड़े मोती का दर्द नहीं जानते।

वृक्ष के हरे रंग की तरह वेदव्यास के होंठ मुस्कराये—मैं राज्य का दर्द नहीं जानता, पर माँ का दर्द जानता हूँ।···

सत्यवती वृक्ष से लिपटी हुई बेल की तरह झूम गयी, बोली—ताज के मोती को तख्त का वारिस चाहिए। मेरी दोनों बहुएँ आज विधवा हैं, आज मैं उनके लिए तुम्हारे पास पुत्र-दान माँगने आयी हूँ।

वेदव्यास ने सिर के ऊपर फैले हुए वृक्ष की ओर देखा, और सारा वृक्ष जैसे खिल-सिमट कर धरती की छाती में पड़े हुए अपने बीज की ओर देखने

लगा···

ऋषि के होंठ हँस पड़े, कहा—यह माँ का हुक्म और धरती का हुक्म पूरा होगा···

और वेदव्यास ने वचन पूरा किया—अंबिका और अंबालिका दोनों को एक-एक पुत्र का दान दिया···

नदी का पानी बच्चों की किलकारी की तरह हँसता हुआ जब फिर बहने लगा तो वही घटना युगों से गुजरती हुई कलियुग के एक किनारे के पास खड़ी हो गयी—वहाँ, जहाँ बलदेव का साधारण-सा घर था, जहाँ उसकी मेज़ पर पड़ी हुई किताबों में सिर्फ़ महाभारत के पर्व नहीं थे, कामू भी था, काफ्का भी था, पास्तरनाक भी···

और उस के सामने उस का मित्र काशीनाथ वृक्ष के एक टूटे हुए पत्ते की तरह खड़ा था, बोला—जो दान मुझे ईश्वर न दे सका, न किसी वैद्य की दवा, वह दान मैं तुम से माँगने आया हूँ···एक पुत्र का दान···

सिर के ऊपर कोई वृक्ष नहीं था, पर बलदेव के कानों में वृक्ष के पत्तों की शाँ-शाँ भर गयी···

काशीनाथ कह रहा था—मेरी औरत के निरोग तन को एक मर्द के रोगी तन का शाप लगा हुआ है···मेरे मित्र ! बस यह शाप एक घड़ी के लिए उतार दो···

बलदेव का सारा बदन वृक्ष की जड़ की तरह हो गया···

काशीनाथ एक रुलते हुए पत्ते की तरह उड़कर जैसे उस के पाँवों के पास आ गिरा—यह भेद सिर्फ़ मैं जानूँ, तुम जानो, और वह जानेगी, और कोई नहीं···कोई नहीं···बलदेव के वृक्ष की जड़ की तरह हो गये बदन में से एक संकल्प प्रस्फुटित हुआ—यह शायद इतिहास का हुक्म है, मैं शायद एक वेदव्यास हूँ, एक ऋषि···

और वही युगों की घटना फिर घटी—टूटे हुए पत्तों के घर फूलों का वंश चला···

काशीनाथ के घर पुत्र जन्मा···रिश्तेदारों-सम्बन्धियों के मुँह बधाइयों से भर गये, और जब बलदेव ने पालने में पड़े हुए बच्चे को झुककर देखा···उसके होंठ वेदव्यास के होंठों की तरह बन्द हो गये।

नहीं, नहीं, मैं वेदव्यास नहीं हूँ, बलदेव की अपनी ही चीख जैसी आवाज़ से उस की नींद टूट गयी···

चारपाई के पास तिपाई पर अभी तक रात की बची हुई ह्विस्की पड़ी हुई थी। उस ने काँपते हुए हाथ से गिलास में ह्विस्की डाली, और एक घूँट में पी

गया, बौराया हुआ-सा बोलने लगा—तुम देव-पुत्र थे वेदव्यास, तुम मानव-पुत्र नहीं थे···

बलदेव की कल्पना उसे सदियों से दूर एक जंगल में ले गयी और वह जंगल में विलाप की तरह बोला—ऋषिराज ! तुम्हारे पास समाधि, निरी समाधि, पर मेरे पास सपने हैं, बहुत सारे सपने···

बलदेव के बोल छाती में से उठ-उठकर पेड़ों से टकराते रहे—देखो ऋषि-पुत्र, मेरी ओर देखो। यह देखो मेरी अंबिका—तुम्हें तो अपनी अंबिका की दूसरे दिन पहचान भी नहीं रही थी, पर देखो, यह मेरी परछाई नहीं, मेरी अंबिका है, मैं जहाँ जाता हूँ मेरे साथ जाती है···

और बलदेव ज़ोर से हँसा—देखो ऋषिपुत्र, तुम्हारी कोई परछाईं नहीं है। लोग सच कहते हैं कि देवताओं के परछाइँ नहीं होती। पर इन्सान को तो परछाइँ का शाप होता है···देखो मेरी परछाइँ, मुझ से भी बड़ी···

फिर बलदेव की आवाज़ अति-की-ख़ामोशी से टकराकर बुझ-सी गयी—तुम्हारी समाधि टूट गयी थी, जब सत्यवती ने आवाज़ दी थी, पर मेरी आवाज़ से नहीं टूटती। क्यों नहीं टूटती ? तुम ने अंबिका की गोदी में खेलता हुआ अपना पुत्र कभी अपनी बाँहों में उठाकर नहीं देखा, मैं ने देखा है उसे, बाँहों में उठाकर, गले से लगाकर···और तुम नहीं जानते, फिर उसे अपने गले से हटाना, अपने मांस से मांस के टुकड़े को तोड़ने जसा होता है···

बलदेव का सारा शरीर, शरीर में बहते हुए लहू में भीग गया—तुम ने कभी लहू की गन्ध नहीं देखी, ऋषिपुत्र ! आदम के लहू की एक गन्ध भी होती है—जब वह धुर मन तक जखमी हो जाता है···और लहू की एक सुगन्ध भी होती है जब बच्चे के कोमल नरम होंठ हँसते हैं तब अपने ही शरीर मे से लहू की एक सुगन्ध उठती है···

और एक और तीखी सुगन्ध बलदेव के माथे की नसों में फैल गयी और वह अर्द्ध चेतना में बोला—मेरी अंबिका के शरीर को सुगन्ध चाहे कहीं चली जाय, मैं उसे ढूंढ़ सकता हूँ···उस की काँपती हुई साँसें यहाँ मेरे कन्धे के पास, मेरी बाँहों के पास, मेरी गर्दन के पास पड़ी हुई हैं। एक अमानत की तरह पड़ी हुई हैं—और देखो, मेरे भीतर भी···मैंने उस के होंठों से पूरी एक घूंट पी थी···

बलदेव के माथे की एक नस चीस की तरह कस गयी और वह निचले होंठ को दाँतों में लेकर कह उठा—ऋषिपुत्र ! तुम सिर्फ़ देना जानते थे, तुम्हें कुछ भी लेने की, कुछ भी अंगीकार करने की पहचान न थी, मैं ने वह पहचान पायी है। मैं जब अपनी अंबिका के जिस्म की तहों में उतर गया था, वह तहें मुझे लेकर एक मुट्ठी की तरह बन्द हो गयी थीं—और फिर जब फूल की पंखुड़ियों की तरह खुली थीं, मैं वापस लौटते हुए उनकी गन्ध अपने साथ ले आया था···वह सिर्फ़

कुछ देने का नहीं, कुछ लेने का पल भी था। मैं ने वह पल देखा है ऋषिपुत्र ! तुम ने नहीं देखा। देना दर्द नहीं होता, लेना एक दर्द होता है, तुम वह दर्द नहीं जानते मेरे ऋषिराज !···

इर्द-गिर्द सब शान्त था—इर्द-गिर्द भी, दूर तक भी—जहाँ तक बलदेव को ज़िन्दगी के बाकी रहते बरसों का भविष्य दिखायी दे सकता था वहाँ तक एक अंत-हीन चुप ! एक खामोश अँधेरा ! पर बलदेव अँधेरे में पड़े हुए अँधेरे के एक टुकड़े की तरह गाढ़ा होकर अपने अंगों में सिमट गया। उस के होंठ कुछ इस तरह हिलते रहे जैसे अँधेरे की तहें हिलती हों– वह मेरे पास आग की एक चिनगारी लेने के लिए आयी थी, मुझे उस चिनगारी के लिए जलना था, मैं जला था, पर यह नहीं जानता था– शायद वह भी नहीं जानती थी—चिनगारी को धारण करने के लिए उसे भी आग के शाप से गुज़रना पड़ेगा—आग उसे भी छू गयी थी, तब वह काँप गयी थी···वह सारी की सारी मुझ में सिमट गयी थी जैसे वह अपनी लपट से शरमा गयी हो···और अब मेरी इस राख में वह भी जलबुझकर अपनी राख को मिला गयी है ··देखो ऋषिराज !

चेतना के अँधेरे में एक आकार-सा उभरा—कोई पत्थर की मूर्ति जैसा, शायद समय से सचमुच पत्थर हो चुका, या अभी भी जीवित और तपस्या में लीन बैठा हुआ···बलदेव ने अँधेरे में बाँह फैलायी, नीचे जमीन को टटोलकर उस के पैरों को छूने के लिए, और काँपती हुई बाँह की तरह उसकी आवाज़ काँपी—मैं भूल गया ऋषिराज ! मैंने आदम-पुत्र होकर तुम्हारी रीस की थी···मैं ने एक पल तुम बनकर देखा, सिर्फ़ एक पल···मैं ने जैसे एक पल के लिये तुम्हारा आसन चुरा लिया, पर मैं तुम नहीं हो सकता···तुम अपने जंगल में अभी भी निश्चल बैठे हुए हो···मैं अपने जंगल में भटक रहा हूँ · मुझे सिर्फ़ देने का वरदान नहीं मिला है, लेने का शाप भी मिला है···मैं अपनी अंबिका को अपने पास चाहता हूँ···अपना बच्चा भी···देखो ! मेरी आँखें सिर्फ़ मेरे मुँह पर नहीं, मेरी पीठ पर भी हैं—वह पीछे दूर वहाँ देख रही हैं जहाँ मेरी अंबिका मेरे पास थी, मेरे पहलू से सटी हुई—और मैं उस की कोख में उग रहा था

बलदेव की अर्द्धचेतना फिर नींद का झोंका बन गयी तो कमरे की खामोशी ने एक चैन की साँस ली।

सिर्फ़ खिड़की में से आते हुए हवा के झोंकों से मेज़ पर पड़ी हुई किताबों के कुछ पन्ने इस तरह हिल रहे थे जैसे महाभारत के किसी पर्व का पृष्ठ उठकर कामू के 'आउटसाइडर' से कुछ कह रहा हो, या पास्तरनाक का 'जीवागो' आँखें मलता हुआ महर्षि पाराशर से मत्स्यगन्धा के योजनगन्धा बनने का भेद पूछ रहा हो···

अचानक कमरे की खामोशी चौंककर बलदेव की ओर देखने लगी, वह तड़पकर बिस्तर से उठते हुए कह कहा था—यह कैसा शाप है, वेदव्यास ! जब भी सोता हूँ, आग की तरह जलने लगता हूँ, मैं भी, मेरी अंबिका भी—और जब भी जागता हूँ, राख का एक ढेर बन जाता हूँ···बताओ, मेरा बच्चा बड़ा होकर इस राख में से अपना वंश कैसे ढूँढ़ेगा ?

और नदी उसी तरह बहती रही···सिर्फ़ उसके पानी ने कुछ उदास होकर देखा कि वह घटना राख बनकर परले किनारे पर पड़ी हुई है···



नेपाल की एक गाती हुई रात

सारा नेपाल जैसे एक वृक्ष है, मन्दिर के फूलों से ढका हुआ। सभी मौसम पास से गुज़र जाते हैं, किसी का साहस नहीं कि इन फूलों को छू ले। सदियों मनुष्य के मन की भटकन इन फूलों को प्रणाम करती है। ग़रीबी के आंचल में वैसे ही प्रणाम के बिना कुछ नहीं होता। बढ़ी-चढ़ी अमीरी भी, जो अपनी रात किसी कुंआरे यौवन की ख़ुशबू में गुज़ार लेती, सुबह उठकर सौ तोला सोना इन मन्दिरों की पैड़ी पर रख जाती। आज भी इन कलाकृतियों के माथे पर सोना मढ़ा हुआ है, होंठों में आहें जमी हुई हैं।

एक ओर बागमती नदी है। लोक की हार, परलोक की जीत में विश्वास कर के, हमेशा गुज़र करती रही है। इस नदी का पानी लोगों के विश्वास को अच्छी तरह धोने के लिए सदा बहता रहता है। किसी आदमी की सांस रुकती हुई लगे, तो उस के रिश्ते नाते के लोग उसे इस नदी के किनारे पर ले आते हैं। चाहे उस की सांस कोई ज़िद ही कर बैठे और आठ-आठ, दस-दस दिन उस के मुंह में अटकी रहे, पर वह इस के पानी की ओर देख-देखकर अपना विश्वास मैला नहीं होने देता कि उस का परलोक संवर जायेगा।

पर्वतों के माथे सदियों से ऊंचे हैं। यद्यपि वादी का एक-एक राजा सौ-सौ जवान केरियों के आंसुओं में डूबता रहा और वादी का एक-एक श्रमिक सौ-सौ श्रमों के पसीने में। और फिर इस वादी की मिट्टी में से क्रान्ति उगी। शुक्रराज को जिस वृक्ष के साथ फांसी दी गयी, लोगों ने पहरेदारों की आंख बचा ली, और उस वृक्ष को अगले रोज ही फूल-चन्दन से पूज लिया। गंगालाल, धर्मभक्त और दशरथचन्द को जिस ज़मीन पर खड़ा करके गोलियों से मारा गया, लोगों ने वहां की मिट्टी को माथे पर लगा-लगाकर वहां गढ़े डाल दिये।

"आज हमारे कवि बेशक कैंसर से मर रहे हैं और बेशक तपेदिक़ से, पर यह हिमालय हमारा गवाह है। हमारा कविता के साथ प्रेम नहीं टूट सकता।" एक नेपाली कवि ने कहा और फिर काठमाण्डू की शरद् सन्ध्या में जैसे एक

चिनगारी बल उठी।

पंजाबी कविता ने कहा —

विरह की इस रात में कुछ आलोक आ रहा है !
फिर याद की बत्ती कुछ और ऊँची हो गयी है।

इस बत्ती के गिर्द जाने कितनी बत्तियाँ बल उठीं। विरह की रात किसे नसीब नहीं हुई थी।

एक घटना, एक घाव और एक टीस दिल के पास थी
रात को यह सितारों की रक़म जरबें दे गयी !

और रात ने सारे दिलवालों की टीसों को सितारों से जरब दे दी। सुमन ने टैगोर के शब्दों में कहा —

दौलत भी है, रूप भी, शोहरत भी
फिर यह पीड़ा कैसी ?
लगता है, कोई सदियों की विरहिन
मेरे सीने में बैठी हुई है।

बर्फ़ से ढके हुए पर्वतों की वादी में आग जल गयी। दीवाने इस आग को लोहड़ी (पंजाब का एक त्योहार) बनाकर सेंकने लग गये। कोई लड़की नेपाली कविता की थी, कोई हिन्दी कविता की, कोई बंगाली की और कोई पंजाबी की।

धर्मराज थापा ने किसी नेपाली लोकगीत की एक लकड़ी इस लोहड़ी की आग में डाल दी।

वृक्ष अपनी बेलों से लदा हुआ है,
मैं दुःख की बेलों से ढका हुआ हूँ।
वृक्ष से यह जादू जाने किस बीज ने किया था,
मेरे साथ ये जादू तेरी लाल वेणी ने किया है।

माधवप्रसाद घीमीरे ने लाटों को ऊँचा किया—

जब कोई किन्नरी रोती है, तब पर्वतों के कोने से पहला
बादल उठता है।···
जहाँ मेरी प्रेमिका अकेली बैठकर रोती है,
यह सतरंगी पेंग उसी गुफा से निकली है

गंगा बहती-बहती जाने कहाँ पहुँच गयी,
जिन्दगी भी रोती-रोती जाने कहाँ चली जायेगी,
जैसे बादल आ गये

और पर्वतों की चोटियाँ नीली साँवली हो गयीं
ऐसे ही तेरा विरह मुझ पर छा गया है।

जैसे फूलों की पत्तियों ने
ओस-कण को अपनी बाँहों में समेट लिया है,
ऐसे ही मैं ने अपनी पलकों में तेरा आँसू छिपा लिया है।

उस महफ़िल में कौन था, जिस ने अपनी पलकों में किसी न किसी का आँसू नहीं छिपाया था? किस का दिल था जिस ने किसी न किसी के वृक्ष पर सपनों का घोंसला नहीं बाँधा होगा कि नेपाली लोकगीत के होंठ हिले—

कई सुन्दर वृक्ष होंगे :
चील को जो ऊँचा वृक्ष पहले दिखायी दिया,
उसी पर वह बैठ गयी।
मैं ने तुझे ही सब से पहले देखा,
और मेरे दिल ने नीड़ बना लिया।

यह नीड़ क्यों बनते हैं, जहाँ कोई रह नहीं सकता? इस राह में वे राही क्यों मिलते हैं, जो दो क़दम भी साथ नहीं चल सकते? किसी को मालूम नहीं। सुमन को ग़ालिब की तरह कोई राह-गुज़र याद आया—

ज़िन्दगी तो मिल गयी थी
चाही या अनचाही,
बीच में यह तुम, कहाँ से मिल गये राही!

निराला वहाँ नहीं था, पर उस का स्वर वहाँ था—

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु—पूछेगा सारा गाँव बन्धु!

सिद्धिचरण श्रेष्ठ की एक पंक्ति ने कभी उसे साढ़े पाँच बरस जेल में रखा था : 'क्रान्ति बिना शान्ति नहीं।' आज उस की प्यार-क्रान्ति कह रही थी—

मेरे कितने आँसू और कितनी आहें ख़र्च हो गयीं,
मैं कुछ नहीं कहता।
पर मेरी मृत्यु के पश्चात् तू मेरी कविता पढ़ेगी,
आकाश से पूछेगी, "उस ने मुझे प्यार किया था?"
एक बूंद तेरी आँखों में अटक जायेगी
एक आह तेरे होंठों पर जम जायेगी।

नेपाल का एक लोकगीत तिड़-तिड़ करके बलने लगा···

मेरे हाथों की चूड़ियों ने
मेरे हाथ छील दिये;

मेरे गाँव की बातों ने
मेरा मन खरोंच डाला।···

शंकर लामी छाने की कविता 'भरा-पूरा जाड़ा' जैसे रक्षी (नेपाल की शराब) का प्याला था—

आज पोखर के किनारे की सारी हवाएँ चुपचाप
खड़ी हुई हैं;
उन की उँगलियाँ आज पानी को नहीं छेड़तीं;
सारे सरोवर पर कुहरा जम गया है।

नेपाल में दशहरे के दिन बलि के समय पशु के सिर पर पानी का छिड़काव होता है, जिस से वह काँपता है। उस काँपने को उस की इच्छा समझा जाता है।

तू आज किसी छिड़काव से मत काँप जाना
आज हिमालय की विजयादशमी है
और वह सारी धूप की शराब पीकर
मतवाला हो गया है।

धूप की शराब हिमालय ने पी होगी। सुननेवालों ने इस ख़याल की शराब का घूँट भरा और 'चीसो चूलहो' (ठण्डे चूल्हे) महाकाव्य लिखनेवाले बालकृष्ण सम ने झूमकर कहा—

मैं कभी नहीं मरूँगा
मैं अमर — मैं खोऊँगा नहीं।
अँधेरे आकाश के खुले खेत में
मैं कल्पना की सीमा से भी पार गया
अनन्त समय बीत गया,
काल मर गया, मैं नहीं मरा।
अणु-परमाणुओं का आटा गूँधकर
आकाश के चकले पर
हवा के बेलन से बेल-बेल,
मैं ने बादलों की रोटियाँ पकायीं;
मैं ने ब्रह्माण्ड का अण्डा फोड़ा
असत्य से सत्य बना
किरणों की कूँची से मैं ने आकाश को रँगा···

प्रबोधकुमार सान्याल स्वयं कवि था, अस्सी पुस्तकों का लेखक, अठारह फ़िल्मों का कहानी-लेखक। पर आज उस की ज़बान पर सिर्फ़ टैगोर बैठा था। सुमन के पास सिर्फ़ अपनी हिन्दी कविता की ही आग नहीं थी, उस ने बिहारी,

कालिदास, निराला, नवीन, टैगोर, ग़ालिब, फ़ैज़ और जाने किस-किस की आग सँभालकर रखी हुई थी।

"ये नेपाल के कवि पहले दिन के सूरज की अन्तिम किरण को दूसरे दिन के सूरज की पहली किरण से गांठना जानते हैं।" डॉ. सुमन ने कहा, और सच ही यह वह रात थी जिस के हाथों से मैं ने किरणों की गाँठ पड़ती देखी।

तारों की हुंकार

"शैली बड़ी कि विषय ?" यह एक प्रश्न था। परन्तु दिनकरजी ने एक ही मिनट में इसे हल कर दिया, "अभी वह कारख़ाना नहीं बना, जहाँ ऐसी आरी का निर्माण किया जा सके, जिस के साथ शैली और विषय को चीरकर अलग-अलग किया जा सके।"

शचि रावत राय ने कहा —

मेरा गाँव छोटा-सा था
मेरा दिल पत्थर का टुकड़ा था
मेरे गाँव में चैत्र आया
उस ने मुझे कवि बना दिया
मेरे स्वप्नों ने सात-रंगी झूला डाला
मेरी कल्पना उस झूले पर झूलने लगी

दिनकरजी की कल्पना ने भी इसी झूले पर बैठकर कहा—

चाँद झील में उतर आया
आकाश कितना शान्त प्रतीत होता है
तारों की खेती जल में तैरती है
शायद चाँद द्रांति बन फ़सल काटने आया है।

मनोरमा महापात्र ने विकृत अन्धकार में विश्वास की चिनगारी को सुलगाते हुए कहा—

मेरे हृदय-वन में एक बात भटक रही है
मेरे हाथ वह आती नहीं
वह बात मैं तुम्हें सुनाऊँगी
मैं ने कितने मुँह देखे हैं
तेरा चेहरा नहीं मिला
जिस दिन तू मिल जायेगा

हृदय-आरण्य में भटकती
वह बात भी मुझे मिल जायेगी।

रमाकान्त रथ की आयु छोटी थी, परन्तु भटकन की एक बड़ी घटना उस के हृदय के साथ घट गयी थी।

उदित हो रहा सूर्य मेरे आँसुओं से भीग गया
खेतों की बाड़ से जाते हुए
मैं ने अपनी जूती को कई बार सिलवाया
इन पाँवों से मैं ने बड़ी
ऊँची-नीची धरतियाँ पार की हैं
मेरी क़मीज़ की जेबों में
ओलों के आँसू भरे हुए हैं
आज प्रभात के मुख पर
मेरे ख़ून के छींटे पड़े हुए है

यह रमाकान्त का ही नहीं, हम सब का भाग्य था। कला निर्मित होती है। कलाकार उस की नींवों में अपनाआप डालता है। दिनकरजी ने पहले उन नींवों की पीड़ा का उल्लेख किया और फिर उस के निर्माण का—

नित्य प्रात: एक नयी नाव आती है
सागर वही होता है तीर भी वही
प्रत्येक नया दिन एक नूतन घाव दे जाता है
पीड़ा वही है, आँखों के आँसू भी वही
कवि, रेत पर पड़ रहे मानव के पद-चिह्नों को सँभाल,
भविष्य की भेंट चढ़ा देता है।

बुनियादें बहुत गहरी होती हैं। उन की पीड़ा का उल्लेख इतनी शीघ्रता से समाप्त होनेवाला नहीं था। कुमारी तुलसीदास कह रही थी—

मैं ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया
कुछ भी तो पास नहीं रखा
विश्वास का सर नीचा हो गया
आराधना हार गयी
मेरे प्राण एक विष पी गये

दिनकरजी ने भी इस विष का एक घूंट भरते हुए कहा—

तुम जाती बार
उन शब्दों को भी साथ ले गये
जिन के साथ अर्थों का आलिंगन था
और तुम छन्द पीछे छोड़ गये

वह छन्द उस वायु के समान है
जो हवा से भरे वन में तड़प-तड़पकर चलती है
परन्तु किसी फूल को स्पर्श नहीं कर सकती

यह पीड़ा जिस अनुकम्पा का द्वार पार करके आती है, कनकलता देवी ने उस अनुकम्पा की देहली पर खड़े होकर कहा—

किस का स्पर्श हुआ
सूना हृदय खिल गया
कहाँ से एक चिनगारी आयी
अँधेरी रात का शरीर प्रकाशित हो उठा
कहाँ से आयीं ये पवित्र बूंदें
मेरा भीतर-बाहर सब धुल गया
यह किस के बोल मेरे कानों में पड़े
जीवन के सन्तप्त स्थल शान्त हो गये
कौन है वह मोहन जिस ने बाँसुरी में फूँक मारी
मेरे हृदय के सुप्त स्वर जाग्रत् हो गये
यह किस का इशारा था
जीवन के शब्दों में अर्थ भर गये।
यह कैसा मन्त्र था
मुझे छोड़कर चले गये
यह तेरा जादू
मेरे शरीर से दुखों को झाड़ गया
तू मेरी पारस मणि

यहाँ ऐसा कौन था जिस ने जीवन के शब्दों में अर्थ भरते हुए नही देखे थे ! कौन ऐसा था जिस से उस का 'वह' नहीं बिछुड़ा था, जो जाते हुए उन शब्दों को भी साथ ले जाता है, जिन से अर्थों के प्रगाढ़ालिंगन होते हैं !

मनोरमा की पीड़ा कई गुना थी। कलाकार होने के नाते, एक पीड़ा उसे परम्परा से मिली थी और नारी होने के नाते दुनिया ने उस की पीड़ा को भी 'प्रतिबन्धों' से गुणा कर दिया था। वह कहने लगी—

कितनी ही पीड़ाएँ
मेरे हृदय में सुलग-सुलग उठती हैं,
तुम उन की जबान क्यों बन्द करते हो !
इतने अंधेरों में
मुझे गीतों का प्रकाश ढूंढ़ लेने दो,
लेखनी की डण्डी पर

इन फूलों के बीज सुरक्षित पड़े हैं—
इन सुमनों को लिखने दो।
मेरे हृदय की सारी पीड़ा
सौरभ का रूप धारण कर लेगी,
मेरा नाम साग है
स्वप्नों की लहरें उस में आती हैं,
एक दिन वे शब्दों के मोती
मेरे हाथ में दे जायेंगी,
मेरी कला अभी एक छोटी कली है
यह कली एक दिन फूल बन जायेगी,
तुम इस कली की डण्डी मत मसलो
मेरी अर्चना के दीप को फूंकें न मारो,
मेरी कल्पना के आकाश पर
सूरज अस्त हो जायेगा
मैं फिर कला की मूर्ति नहीं
कला की क़ब्र बन जाऊँगी।

मनोरमा के बोल देखकर मुझे मोहनसिंह के बोल याद आ गये, "एक मर्द, दूसरा बादशाह, तीसरा सम्राट् का बेटा। नूरजहाँ, तू ने फिर उस से वफ़ा की आशा कर ली।" मैं ने मनोरमा से कहा, "तुम एक कलाकार, और फिर नारी, इन पीड़ाओं का अन्त कहाँ होगा ?"

नारी, माँ होती है अथवा प्रेमिका। दो लोकगीत कह रहे थे—

मेरे बच्चे तुम विवाह करने जा रहे हो,
मेरे दूध का मूल्य चुका जाना;
मेरे प्यारे, तुम मुझे छोड़कर जा रहे हो
मेरे प्राणों का मूल्य देते जाना।

तमिल कवि वहाँ कोई नहीं था, परन्तु एक तमिल गीत वहाँ था। उस गीत में जिस माँ का उल्लेख था, वह सारे विश्व की माताओं के हृदय की सामूहिक आवाज़ थी—

ओ शिवजी,
तुम्हारी माँ कोई नहीं
क्या इसीलिए तुम भंग पीने लग गये हो ?
तुम्हारी माँ कोई नहीं

क्या इसीलिए तुम गले में साँपों की माला पहन रहे हो ?
तुम्हारी माँ कोई नहीं
क्या इसीलिए तुम श्मशानों में जा बैठे हो ?
भोले शंकर,
अब तुम्हें माँ कहाँ से मिलेगी !
आओ, तुम मुझे अपनी माँ बना लो ।

पीड़ा और उस को सहन करने की क्षमता के सत्कार से कौन इनकार करेगा ? अपना स्वयं भी इस से इनकार नहीं कर सकता । अनन्त पटनायक कह रहा था—

यह मेरी वन्दना
अपनेआप को
आँसुओं की नदी
ऊपर ममता का पुल
पास ही निर्माण हुआ
मित्रता का सफ़ेद ताज
क्या यह मैं ने नहीं देखा ?
खेतों का जन्म
गेहूँ की मुसकराहट
और बालियों का संगीत
क्या यह मैं ने नहीं सुना ?
मैं दुखों से पिघल रहा हूँ
मेरा मौन मेरी मौत से संघर्ष कर रहा है,
इस मौन को मेरा प्रणाम
यह मेरी वन्दना
अपनेआप को···

दिनकर जी ने अनन्त पटनायक की वन्दना में एक पंक्ति और जोड़ दी—

मैं वह झरोखा हूँ
जिस में से संसार बाहर की ओर देखता है ।

बात भीतर की ही बहुत बड़ी थी, परन्तु बाहर तो कहीं इस का पार ही दिखायी नहीं देता था । शचि रावत राय ने कहा—

मैं शचि रावत राय—
मैं टैगोर नहीं,
मैं शेली नहीं;
मेरे कागज़ों पर आकर्षक चित्र नहीं,

मेरी पुस्तक को खोलना···
इस में नये मानव का स्पर्श है,
इस के होंठों पर गाथा है,
मानवता की गाथा है।

एक भीतर के तूफ़ान थे और आँधी बाहर से आ रही थी। झरोखे खुले थे। शचि रावत राय ने कहा—

एक प्रणाम
इस आ रही आँधी को !
मेरा प्रणाम
यह पर्वत, यह दरिया, यह सागर—
इन सब को प्रणाम !
तुम दिल हलका नहीं करना,
अपने घर का कोई द्वार बन्द न करना,
अपने घर की कोई खिड़की बन्द न करना;
स्वागत इस आनेवाली आँधी का,
प्रणाम इस आ रही आँधी को।

1938 की बात थी, इस उड़ीसा में एक रियासत थी ढेंकानल। एक ओर लोकजागृति थी, दूसरी ओर रियासती दमनचक्र। एक रात रियासती पुलिस को नदी पार करनी थी। किनारे पर एक ही नाव थी, नीलकण्ठापुर का बारह वर्षीय नाविक-पुत्र नाव के पास खड़ा था। पुलिस ने आवाज़ दी, परन्तु नाविक-पुत्र ने हुंकारा न दिया। पुलिस ने पुनः आवाज़ दी। नाविक-पुत्र ने कहा, "मैं हत्यारों के लिए नाव नहीं चलाऊँगा।" पुलिस ने तत्क्षण मासूम नाविक-पुत्र को गोली मार दी। उस का नाम बाजी राउत था। उस की लाश कटक में लायी गयी। शचि रावत राय ने उस का मुख देखा तो उसे प्रतीत हुआ, वह भारत की मिट्टी से उत्पन्न हुआ लाल फूल था। उस दिन शचि रावत राय को ऐसा प्रतीत हुआ था कि नन्हे बाजी राउत की मौत उसे कह रही थी—

मेरे कवि :

अब तू जीवन का दुभाषिया बन जा,
अब तू लोगों के रिसते घावों के गीत लिखना;
लोगों की आँखों से बह रहे अश्रुओं के गीत गाना।

उस दिन शचि रावत राय ने विद्रोह की आँधी को प्रणाम करके बाजी राउत की माँ को कहा था—

माँ ! अपने आँसू पोंछ ले,
आज लोग गीत गा रहे हैं

तेरे रक्त की विजय के गीत
जो कभी तेरा था
आज उस को समस्त विश्व ने अपना लिया है;
देख, तेरा बेटा पुनः जन्म ले रहा है
इस बार विश्व के गर्भ से उस का जन्म हुआ है।

आज रावत राय कह रहे थे—

इस शताब्दी के बड़े द्वार से
एक दूत आया है
उस ने भविष्य का सन्देश दिया है
भविष्य
जहाँ जीवन जीवन के लिए होगा।

आज के कानों में चाहे दुखों की सलाइयाँ चुभी हुई थीं, परन्तु वे कान फिर भी भविष्य का सन्देश लेकर आनेवाले दूत के शब्दों को चूम रहे थे।

कभी नाग ने फण फैलाया था, तो कृष्ण ने उस पर खड़े हो बाँसुरी बजायी थी। दिनकरजी ने आज साँप को जीवन और कृष्ण को मानव कहा। मानव कह रहा था—

ऐ जीवन! जिस ने तुम्हें
विष का उपहार दिया
उसी ने मुझे गीतों की सौग़ात दी।
तुम सोच रही हो, तुम्हारा विष पराजित नहीं होगा;
मैं सोच रहा हूँ, मेरे गीत नहीं हारेंगे।

पंजाबी कविता ने कहा, "यह मुहब्बत की बात, गीतों की कहानी कैसे समाप्त करेंगे, प्रति दिन तारे रात को इस बात का हुंकारा भरते आ जाते हैं।"

बाँसों के सहारे चटाइयों की छत डाली हुई थी। भीतर एक कपड़ा तना हुआ था। चटाइयों में से छनकर जो सूरज का प्रकाश आ रहा था, पहले कपड़ा उसे समेट लेता था और जितना प्रकाश उस के हाथों बचता, वह छोटे-छोटे तारों का रूप धारण कर रहा था।

पाँवों के नीचे उड़ीसा की धरती थी। सिर पर तारों की छत। मुहब्बत अपनी कहानी सुना रही थी—एक मानव की मुहब्बत—सारी मानवता की मुहब्बत, और तारे हुंकारा भर रहे थे।

धरती का सम्बन्ध

"यदि मेरा सम्बन्ध धरती से शेष रह गया होगा, तो यह हवाई जहाज़ अवश्य फिर से नीचे उतरेगा।" दिनकर ने मुझ से कहा। मुझे अनुभव हुआ कि जैसे दिनकर एक ऐसी सरल युवती है जो अपनी सहेलियों की नक़ल करती हुई व्रत रख बैठी है। व्रत के नियम के अनुसार सारा दिन भूखे रहकर रात चाँद निकलने पर ही जल-स्पर्श करना होता है। चाँद निकलने पर ही नहीं आता तो तंग आकर वह युवती शुष्क कण्ठ से जल माँगती हुई कहती है, 'अजी, यह चाँद है कौन जाने इस की लीला! निकले निकले, नहीं निकले तो नहीं निकले।' ठीक यही अवस्था मुझे दिनकर की लगी।

वैसे देखा जाये तो दिनकर ने यह व्रत आज प्रथम बार नहीं रखा था, इस के पूर्व भी कई बार अपनी सखियों का अनुकरण करते हुए वे इस परीक्षा से निकल चुके थे—चीन जाते हुए, पोलैण्ड जाते हुए, फ्रांस जाते हुए। प्रत्येक बार दिनकर को यही अनुभव हुआ, 'यह चाँद का मामला है, यह हवाई जहाज़ की बात है, क्या पता चाँद निकले भी कि नहीं; क्या पता हवाई जहाज़ नीचे उतरे भी कि नहीं!'

'मुझे धरती और नींद से बहुत प्यार है, अमृता! प्रत्येक बार सोते समय मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि यदि भारत परतन्त्र होने लगे तो मुझे जगा लेना, नहीं तो मुझे सो लेने देना।"

कलकत्ता से भुवनेश्वर तक जाते हुए हवाई जहाज़ में हम कुल नौ यात्री थे। परन्तु तीन बड़े टोकरे छोटे-छोटे मुर्गों से भरे हुए थे। यात्रियों से उन की संख्या कई गुना अधिक थी। उन की आवाज़ का शोर इतना था कि कोई बात सुन सकना सम्भव नहीं था। मैं ने यह शिकायत की तो दिनकर ने कहा, "ये हमारे आलोचक हैं, अमृता! कला की कोई बात ये कानों में जाने ही नहीं देते..."

हिन्दी लेखक दिनकर जब यह कह रहे थे, मुझे स्मरण हो आया कि जब हम काठमाण्डू में पशुपतिनाथ के मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे, तो बड़े-बड़े

मोटे बन्दर हमारे पास चलने-फिरने लगे थे। मैं डर गयी थी तो बंगाली लेखक सान्याल ने कहा था, "बस, इन से बचने का एक ही उपाय है, इन से आँख मत मिलाओ; फिर ये कुछ नहीं कहेंगे, अमृता ! ये हमारे समालोचक हैं। हमें इन से आँखें चार नहीं करनी चाहिए, मौन रहते हुए अपने कला के मार्ग पर बढ़ते रहना चाहिए।"

मेरे हाथ में 'लाइफ़' पत्रिका थी। उस में सामरसैट माम कह रहे थे: "समालोचक महाशय ! तुम्हारे मन में जो आये लिखो, मुझे तुम्हारा लेख पढ़ना ही नहीं।"

सामरसैट मामवाली बात पर हम ने भी अमल किया। मुर्ग़ों की कुड़कुड़ की ओर से जब हम ने कान ही बन्द कर लिये तो दिनकर ने कहा, "मैं कवि हूँ, एक कवि हूँ, एक झरोखा हूँ, जिस से संसार बाहर की ओर देखता है।"

इन झरोखों से संसार को देखने के लिए ही तो उड़ीसा के लोगों ने दिनकर को बुलाया था। अब वे भुवनेश्वर के हवाई अड्डे पर हमारा स्वागत करने के लिए खड़े थे।

अपने प्रदेश के अतिथिगृह में बठाकर वे पूछने लगे, "आप क्या खाना पसन्द करेंगे ?"

"एक साँप और एक कछुए के अतिरिक्त आप जो कुछ मुझे खिलायेंगे, मैं खा लूंगा।" दिनकर ने कहा और जब उन्होंने प्लेटों में मछली और मुर्ग़ा परोसा तो दिनकर ने मुसकराकर कहा, "वाह···वाह···यह मछली भगवान् का प्रथम अवतार है, इसे तो मैं अवश्य खाऊँगा। मुर्ग़ा, यह तो भगवान् राम का पक्षा है, इसे भी ज़रूर खाऊँगा।"

साँपवाली बात शायद दिनकर को भूली नहीं थी। कटक के पण्डाल में दिनकर ने कविता पढ़ी—

नागराज के व्यापक फणों पर खड़े हो
राधावर ने अपनी बाँसुरी का तान अलापा
आज अखिल विश्व साँप का विस्तृत फण है,
मैं मानवता की बाँसुरी बजाता हुआ मानवता के गीत
गा रहा हूँ।
जिन्दगी ! जिस ने तुम्हें विष का उपहार दिया है,
मुझे उस ने ही गीतों का वरदान दिया है
तुम सोच रही हो, तेरा विष पराजित नहीं होगा
मै सोच रहा हूँ, मेरे गीत कदापि पराजित नहीं होंगे।

धरती का विष मानव से बार-बार अपना सम्बन्ध-विच्छेद करता था, परन्तु मानव-गीत के रक्त में यह सम्बन्ध इतना ओत-प्रोत था कि यह सम्बन्ध टूटता ही

नहीं था।

मेरे और उड़िया लोगों के बीच भाषा की एक दीवार थी। मैं ने कहा, "आप ने मुझे बुलाया, मैं आ गयी; परन्तु मेरे हृदय की बात आप तक पहुँच जाये, यह कैसे हो?"

वैसे जब हम भाषा की दीवारें पार कर देखते हैं तो दूसरी ओर भी वही हृदय, और वही हमारी चिरपरिचित धड़कन ही हमें सुनायी देती है। पंजाबी का लोकगीत कहता है—

अय बनजारे, मुझे आकाश का लहँगा सिला दो
और उस पर धरती की किनारी लगी हो।

उड़ीसा का लोकगीत जब यह कहता है :

मेरा द्वीप शुद्ध स्वर्ण से निर्मित है
मुझे चन्दन का तेल ला दो रामजी!
प्रकाश से यही अनुनय-विनय है,
प्रभु मेरा मेरे प्यारे से मेल हो!

'यह माँग केवल उड़िया युवती की ही नहीं। हमें समस्त देशों की युवतियाँ 'दिये जलाकर अपने प्यारे से मिलाप की आकांक्षा करती दिखायी देती हैं।

जब नेपाल का कवि कहता है—

मैं ने आकाश के चकले पर वायु के बेलने से बेलकर
बादलों की रोटियाँ पकायी हैं।

हम सब को अनुभव होता है कि नेपाल के कविवर ने ही बादलों की रोटियाँ नहीं पकायीं, प्रत्युत् हम सब ने भी ऐसी रोटियाँ बनायी हैं।

जब तिब्बत का गीत बोल उठता है—

बायें हाथ में अँगूठी दायें हाथ द्रान्ती

हमें अनुभव होता है कि प्रेम और परिश्रम के ये दोनों चिह्न युगों से हम सब निरन्तर अपने हाथों में लिये हुए हैं।

चैकोस्लोवाकिया की आवाज गूँज उठती है—

सूरज मेरा कवि है
उस के कर-कमलों में स्वर्णिम लेखनी है,
धरा उस का कागज़ है
उस पर वह सुन्दर कविता की रचना कर रहा है।
वीर बाँकुरे परिश्रम करते हैं
नवयुवतियाँ रंगीन वेश धारण कर रही हैं
बच्चे नयी उपमाओं की भाँति हैं
और सूरज का गीत बढ़ता जा रहा है।

हमें अनुभव होता है···सूर्य हमारा सभी का कवि है। उस का काग़ज़ हमारी समस्त धरती का काग़ज़ है। उस के गीत में केवल चैक बच्चे ही नवीन तुलनाएं नहीं, हमारे बच्चे भी उस की नयी उपमाएँ हैं।

जब मैं ने कहा, "वैसे तो इतने बड़े हिन्दी लेखक, दिनकर के समक्ष अशुद्ध हिन्दी में बातचीत करना गुस्ताख़ी है···परन्तु इस गुस्ताख़ी के मार्ग से गुज़रकर ही मेरी बातें आप तक पहुँच सकती हैं···," तब दिनकर ने शुद्ध हिन्दी की उपेक्षा और हृदय की भाषा का आदर करते हुए कहा, "नहीं, अमृता! तुम्हारी हिन्दी अशुद्ध नहीं। तुम्हारे पास एक शैली है, शबनम की शैली, उस के लिए कोई भी भाषा हो, ठीक है।"

इतने उदारहृदय कवि को जब मोटर में बैठा, हमारे मेज़बान बाज़ार से चीज़ें ख़रीदने के लिए चले गये, तो लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् दिनकर ने कहा, "इस प्रकार तो हम बैठे-बैठे दलाई लामा बन जायेंगे···आओ बाहर घूमें।"

"कितने बजे कोणार्क चलेंगे?" हमारे मेज़बानों ने पूछा।

"सूर्योदय हम रास्ते में ही देखेंगे।" मैं ने कहा।

"इतनी प्रातः जायेंगे कैसे?" दिनकर ने पूछा।

"मैं जगा दूंगी, मुझे रात को नीद नहीं आती।"

"हे भगवान्, पहले तो मैं प्रार्थना करता था, 'जब मेरा भारत गुलाम होने लगे तो मुझे जगा देना, नहीं तो मुझे सोने देना।'···आज प्रार्थना करता हूँ कि अमृता को प्रगाढ़ निद्रा प्रदान करना।"

दिनकर की नींद में मैं ने तो विघ्न नहीं डाला, परन्तु सूर्य ने ऐसा कर दिया। जब हम कोणार्क से होते हुए जगन्नाथपुरी पहुंचे, तो पुरी के सागर के तीर पर खड़े दिनकर कह रहे थे :

हम देर से आये हैं
सागर हंस रहा है
आकाश का मुख खुला है
और उस में झाग के सफ़ेद दांत दिखायी दे रहे हैं।

भगवान् के प्रथम अवतार मछली और राम-पक्षी मुर्ग़ को बड़े प्रेम से खानेवाले दिनकर के सामने आज उबले हुए मटर परोसे गये थे, क्योंकि पुरी, भगवान् की नगरी में दिनकर ने मांस नहीं खाया था।

दिनकर ने एक लम्बी सांस लेते हुए कहा, "देखो, आज मेरी स्थिति क्या हो गयी है, मुझे यह भी दिन देखना था। आप सब की प्लेटों में मछली और मुर्ग़ा और मेरी प्लेट में उबले हुए मटर···"

"यह इस बात की सज़ा है, दिनकरजी, आप ने भगवान् की धरती केवल पुरी की सीमाओं में ही सिकोड़ ली है, हमारे लिए पुरी की सीमा के बाहर भी भगवान्

की धरती है।" मैं ने कहा।

"भई, क्या करूँ ? यहाँ साखी गोपाल का मन्दिर है, कहीं उस ने मेरा उलटी साक्षी दे दी तो···मेरा संस्कार···"

"रात को भी आप यही खाना खायेंगे—उबले हुए मटर, दाल और चावल···?" मेज़बानों ने पूछा।

"अरे रात को क्यों ? पुरी से आठ बजे गाड़ी चलती है। आप डब्बे में मछली और मुर्ग़ा बन्द कर के दे दो, जैसे ही भगवान् की पीठ दिखायी देगी अर्थात् पुरी की सीमा पार हो जायेगी, मैं सब कुछ खा लूँगा।"

अभी भगवान् के बिलकुल सामने ही बैठे थे। चाय का समय था, मेज़ के ऊपर केक पड़ा था। दिनकर ने कहा, "इस केक में अण्डा पड़ा दिखायी ही नहीं देता। भगवान् को भी दिखायी नहीं देगा, यह मैं खा लेता हूँ।" अन्ततोगत्वा संस्कारों की गाँठों ने एक चूल ढीली कर ही दी।

"ये हैं चिकन सैंडविचेज़, इन में भी तो सब कुछ दोनों ओर से ढका हुआ है। यह भी खा लो।" किसी ने कहा। दिनकर ने बड़े ध्यान से प्लेट की ओर देखा और कहा, "भई ! किनारों से भगवान् को दिखायी दे जायेगा।"

रात आठ बजे गाड़ी चली। जैसे-जैसे पुरी पीछे छूट रही थी, भगवान् पीठ करता चला जा रहा था, हम डब्बे खोल रहे थे। सामने भगवान् का प्रथम अवतार था···राम का पक्षी था···

चाहे दिनकर के एक संस्कार ने चाय के समय अपनी एक गाँठ ढीली कर ली थी, परन्तु दूसरे संस्कार ने ढील नहीं दिखायी···"यदि मेरी धरती के साथ सम्बन्ध शेष हुआ तो।" अब चाहे हम हवाई जहाज़ में नहीं बैठे थे, गाड़ी में बैठे हुए थे, जिस के पग पहले ही धरती को छू रहे थे, परन्तु कलकत्ता ही नहीं आ रहा था। रात व्यतीत हो गयी थी, दिन निकल आया था। लगता, अगला स्टेशन अवश्य कलकत्ता होगा। स्टेशन आता, पर वह कलकत्ता न होता। दिनकर कह रहे थे—"हे भगवान् ! क्या अब इस संसार में कलकत्ता किसी और जगह चला गया है ?"

आँसुओं का रिश्ता

जुलफ़िया के दिल का जाम मुहब्बत से भरा हुआ था और जुलफ़िया के दस्तर-ख़ान पर शीशे का प्याला अनारों के रस से। दोनों प्यालों में से मैं बारी-बारी घूंट भरती उजबेक की किताबों के पृष्ठ उलट रही थी। मेरे और किताबों के बीच भाषा की दीवार थी, परन्तु एक किताब की जिल्द पर बहुत ही सुन्दर लड़की की तसवीर थी, और एक आंसू उस लड़की की आंख में लटक रहा था। मुझे महसूस हुआ, जाने वह आंसू भाषा की दीवार फांदकर मेरी झोली में आ पड़ा था। मैं ने कहा :

"जुलफ़िया ! इन आंसुओं का औरत की आंखों के साथ पता नहीं क्या रिश्ता है ! कोई देश हो, यह रिश्ता चिरसहचर महसूस होता है···"

"जब कभी दो व्यक्ति इस रिश्ते को समझ जाते हैं, इस समझ की बदौलत उन दो व्यक्तियों में भी एक रिश्ता बन जाता है—अटूट रिश्ता। मुझे महसूस होता है कि अमृता और जुलफ़िया जाने एक ही चीज़ के दो नाम हों। इसी तरह, जैसे आंसू और औरत की आंखें एक ही चीज के दो नाम हैं।"

इस किताब में उजबेक औरतों का कलाम था, 19वीं सदी की नादिरा कह रही थी :

मेरे दोस्त,
यदि मेरे पास आने को
तुझे कोई बहाना चाहिए
तो मुझे दोस्ती का तरीक़ा
सिखाने के बहाने आ जा,
तुझे हक़ है
हम इश्क़वालों को मारने का।
जफ़ा का तीर पकड़ ले
और मेरे सीने को बेंध दे।

नादिरा के बाद इसी 19वीं सदी की महिजूना ने अपना क़लम पकड़ा और उस के एक समकालीन फ़ज़ली ने कहा :

मैं ने तेरा मुँह नहीं देखा
तेरी आवाज़ सुनी है,
उस शीशे की क्या क़िस्मत
जिस ने तेरा जमाल नहीं देखा,
काग़ज़ भी एक शीशा है
और मैं ने तुम्हारे दिल का हुस्न देख लिया है।

महिजूना ने उत्तर दिया :

लफ्ज़ों में जमाल नहीं आता
जब तक दिल में आग न जले।

फ़ज़ली ने कुछ घबराकर कहा :

सुख़न की ख़ूबसूरती को
नक़ाबपोशी मुबारक हो,
मुझ से यह इतना जलाल
झेला नहीं जायेगा।

महिजूना ने आदर से उत्तर दिया :

यदि मेरे लफ़्ज़ों में
पूरा आदर न हो
तो मुझे क्षमा कर दे,
पर यदि आकाश में सूरज न चढ़े
इस धरती पर कुछ नहीं उगता।

फ़ज़ली ने एक प्रश्न किया :

इतने सुख़नोंवाली,
तेरा रहबर कौन था ?
किसी सूरज के बिना
कोई चाँद नहीं चमकता।

महिजूना ने एक लम्बी साँस ली और कहने लगी :

जैसे छोटी नदियाँ मिलकर
दरिया बन जाता है,
जहाँ पन्ने सब्ज़ मिलते हैं
मेरे सारे दर्द मिलकर
मेरा दिल बन गया है
यहाँ से मेरे सुख़न निकलते हैं

मैं ने महिजूना के पास खड़ी हुई नादिरा के चेहरे की ओर देखा। नादिरा कहने लगी :

फूल खिल पड़े हैं,
बुलबुल, तू अपनी खामोशी तोड़ दे !
यदि तेरे पास गीत समाप्त हो गये हैं
तो इस नादिरा के कलाम में से
फ़रियाद ले जा।

नादिरा और महिजूना के पास उवैसी भी खड़ी हुई थी। मैं ने प्यार से उस के चेहरे की ओर देखा। उवैसी ने एक शेर पढ़ा :

सजदे में यदि तेरा माथा नहीं झुकता,
ज़ाहिद ! तो काफ़िर हो जा
मैं जफ़ा से घबराकर
किसी और तरफ़ नहीं देख सकती।

20वीं सदी ने 19वीं सदी के शरीर पर पड़ी हुई समय की धूल को झाड़ दिया, परन्तु फिर भी हैरान होकर देखा, आंसुओं का और औरत की आंखों का रिश्ता बड़ा घनिष्ठ था। जुलफ़िया ने इस रिश्ते पर नज़्म पढ़ी—

ऐ सुन्दर युवती,
बहार के फूलों से सुन्दर तेरी आंखें
पर इन फूलों से
इन्तज़ार की ख़ुशबू आती है।
तुझे इश्क़ और हिज्र की समझ आयी
तेरे दिल की धरती ज़रखेज़ हो गयी।

तेरी आंखें राहों पर जमी हैं
तुम किसी के बचनों से बंधी खड़ी हो
अति कोमल तेरे पैर
पर इस धरती के कड़े इक़रार
तेरे पैरों में बेड़ी छनकती
तेरे होंठों का रंग
उस दिल के रक्त जैसा
जिस की नाड़ियों में मुहब्बत बहती
एक मासूम आग जलती
तेरी आंखों में एक सेंक

उस दर्द का
जा तू ने दिल में गहरा छिपा लिया।

जुलफ़िया ने एक गहरी साँस ली और आगे कहा :

एक भी धुएँ की रेखा
तेरे भीतर नहीं !
तू ने शिकवे का धुआँ घुखने नहीं दिया
वह निष्ठुर निकदरा
अच्छा मैं उस का नाम नहीं पूछती
तेरी ज़बान छालों से भर जायेगी।

तू एक ख़ाली आकाश था
उस के मेल ने इन्द्रधनुष डाल दिया
और फिर सातों रंग खुर गये
आकाश और साँवला हो गया।

और जुलफ़िया ने मुझ से पूछा, "अमृता ! तू ने भी कभी उस आसमान का गीत लिखा है, जिस पर सतरंगा झूला पड़ा हुआ हो ?"

—हाँ, अनेक गीत :

तेरा ख़त हमें आज मिला है
जाने सातों आसमानों पर घटा छा गयी
दोनों मेरी आँखें झूम गयीं
माथे में भाग्य का मोर नाच उठा।

"और फिर उस आसमान का गीत जिस पर से सातों रंग खुर गये हों ?"

—हाँ, बहुत गीत :

क्यों किसी की नींद को स्वप्नों ने बुलावा दिया
तारे खड़े रह गये अम्बर ने द्वार बन्द कर लिया
यह किस तरह की रात थी, आज जब भाग गुज़री
चाँद का एक फूल था
पैरों के नीचे रौंदा गया

"और फिर वह गीत जिन में शिकवे का धुआँ हो ?"

—हाँ, वह गीत भी :

रात जाने पीतल की कटोरी थी
सफ़ेद चाँद की क़लई उतर गयी,
आज कल्पना कसर गयी है

स्वप्न जैसे कैंसर जाये
नींद जैसे कड़वी हो गयी है।

"और अब?"

—अब एक चुप है :

मन की इस घड़ौंची पर
सोचोंवाली गागर ख़ाली है,
चुप मेरी प्यासी बैठी हुई
होंठों पर जिह्वा फेरती
दो शब्द का पानी कहीं नहीं मिलता।

समरकन्द के एक कवि आरिफ़ लाला के दो फूल लाये और हम दोनों को एक-एक फूल दे दिया। दोनों फूलों का एक जैसा लाल रंग था और दोनों की एक जैसी खुशबू थी। मैं ने और जुलफ़िया ने आपस में फूलों का विनिमय कर लिया जैसे दो सहेलियां अपनी चुनरी का विनिमय करती हैं। और मैं ने कहा, "दो फूल, पर एक खुशबू।"

"दो देश, दो भाषाएँ, दो दिल पर एक दोस्ती।" और जुलफ़िया ने मेरी बाँहों में अपनी बाँहें डाल दीं।

"लाला फूलों का रंग हमारे दिलों के रक्त का रंग है।" मैं ने कहा।

"पर इन फूलों में दर्द का दाग़ कोई नहीं। हमारे दिलों में दर्द के दाग़ हैं।" जुलफ़िया ने जवाब दिया।

मुझे नादिरा का शेर याद आ गया है, उस ने बुलबुल को कहा था, "यदि तेरे गले में गीत समाप्त हो गये है तो इस नादिरा के कलाम में से फ़रियाद ले जा।..." मैं लाला के इस फूल को कहती हूँ : यदि इसे अपने दिल के लिए दर्द के दाग़ नहीं मिलते तो मुझ से अथवा जुलफ़िया से कुछ दाग़ उधारे ले जाये...

जुलफ़िया को कुछ याद हो आया, वह कहने लगी, 'लाला के वे फूल भी होते हैं जिन की छाती में काले दाग़ होते हैं—चल, खेतों में वे फूल तोड़ें..."

खेतों की ओर जाती कच्ची सड़क के किनारे-किनारे शीशम के वृक्ष थे, जुलफ़िया ने उन वृक्षों की ओर देखा और कहने लगी, "यह ताल का वृक्ष शायद सफल मुहब्बत का वृक्ष है, पर इसी ज़ात का एक वृक्ष होता है मजनूताल। यहीं नहीं, वह केवल पानी के किनारे उगता है, पहले उस के पत्ते आसमान की ओर जाते हैं और फिर उस की शाखाएं झुककर धरती की ओर लटक जाती हैं; जैसे पानी में अपने महबूब के चेहरे को तलाश कर रही हों...हम जब असफल मुहब्बत की किसी वृक्ष के साथ तुलना करते हैं, तो उस मजनूताल के वृक्ष के साथ।"

आसपास गेहूँ के खेत थे। अभी पौधे छोटे-छोटे थे, किनारे-किनारे कई

स्थानों पर लाला-फूल उगे हुए थे।

'इन फूलों के सीने में काले दाग़ होते हैं, चल ये दाग़दार फूल तोड़ें।"

मैं और जुलफ़िया फूल तोड़ रही थीं कि एक बड़ा बांका उज़बेक मर्द लाला का बड़ा-सा फल तोड़ लाया और मुझे कहने लगा, "इस फूल के सीने में हिज्र के काले दाग़ नहीं, ये रोशनी के दाग़ हैं।"

लाला-फूल के सीने में उभरे हुए दाग़ सचमुच सिल्की रंग के थे। मैं ने उस का धन्यवाद किया परन्तु कहा :

"दाग़ चाहे सियाह हों अथवा सिल्की—दाग़ दाग़ ही होते है। ये दाग़ शायद इसलिए रोशन हैं कि इन में याद की बत्ती जग रही है···"

जुलफ़िया मुसकरायी और कहने लगी, "क्या यह याद हमारी अपनी ही करामात नहीं ? नहीं तो यह मर्द···"

"हाँ, हमारी अपनी करामात···"

"क्या तुम और मैं इस तरह नहीं, जैसे आवाज़ें दो हों परन्तु बात एक ?"

"हाँ, और इस तरह जैसे मिसरे दो हों, परन्तु गीत एक···" मैं ने कहा और मुझे महसूस हुआ, मैं ने औरतों के मुंह की ओर देखा और दर्द भरे गीत लिखे :

सामाजिक अन्याय की चक्की में पिसती औरतें, राजनीतिक अन्याय के तीरों से बिंधी हुई औरतें···और ये मेरे सारे गीत दर्द भरे थे। पर जुलफ़िया मेरे जीवन की पहली औरत है, जिस के मुंह की ओर देख मैं मुहब्बत का गीत लिख सकती हूँ।

उस समय तो नहीं परन्तु दूसरे दिन जब समरकन्द विश्वविद्यालय में मैं जुलफ़िया की उज़बेक कविता को पंजाबी में पढ़ रही थी और जुलफ़िया मेरी पंजाबी कविता को उज़बेक में पढ़ रही थी, मैं ने दो देशों की, दो भाषाओं की और दो औरत-दिलों की दोस्ती के बारे में मुहब्बत की पहली कविता लिखी,

चिर बिछुड़ी क़लम जिस तरह
ज़ोर से क़ागज़ के गले लगी,
इश्क़ का भेद खुल गया—
एक पंक्ति पंजाबी में
एक पंक्ति उज़बेक में
तब भी क़ाफ़िया मिल गया।

नाचते पानियों के किनारे एक शाम

साँझ की रोशनी में भीगा हुआ तेरा बदन
आज मैं ने फिर देखा और आँख में कुछ सँभाला···
यह तेरा मरमरी बदन, यह मौसम की मख़मली पोशाक
छाती की तरह धड़कता, गीत की तरह गुटकता
कुछ खिड़कियाँ बन्द हैं और कुछ खुली हुईं
अभी पलकें झपककर कुछ बोली कुछ गुनगुनायी
मेहनत फल आयी, कन्दीलों की तरह जल रहीं
आशिक़-दिलों की दोस्ती का असूल बता रहीं,
सामने आकाश पर तेज़ हवाएँ चलीं
चाँद बावरा हो गया और उस की ज़ुल्फ़ें बिखर गयीं
मैं जीवित हूँ, जागती हूँ, नग़मों में बसती
अफ़सानों में बोलती, धरा का द्वार खटखटाती
इस जहाज़ ने आकाश के पैरों में झाँझरें डाल दीं
तेरे हुस्न ने क़िस्मत के माथे पर झूमर लगा दिया !

स्तालिनाबाद से ताशकन्द आते कभी ज़ुलफ़िया ने आधे आसमान में यह कविता लिखी थी, उस दिन जहाज़ की उड़ान ने आकाश के पाँवों में झाँझरें डाल दी थीं, आज ताशकन्द से स्तालिनाबाद जाते हुए आधे आसमान पर मैं ने ज़ुलफ़िया की इस कविता का अनुवाद किया और मुझे महसूस हुआ कि जैसे आज भी जहाज़ की उड़ान ने आकाश के पाँवों में झाँझरें डाल दी हों ।

मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा, फ़ातेह नियाज़ी, बाक़ी रहीम, अब्दुस्सलाम देहाती, ग़ुफ़ार मिर्ज़ा तथा और कितने ही ताजिकी लेखक हवाई अड्डे पर खड़े हुए थे। सब को अपनी सलाम देते हुए मैं ने मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा को कहा : यह सलाम तो मेरा था, पर मैं एक और सलाम की क़ासद भी हूँ और यह सलाम ज़ुलफ़िया का है, फ़ैज़ के लफ़्ज़ों में—

शायर सलाम लिखता है, तेरे हुश्न के नाम !

"एक सलाम जुलफ़िया का, दूसरे फ़ैज़ के लफ़्ज़ों में, और तीसरा ऐसे क़ासद के हाथों—मेरा हाल क्या होगा ?" मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा खुलकर हँसे।

नगर से लगभग बीस मील दूर पहाड़ के दामन में कानदरा है। नदी के किनारे-किनारे रास्ता जाता है। जब कभी नगर से ऊब जाते हैं, मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा अपने एक और दोस्त मिर्स ईद मिश्ताकार को साथ लेकर इस दर्रे में चले जाते हैं। सारा दिन अपने हाथ से पकाते, खाते और लिखते हैं। आज वे इस जगह हम सब को ले गये थे।

यह एक हज़ार एकड़ से भी विस्तृत एक स्थान है जहाँ मैदानी और पहाड़ी वृक्षों को मिलाकर पहाड़ पर नये वृक्ष उगाने का प्रयोग किया जा रहा है। पहाड़ तथा जंगल की छाती में एक बूढ़ा कश्मीरी और नीली आँखोंवाली उस की रूसी प्रेमिका—ये दोनों भी रहते हैं। गत बीस वर्षों से इस तरह दोनों आशिक़ों ने अपने निवास के लिए यह स्थान चुना हुआ है। इस समय दोनों की उमर साठ-साठ वर्ष से ऊपर है। मर्द का चेहरा बड़ा हँसमुख और औरत की आँखें बड़ी चमकीली है। दोनों यास के नीले फूल तोड़ लाये और शीशे की सुराही में नदी का ठण्डा पानी भर लाये।

"लिखारी घर हम राह में छोड़ आये हैं, अब हम वहाँ जायेंगे।" मिर्ज़ा ने कहा, "ये लिखारी घर जिस नदी के किनारे पर बने हुए हैं, उस नदी का नाम है वरज़आब (नाचते हुए पानी)।

शीशे के बरामदोंवाले ये सात घर हैं और आठवाँ घर सम्मिलित रूप से संगीतमय शामें गुजारने के लिए बाक़ियों से बड़ा और अलग से बना हुआ है। इस घर के बरामदे मे बहुत बड़ी मेज़ सजी हुई थी। बाहर टीन की छत के नीचे बड़े-बड़े तीन चूल्हे बने हुए थे, जहाँ कुछ लेखक हाँड़ियाँ चढ़ा रहे और पुलाव पका रहे थे।

अमन के, दोस्ती के और क़लमों की अमीरी के नाम पर जाम भरते हुए मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा ने कहा, "आज नग़मों के पाँव लगाकर तुम ने जो पर्वत चीर लिये हैं, कभी मैं ने भी इन पर्वतों को कहा था कि तुम राह में कितने भी तन-कर खड़े रहो, मेरा सलाम तुम्हारे ऊपर से गुज़र जायेगा।"

आज के युवक और बड़े मक़बूल शायर गुफ़ार मिर्ज़ा ने पास से कहा, "दिल की मुट्ठी में लाखों दोस्तियाँ समा सकती हैं, परन्तु इतने बड़े आकाश में एक भी दुश्मन की उड़ान नहीं समा सकती।"

कुछ थोड़ी दूर पहाड़ की कटाई हो रही थी। कभी-कभी बारूद की आवाज़ से धमाका उठता था। मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा ने कहा, "पहाड़ का दिल कितना भी पत्थर क्यों न हो, लावे को अपनी छाती में नहीं सँभाल सकता; आशिक़ का

दिल कितना भी दर्द से छलनी हुआ हो हिज्र की आग को सँभाल लेता है।"

"और कभी जो कुछ नहीं सँभाला जाता, वह कविता बन जाता है।" मैं ने कहा, सब ने इस का समर्थन किया और मैं ने फिर मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा से कहा, "कभी जो कुछ आप से न सँभाला गया हो, और वह किसी कविता में प्रवाहित हो गया हो, यह देखने का हमें अधिकार है।"

"तेरी इस तीखा फ़रमाइश की हम क़द्र करते हैं और अपनी फ़रमाइश भी साथ मिलाते हैं—" पहले नियाज़ी और फिर सब ने इस सवाल को ऊँचा कर दिया।

"अमृता ने सवाल बड़ा गहरा डाला, परन्तु मुझे जवाब देना ही पड़ेगा।" मिर्ज़ा ने कहा और कविता पढ़ी—

उज़बेक सुन्दरी ! ज़रा देख,
यह केवल मेरी भटकना नहीं
शौक़ तेरा इलहाम लाता है,
तेरे देश को सिजदा करता है—
काश मैं एक रोदकी होता
तेरे हुस्न का नग़मा लिखता
तेरी पाकदिली का गान करता,
रूह में भीगा हुआ हर एक मिसरा
आज तेरे हुस्न के बराबर तुलता।

मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा की कविता में हम सब अभी खोये हुए थे कि ग़ुफ़ार मिर्ज़ा ने कहा, "मैं ने अपनी नयी कविता में बहार को कहा है कि तू कभी मान जाती है और कभी रूठ जाती है, पर हम अब धरती पर अपने हाथों से वह बहार ले आये हैं जो कि हम से रूठकर कभी नहीं जाती।"

बाकी रहीम ने बहार की बात को आगे चलाया और जवाब दिया, "इसी बहार को क़ायम रखने के लिए मैं ने बूढ़ी उमर में भी नया इश्क़ किया है और नयी नज़्म लिखी है, चाँदवाली रात है।"

मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा बहुत हँसे और कहने लगे, "बाकी रहीम के इतने मोटे शरीर से यह अन्दाज़ा मत लगाना कि इस के पास नज़ाकत नहीं है, इस के शेरों में नाज़ुक से नाज़ुक ख़याल होता है···"

'मैं अब क्या करूँ—मैं तो शायर नहीं। मेरे नावलों ने मेरे लिए बड़ा नाम कमाया है, पर आज मेरा दिल कर रहा है कि काश मैं शायर होता···" नियाज़ी ने कहा।

"नियाज़ी अपने लोगों का बहुत बड़ा उपन्यासकार है," मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा ने एक मीठी चुटकी ली और कहने लगे, "एक बार किसी को मिट्टी में से सुगन्ध

आयी और वह मिट्टी से पूछने लगा : सुगन्ध तो फूलों से आती है पर तुझ में सुगन्ध कैसी ? मिट्टी ने जवाब दिया : मैं गुलाब की झाड़ी के नीचे पड़ी हुई थी··· अतः, नियाज़ी, आज तुम में से भी शायरी की सुगन्ध आ रही है, क्योंकि तुम शायरों के कन्धों से जुड़े बैठे हो—"

फिर सब ने मिलकर एक ऊंचा स्वर निकाला और एक ताजिक लोकगीत ने इन कन्धों को और जोड़ दिया :

फूलों के इस आंगन में
एक तू, एक मैं और एक शराब का प्याला···
आज सारा जमाना खिला हुआ
बन्द कली की एक पोशाक
पर पत्तियों के बदन अलग-अलग हैं
तेरे और मेरे मन पर मुहब्बत की एक ही पोशाक।

ताजिक शायरों की आवाज़ में पता नहीं क्या ज़ोर था, आकाश के बादल हिल गये और बूंदें पड़ने लगीं।

"हम आज इस मिट्टी में दोस्ती का बीज डालते हैं। बूंदें पानी देने आ गयी हैं।" मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा ने कहा।

"अमृता एक शेर ?" नियाज़ी ने फ़रमाइश की।

"मैं जानती हूँ कि यह एक नामुराद इश्क़ के बीज हैं, पर बीज आख़िर बीज है, यह फल भी सकते हैं।" मैं ने जवाब दिया। सभी के स्वर में फिर एक ताजिक लोकगीत भर गया :

मैं राख दिखायी देता हूँ
पर इस राख में आग दबी है,
मैं किसी को दुखाता नहीं···
मेरा एक ही दोष है,
मैं ने तुम्हें प्यार किया
और अब इस आग को
राख में छिपाये फिरता हूँ।

बादल गरजे और वर्षा तीखी हो गयी। ताजिकी शायरों में एक उज़बेक युवक भी था, कहने लगा, "हिज्र की घड़ी नज़दीक आ गयी, आकाश ज़ोर-ज़ोर से रोने लग पड़ा है।"

बिजली चमकी और मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा ने कहा, "एक सौदागर घोड़े पर नमक लादकर ले जा रहा था। मेंह बरसा और नमक गल गया। बादल गरजे और घोड़ा डरकर भाग गया, फिर बिजली चमकी तो सौदागर कहने लगा, 'हे आसमान की बला, पहले तू ने मेरा नमक ले लिया, फिर घोड़ा। और अब हाथ

में दिया लेकर मेरी तलाश में आयी है ?' आज का मेंह···बादल और अब ऊपर से बिजली···"

सारे मेज़ पर हँसी की वर्षा होने लगी, उज़्बेक युवक ने पानी की तरह विह्वल ऊँचा स्वर निकाला और एक हिन्दुस्तानी गीत छेड़ा : "तू गंगा की मौज, मैं यमुना की धारा···" और फिर उस ने मुझ से पूछा, "मैं ने सुना है कि आप के देश में एक आशिक़ों का दरिया है, उस का नाम क्या है ?"

"चनाव ।"

"स्तालिनाबाद की इस नदी का नाम है 'वरजआब' और दोनों का क़ाफ़िया मिलता है ।" मिर्ज़ा तुरसन ज़ादा ने कहा, और पानियों का नाच और तीखा हो गया ।

पैंतालीस वर्षीय शहर यिरेवान

'पत्थर जैसी छाती में फूल जैसा दिल' आरमीनिया की राजधानी यिरेवान को देखकर उस दिन कई बार ये शब्द मेरी ज़बान पर आये। सारे का सारा शहर दूधिया और स्लेटी पत्थरों की ऊँची-ऊँची इमारतों का बना है—वास्तु-कला के कई नमूनों में। इस शहर की रचना चाहे दो हज़ार सात सौ पचास साल पुरानी है, पर इस का अस्तित्व भयानक हमलों से बहुत बार बन-बनकर मिटा है, मिट-मिटकर बना है। आज से पचास साल पहले 1915 में यह घमासान युद्ध का मैदान था। टर्की ने इस के अस्तित्व को अपनी तरफ़ से मानो ख़त्म ही कर दिया था, पर 1921 में इस ने सोवियत शक्ति के साथ अपनी शक्ति जोड़कर शान्ति और सुरक्षा का मार्ग तलाश कर लिया। कई छोटी-छोटी पहाड़ियों के पहलू में यह शहर इस तरह फैला है कि किसी भी पहाड़ी पर खड़े होकर किसी भी ढलती शाम के वक़्त इस का जगमग करता हुआ सौन्दर्य देखा जा सकता है। पत्थर की इमारतों के इस नये पैंतालीस वर्षीय शहर की बाँहों में जगह-जगह फूलों की क्यारियाँ और पानी की झीलें बनी हुई हैं। फूलों की क्यारियों और पानी की झीलों के किनारे कोई पचास कैफ़े होंगे, जिन में से कई को बहुत सीधे-सादे शब्दों में 'शीशे के कमरे' कहा जा सकता है। वास्तु-कला के ये प्रयोग शायद इसलिए भी बहुत प्यारे हैं कि आरमीनिया की वास्तु-कला का अतीत बहुत पुराना है। दुनिया का सब से पहला चर्च आरमीनिया में बना था—चौथी शताब्दी के आरम्भ में। और आठवीं शताब्दी में फ़्रांस ने आरमीनिया का एक वास्तुकार बुलाकर अपने देश में एक चर्च बनवाया था।

आरमीनिया के लोगों के पास अपनी विरासत को संभालने और उसे प्यार करने के अजीब तरीक़े हैं। मुश्किल घड़ियों में ये लोग दुनिया के बहुत सारे हिस्सों में बिखरते रहे हैं, पर एक सचाई सब जगह पायी गयी है कि ये लोग जहाँ भी गये हैं, इन्होंने सब से पहला काम उस देश में जाकर यह किया है कि अपना छापाख़ाना स्थापित कर अपना साहित्य हर वक़्त मुद्रित किया (छापा)

और उसे सँभाला है। पुरालेखागार संग्रहालय में जहाँ इन्होंने विद्वान् माशटोटस की यादें सँभालकर रखी हैं जिस ने पांचवीं शताब्दी मे आरमीनियन लिपि बनायी थी, वहीं तामिल भाषा म लिखे इन के इतिहास के वे पृष्ठ भी सँभालकर रखे हुए हैं जो इन्होंने कभी दक्षिण भारत में बसने के समय लिखे थे। वर्तमान शहर का शृंगार इन्होंने अपने दार्शनिकों और लेखकों की मूर्तियों से किया है। सयातनोवा इन का बहुत प्यारा कवि हुआ है। पेड़-पौधों और फूलों से ढकी एक बग़िया में सफ़ेद पत्थर की दीवार बनाकर इन्होंने सयातनोवा की बहुत ख़ूबसूरत—बहुत प्यारी मूर्ति बनायी है, जिस के नीचे उस की कविता की एक पंक्ति लिखी है: 'मैं ने इस धरती का वह पानी पिया है जो किसी ने नहीं पिया। मेरा अतीत रेत का नहीं, मेरा अतीत एक चट्टान का है।'

यिरेवान के सब से बड़े होटल 'आरमीनिया' में उस रात जो संगीत बज रहा था, इन के एक कवि की रचना है: 'ऐ श्वेत पक्षी! तुम किस देश से आये हो? तुम उड़ते-उड़ते मेरी खिड़की के सम्मुख बैठ गये हो, तुम निश्चित ही मेरे देश से आये होगे। आओ, मेरी इस खिड़की में बैठ जाओ, और मुझे मेरे देश का हाल सुनाओ।' यह गीत कामितास ने अपने देश से दूर फ़्रांस मे रहते हुए लिखा था।

इटली के साथ इस देश की दोस्ती दो हज़ार साल पुरानी है। इस दोस्ती की निशानी, एक बहुत बड़े पत्थर में तराशे दो हाथ—एक इतालवी और एक आरमीनियन!—कुछ पहले इटली ने इस देश को उपहारस्वरूप भेजे थे। यह निशानी—दो हाथ—आज इन्होंने बहुत ही सुन्दर बग़िया में सजाकर रखे है।

"हमारी दोस्ती हिन्दुस्तान के साथ भी उतनी ही पुरानी है। क्या मालूम हमारे परदादा, लकड़दादा के दादा कभी एक ही होंगे। तभी तो आज हम ने तुम्हें आरमीनियन स्त्री समझ लिया था।" मेरे मेज़बान हँसकर मुझ से कह रहे थे। उस दिन सचमुच ऐसा ही हुआ था कि सवेरे हवाई अड्डे पर मेरे मेज़बान जब मुझे लेने आये तो मुझे देखकर भी उन्होंने मुझे नहीं पहचाना। मुझे उन्होंने अपने ही देश की कोई आरमीनियन स्त्री समझ लिया और हिन्दुस्तान से आनेवाली परदेशी स्त्री को तलाश करने के लिए कितनी देर तक वे चारों तरफ़ देखते रहे।

"तुम्हें कभी किसी देश के लोगों में कोई ख़ास तरह की समानता लगी है?" तबिलिसी मे बरतानिया के एक लेखक ने मुझ से पूछा था और मैं ने उन्हें जवाब दिया था, "इस तरह मुझे किसी देश में कभी नहीं लगी, पर कई बार कई किताबों के कई पात्रों मे ज़रूर महसूस होने लगती है..." और उसी दिन आरमीनिया के अजनबी शहर के वीरान कोने में एक पहाड़ी पर बनी आर्क के बीच खड़े हुए मेरी आँखें आस-पास का कुछ समेटकर अपने अन्दर जोड़ने लग

गयी थीं। पैरों में मोह की एक कँपकँपी-सी उतर आयी थी—यह शायद सामने बर्फ़ से लदे हुए पहाड़ की ठण्ड थी। सामने दूरी पर एक बडा-सा पहाड, इस आर्क की बाँहों में लिपटी हुई किसी चीज की तरह हैं, शायद चीज की तरह नहीं, एक खयाल की तरह···बाँहों के बीच भी है और बाँहों से बहुत दूर भी। नजदीक के पहाडों पर कोई पेड नही है, उन के शरीर की नग्नता उन की अपनी ही बाँहों में लपेटी हुई लगती थी। हलकी-सी धूप उन के बदन को छूती और काँपती-सी महसूस हो रही थी···

कुछ दूर तेरहवी सदी का एक चर्च है - एक ऊँचे शिखर को काट-तराशकर बनाया हुआ चर्च। यह रविवार था, इसीलिए लोगों का एक मेला-सा यहाँ लगा हुआ था। छोटी-छोटी ढोलकियाँ और बाँसुरियाँ बिक रही थी, बड़े और लाल बेरों की तरह किसी फल के हार पिरोकर लडकियाँ उन्हें बेच रही थीं। चर्च के बाहर कई लोग भेडों की बलि देने के लिए हाथ मे चाकू पकडे खडे थे और कई लोग चर्च के अन्दर मोमबत्तियाँ जलाकर कम्पित होंठों से क्रॉस को चूमते हुए प्रार्थना कर रहे थे। एक स्थान पर चर्च के घेरे मे एक छोटा-सा चश्मा है। लोग उस में सिक्के फेंकने, मन्नतें मानते और चुल्लू भरकर उस का पानी पी रहे थे। मैं सब कुछ एक मेले की तरह देख रही थी—वंशी की आवाज मे, भेडों का लहू, मनुष्य के झुके हुए माथे का विश्वास · एक ऊँचे से चबूतरे पर एक छोटी-सी सीढी पत्थर की एक कन्दरा (गुफा) मे जाती है इस के प्रति मेरा एक मोह-सा हो गया था और मैं ने झिझकते हुए किसी से पूछा था, "मैं इस चबूतरे पर चढकर, उस पत्थर की सीढी को लाँघकर उस कन्दरा में जा सकती हूँ ?" "शायद नही," मैं ने स्वयं ही झिझककर कह दिया था, क्योंकि मैं देख रही थी कि उस चबूतरे को कई लोग होठों मे चूम रहे थे। पर नजरें कन्दरा के उस दायरे में से बाहर नही निकल रही थी और मुझे जवाब मिला था, "उस कन्दरा मे दीया जलाकर हमारे लेखक कभी इतिहास लिखते थे और प्राचीन दस्तावेजों,'पाण्डुलिपियों की नकल उतारते थे। तुम इस चबूतरे को लाँघकर उस कन्दरा मे जितनी देर चाहो, बैठ सकती हो···" सोच रही थी कि किताबों के पात्र ही नही, कोई कोने-किनारे भी इस तरह के होते है,जो कि अजनबी देश मे बरबस ही कुछ अपने से जान पडते हैं।

दुनिया का सब से पहला चर्च चौथी शताब्दी के शुरू के वर्षों मे बना था, समय के साथ इस का ढाँचा अपना आकार-प्रकार बदलता रहा है, पर इस के पैरों के नीचे जमीन वही है। इस जमीन की मिट्टी ने पता नहीं मनुष्य की कितनी प्रार्थनाएँ सुनी हैं, पर इस के कानों के पास कोई बहुत बडा धैर्य लगता है, लोग हजारों की गिनती में मिलकर आज भी प्रार्थनाएँ कर रहे हैं और यह बडी धीरज के साथ चुपचाप उन्हें सुन रही है। यहाँ हर समय मोमबत्तियों की रोशनी काँपती

रहती है, पता नहीं लोगों की प्रार्थनाओं के भार से या मिट्टी के धैर्य को देखकर।

इस चर्च के सब से बड़े पादरी की इस पदवी के लिए उस दिन ग्यारहवीं बरसी थी। प्रार्थना समाप्त हुई तो मैं मशालों की रोशनी में एक पालकी के आगे-आगे चलते पादरी के प्रभाव की ओर देखती रही—माथे पर चमकीला ताज, गले में मलमल का चमकीला चोग़ा, पैरों में मलमल के स्लीपर और हाथ में मोतियों से जड़ित क्रॉस। छोटे पादरियों के गलों में काला वेश और काले वेशों पर पड़े हुए ज़री के चमकीले चोग़े। सिर पर काले कपड़े और गले में सोने के क्रॉस।

संगमरमर की सीढ़ियाँ चढ़कर एक बहुत बड़ा हॉल है—सिंहासन पर सब से बड़ा पादरी बैठा हुआ था—बहुत गम्भीर चेहरा, बहुत गम्भीर नज़र। सामने दो क़तारों में शेष सारे पादरी खड़े हो गये और एक-एक कर के देश के इतिहास में इस गिरजे की देन को दोहराते हुए कुछ विर्द-से पढ़ते रहे और फिर बारी-बारी आगे होकर क्रॉस को चूमते रहे। बहुत-से लोग आस-पास खड़े थे, नम्रता के साथ झुके हुए। मुझे कुरसी पर बैठने के लिए कहा गया—मेरे परदेशी होने का लिहाज़। बड़ा मेहरबान सलूक था, पर सारा वातावरण किसी इतिहास का वह हिस्सा लगता था जिस हिस्से में खड़ी हुई भी मैं उस हिस्से से बाहर थी—बिलकुल अजनबी और अकेली। कमरों के बल्ब जलते थे और बुझ जाते थे—कई शताब्दियाँ मानो मिलकर एक स्थान पर खड़ी हो गयी हों और इन शताब्दियों में चौथी शताब्दी भी थी और बीसवीं शताब्दी भी। मानवीय हृदय की आवश्यकता के इन सामने दीखते पृष्ठों को मैं पढ़ने की बहुत कोशिश करती रही, पर इस पृष्ठ का हर शब्द मेरे लिये उस विदेशी सिक्के की तरह था, जिस को मैं अपने मन की सीमा में आकर न ही ख़र्च कर सकती थी, न ही बदल सकती थी। घबराकर मैं ने पृष्ठ पलटा, पर अगला पृष्ठ अभी ख़ाली था। सोच रही थी, इस अगले पृष्ठ पर पता नहीं कोई क़लम कब कुछ लिखेगी और जिस के शब्द उस सिक्के की तरह होंगे, जो कि मेरे जैसे अजनबी मन के देश में भी ख़र्च किये जा सकेंगे···

पर ऐसा सोचना भी शायद बहुत ठीक नहीं है—विदेशी सिक्कों की क़ीमत अपने स्थान पर होती है। मज़हबी मन के शासन में चलनेवाले सिक्के, मैं या मेरे जैसे कुछ लोग यदि ख़र्च नहीं कर सकते तो न सही—हरेक के लिए उन्हें ख़र्च करना ही क्यों आवश्यक है? उस दिन शाम के वक़्त अमरीका में रहता एक आरमीनियन मिला था, पचीस साल के बाद अपने देश लौटा था, वह भी कुछ दिनों के लिए। शहर की हर गली का मोड़ वह परदेशियों की तरह देख रहा था, पर वह मेरे जैसा परदेशी नहीं था। नयी इमारतें और उस के माथे पर लगी रोशनी की झालरें उस के लिए नयी थीं, पर इन इमारतों की बुनियादों

में जो कुछ था, वह उस के लिए बड़ा पुराना था, बड़ा अपना था। "1915 के क़त्लेआम में अपने सारे ख़ानदान से मैं अकेला बचा था···" वह बता रहा था और फिर उस की ख़ामोशी में युद्ध की भयानकता सिसकने लगी थी।

एक ऊँची पहाड़ी पर खड़े होकर उस ने जगमग करते शहर को देखा, मैं ने भी देखा, और फिर हम ने अपने यिरेवानी दोस्त से पूछा था, "इस देश की सीमा अब कहाँ तक है?"

"वहाँ तक, जहाँ तक रोशनी फैली हुई है। दूर जहाँ अँधेरा शुरू होता है, वहाँ से टर्की की सीमा शुरू होती है।"

इस उत्तर में एक स्वाभिमान था—ख़ून की नदियों को तैर-तैरकर तलाश किया हुआ स्वाभिमान, पर मैं देख रही थी, इस स्वाभिमान के अर्थ, जो कुछ मेरे लिये थे, अमरीका से आये आरमीनियन के लिए इस के अर्थ उस से बहुत गहरे थे। अर्थों का सिक्कों की तरह सभी के लिए एक जैसा होना शायद ज़रूरी नहीं, सम्भव भी नहीं···

ख़ामोशी का गीत

टॉल्सटाय की क़बर पर से लाये गये कुछ पत्ते अब भी मेरे सामने पड़े हैं। इन का हलका पीला रंग एक धीमे से स्वर की तरह है। मैं अब भी मन को एकाग्र करूँ तो यह स्वर धीमे-धीमे मेरे कानों में गूँजने लगता है।

मास्को से दो सौ किलोमीटर का लम्बा रास्ता लम्बे पेड़ों से घिरा हुआ था। यह अक्तूबर का महीना था। पेड़ों के पत्ते सुनहरे पीले सोने के चौड़े पत्तों की तरह पेड़ों से झूलते लगते थे। कई जगह पेड़ों के तने सफ़ेद थे—चाँदी की तरह'। और आँखों को एक परी की कहानी का भ्रम होता था जसे चाँदी के पेड़ों पर सोने के पत्ते उगे हों।

टॉल्सटाय की निजी जमीन की सीमा लाँघते ही परी-कहानी का सारा रूप बदल गया। हवा तेज़ हो गयी थी और कई एकड़ तक धरती पर उगे हुए ऊँचे पेड़ों से पत्ते इस तरह झर रहे थे जैसे तालबद्ध किसी आकाश-गीत के स्वर धरती के कानों में गुंजरित हो रहे हों।

टॉल्सटाय के घर का हर कमरा उसी तरह है, जैसे 1910 में टॉल्सटाय के आख़िरी दिनों में था। माँ के उस काले दीवान से लेकर जहाँ टॉल्सटाय का जन्म आ था; बाईस हज़ार किताबों की लायब्रेरी और उस के साथ लगा हुआ वह कमरा, जिस में उस की मेज़ भी है, वैसे का वैसा ही पड़ा है जहाँ टॉल्सटाय ने 'वार एण्ड पीस' लिखा था। सोने के कमरे में पलंग के पास टॉल्सटाय की सफ़ेद क़मीज़ टँगी हुई है। एक कँपकँपी की तरह मुझे याद है कि मैं इस क़मीज़ के पास खड़ी हुई थी, टॉल्सटाय के पलंग की पट्टी पर एक हाथ रखकर—खिड़की में से हलकी-सी हवा आयी और क़मीज़ की बाँहें हिलकर मेरी बाँह को छू गयी। एक पल के लिए समय की आगे बढ़ती सुइयाँ पीछे पलट पड़ी थीं, इतनी तेज़ी से कि 1966 अपनी पलक झपककर 1910 बन गया था और मैं ने देखा कि गले में सफ़ेद क़मीज़ पहनकर अपने पलंग की पट्टी पर हाथ रखकर टॉल्सटाय खड़ा है।

यह पल देखा जा सकता था, पकड़ा नहीं जा सकता था। और यह इतना अकेला पल था कि और कोई पल इस के साथ मिलाया नहीं जा सकता था। ख़ून की हरकत मेरे माथे का कनपटियों में बज रही थी। पर सामने समय के अँधेरे का एक दरिया बह रहा था और यह पल उस दरिया में एक छोटे-से दीये की तरह अभी-अभी दीखा था और अभी ही लोप हो गया था। ख़ून की हरकत ने मेरे माथे की कनपटी में से गुज़रकर मेरी आँखों पर बड़ा ज़ोर डाला, पर अब मेरी आँखों के आगे सिर्फ़ ठण्डे और मटमैले अँधेरे का एक बड़ा दरिया बह रहा था। फिर मेरे ख़ून की हरकत ने शान्त होकर देखा—कमरे में कोई नहीं था और सामने दीवार पर पलंग की पट्टी के पास सिर्फ़ एक क़मीज़ टँगी थी।

कितनी ही पगडण्डियाँ पेड़ों की घनी गुफाओं में जाती हैं। एक गुफा में टॉल्सटाय की क़बर है। चारों तरफ़ ख़ामोशी थी पर लगता था क़बर की ख़ामोशी इर्द-गिर्द की ख़ामोशी से टूटा हुआ एक टुकड़ा था। अपने आप में पूर्ण और किसी भी आवाज़ के अस्तित्व से बेनियाज़—पेड़ों से झरते पीले पत्तों की आवाज़ से भी।

मैं इर्द-गिर्द की ख़ामोशी का हिस्सा थी। मेरी हरेक साँस पेड़ों से झरते हुए पत्तों की तरह झर रही थी। मेरी झरती साँसों में भी एक गीत था—शायद एक कारनीना का···

बड़ी दूर बैठे कुछ लड़के पत्तों को पिरो-पिरोकर सिर के सुनहरी ताज बना रहे थे। लड़कियाँ पत्तों की पेटियाँ बनाकर अपनी कमर में बाँध रही थीं। ये सारे पत्ते टॉल्सटाय की किताबों के वरक़ (पन्ने) लगने लगे, जो पेड़ों से झरकर धरती की ओर धरती के लोगों की झोली में गिरते, धरती को ज़रख़ेज़ करते और फिर पेड़ों पर नये सिरे से उगते।

यह झरने और उगने का गीत था, जो मैं ने उस ख़ामोशी में सुना था—ख़ामोशी को किसी भी तरह तोड़ता या ढाता नहीं, पत्तों में पत्तों के रंग की तरह बसा हुआ ख़ामोशी का अपना हिस्सा।

चुप की बन्द गली

मन बहुत अच्छी रौ में था, पंजाबी टप्पे की लय पर एक टप्पा मुंह से निकल रहा था—

सुका पत्त वे तम्बाकू दा
वही वरयाँ दी होई बावला
मेरे हुस्ना दा रंग साँवला

कल आखरिद से मैसेडोनिया की राजधानी स्कोपिया जाते हुए रास्ते में जितने भी गाँव आये थे, सब घरों के आगे तम्बाकू के पत्ते सूखने के लिए डाल रखे थे। पत्तों का रंग सूर्य की धूप पी-पीकर ताँबे जैसा हो रहा था। धरती के इस टुकड़े को स्वतन्त्र हुए कोई बीस बरस हुए हैं और स्वतन्त्रता बीस बरसों की युवती की तरह, पहाड़ों की हरियाली में, मक्का की सुनहरी बालियों में, और सेबों व आड़ुओं से लदी टहनियों में झूमती दिखती है। सिरों पर लाल पटके बाँधे कई लड़कियाँ सड़क के किनारे सुर्ख़ तरबूज बेच रही थीं। इस सारी वादी का नाम भी इस के बाबल के नाम पर है—'टीटो वैलेस'। उसी सुबह इस के लोगों की आरामगाहें देखकर आयी थी —छोटे-छोटे टापुओं में बनी आरामगाहें। प्यारा-सा रश्क भी कर रही थी, और ख़ुशी भी।

उसी सुबह सुना था कि आज के लेखक मिलकर एक छोटा-सा शहर बनाना चाह रहे हैं—अन्तर्राष्ट्रीय लेखक शहर। एक पत्र-प्रेरक मुझ से पूछ रहा था कि यह शहर कैसा बनाना चाहिए? जवाब दिया था—पत्थरों और फूलों के सुमेल से। पत्थर ज़िन्दगी की हक़ीक़तों की नुमाइन्दगी करेंगे, और फूल मनुष्य की कल्पना की।

मन की उसी रौ में थी कि एक बहुत बड़े सरकारी अफ़सर ने हँसकर मुझे कहा था, "आप ने अपने देश में एक औरत को प्रधान मन्त्री चुनकर हम मर्दों की मर्दानगी को एक ललकार दी है।" और मैं ने हँसकर जवाब दिया था, "मैं ख़ुश हूँ कि हम ने आप को ईर्ष्या का कोई मौक़ा दिया है…"

मेरे पास आखरिद से बेलग्रेड पहुँचने के लिए हवाई जहाज़ का टिकट था—टिकट पर तारीख़ और हवाई जहाज़ के चलने का वक़्त लिखा हुआ था, पर यह पता नहीं कि टिकट देते समय किस ने और किस तरह यह लिख दिया था, क्योंकि उस दिन आखरिद से कोई जहाज़ बेलग्रेड नही जाता था। आखिर आखरिद से स्कोपिया पहुंचने के लिए कार का इन्तज़ाम हुआ, और फिर अगली सुबह स्कोपिया से हवाई जहाज से बेलग्रेड पहुँचने का। यूथोपिया का एक शायर अबरा जम्बेरी और यूथोपिया का प्रिंस महातेमा सल्लासी कार में मेरे साथी थे।

"नज़्मों का मेला तुम्हें कैसा लगा ?" यूथोपिया का शायर मुझे पूछ रहा था, और मैं कह रही थी, "किसी भी ज़बान की कोई नज़्म मुझ तक नहीं पहुँची, पर मेरे लिए इस मेले की तीन रातें इस तरह थी जैसे मैं इस शहर में एक नहीं दो झीलें देख रही हूँ। एक नीले पानी से लबालब और दूसरी इनसानी आवाज़ों और मानवीय जज़्बातो से छलकती…"

और वह हंस रहा था कि इनसानी दिल कई बार कैसे एक-सा सोचते हैं। उस ने उस रात एक नज़्म लिखी थी, जिस का भाव था कि दरिया के पुल पर खड़े होकर जब कई देशों के शायर नज़्में पढ़ रहे थे तो उसे लगा था कि एक दरिया पुल के नीचे बह रहा था, और एक दरिया पुल के ऊपर !

इस बड़ी साँझी खुशगवार रौ मे हम सब थे और कार का ड्राइवर भी। उस ने सिर पर एक सफेद टोपी पहन ली और मुझे कहने लगा, "आज मैं गान्धी टोपी पहनकर कार चलाऊँगा। हिन्दुस्तान को मेरा सलाम !" और उस ने अपनी ज़बान में एक गीत गाया, जिस का भाव था : 'मेरे सूरज ! मेरे महबूब ! मेरी रूह की ताक़त के लिए मुझे थोडी-सी धूप दे दे…'

कार का मालिक एक मेहरबान दोस्त भी था और अलबानिया ज़बान का विद्वान् भी। मैसेडोनिया की छाती मे एक दर्द है कि उस का हिस्सा बलगारिया के अधीन है और एक हिस्सा अलबानिया के अधीन। अलबानिया से एक लम्बी अदावत चली आती है। वहाँ बसते कुछ मैसेडोनियन लोग अब भी वहाँ हैं, पर कुछ इस ओर आ गये हैं। यह हमारा अलबानिया ज़बान का दोस्त कोई बीस साल हुए इस ओर आ गया था, पर इस के माँ-बाप अब भी वहाँ हैं, और उन्हें देखे इसे बीस साल हो गये हैं। "जाने अब वे कितने बूढ़े हो गये होंगे…" उस ने कहा और सब के मन की रौ एक मोड़ पलट गयी।

यूथोपिया के प्रिंस ने अभी तक अपने बारे में कुछ नहीं बताया था। रास्ते में एक जगह खड़े होकर बीयर का एक-एक गिलास पीते हुए उस के होंठ छलक पड़े, "तुम शायर लोग बड़े ख़ुशनसीब हो। हक़ीक़त की दुनिया नहीं बसती तो कल्पना की दुनिया बसा लेते हो…मैं बीस साल वायलिन बजाता रहा हूँ, साज़ के तारों

से मुझे इश्क़ है। पर जंग के दिनों में मेरी दायीं बाँह पर गोली लग गयी। अब उस हाथ से मैं वायलिन नहीं बजा सकता···मैं किसी कन्सर्ट (गोष्ठी) में नहीं जाता क्योंकि वहाँ किसी वायलिन की आवाज़ सुनकर मुझ से अपना 'स्वयं' झेला नहीं जाता···संगीत मेरी छाती में जमा हुआ है···"

संगीत के आशिक़ हाथों को गोलियाँ क्यों लगती हैं ? इस का जवाब किसी के पास नहीं। तवारीख़ चुप है। हम भी चुप थे। और मन की रौ चुप की एक बन्द गली की ओर मुड़ गयी···

एक गीत का जन्म : एक अवस्था का जन्म

ख़लील ज़िबरान ने एक दिन अपने हाथ में पकड़ा हुआ जाम अपने माथे से भी ऊपर उठाया और फिर मेरे नाम पर उस ने जाम में से एक लम्बा घूंट भरा। जानती हूँ कि मेरी इस बात से अभिमान की गन्ध आती है, पर वास्तव मे यह स्वाभिमान के रस में भरे हुए अंगूरों की ख़ुशबू है, जो पक-पककर शराब की घूंट की-सी तीखी गन्ध बन गयी है।

ख़लील ज़िबरान ने अपने जाम में से यह घूंट भरते हुए कहा था, "मैं अपने हाथ का जाम अपने सिर से भी ऊपर उठाता हूँ, और फिर होंठों से लगाकर एक लम्बा घूंट उन के लिए भरता हूँ, जो अपनी ज़िन्दगी के जाम को अकेले पीते हैं।"···सो उस ने यह घूंट मेरे नाम पर पिया था, आप के नाम पर पिया था—आप सब, जो अपने ज़िन्दगी के जाम को अकेले पी रहे हैं।

मुझ में इस अपनी प्यास के लिए हज़ार शिकवे जागे होंगे, आप ने अपनी इस प्यास को हज़ार बार कोसा होगा; पर ख़लील ज़िबरान मुझ से और आप से इसीलिए बड़ा है कि वह इस प्यास का शुक्र कर सका। 'अपने जाम को अकेले ही पीना, भले ही आप को इस में से अपने ख़ून का और आँसुओं का स्वाद आये। और प्यास की इस सौग़ात के लिए ज़िन्दगी का शुक्र करना। क्योंकि इस प्यास के बिना आप का दिल उस सूखे हुए समुद्र का किनारा बन जाता था जिस में न कोई गीत होता है, न कोई लहर।'

यह समय ज़िन्दगी के बहुत-से रास्तों से गुज़रने के बाद आता है। आप की और मेरी तरह खलील ज़िबरान ने वे पहले वक़्त भी देखे थे, 'कभी वह समय था जब मैं ने मनुष्यों का साथ चाहा था, उन के साथ मिलकर दावतें सजायी थीं, और फिर उन के जाम से अपने जाम को टकराया था,···पर वह शराब मेरे माथे की नाड़ियों में नहीं पहुंची। वह शराब मेरी छाती में नहीं लहरायी। वह

केवल मेरे पैरों तक ही उतर सकी थी। मेरी प्रतिभा सूखी रह गयी थी। मेरा मन ढका रह गया था।'

जिस के पास दिल की दौलत होती है, उस दौलत के न खर्चे जाने का दर्द केवल वही जान सकते हैं। ख़लील ज़िबरान के इस दर्द ने कहा था, 'मेरी आत्मा अपने ही पके हुए फल के भार से झुकी हुई है। क्या ऐसा कोई नहीं जिसे बड़ी भूख लगी हो; वह आये, अपना व्रत तोड़ दे, इस फल को चख ले और मुझे इस भार से हलका कर दे।'

इस दर्द की जो जलन मैं ने और पॉल पॉट्स ने देखी है, उसे पढ़ते हुए लगता है कि लिखनेवाले ने तो क्या, अगर पढ़नेवाले ने भी इस आग को कई वर्ष अपने अंग-संग न रखा हो, तो वह इस की पहली लपट से ही झुलस जाये। यह रोशनी की वह दीवानी तलाश जिस के अन्धे मोड़ों से हज़ारों के पैर टकराये हैं, और वे निराशा की, शिकायतों की, सनक की या मौत की गहरी खाइयों में जा पड़े हैं। यह केवल कभी-कभी ही होता है कि एक बीमार और रोऊँ-रोऊँ करता बालक बड़ा होकर राजेन्द्रसिंह बेदी बन जाता है, माँ की ममता के लिए तरसा हुआ एक बच्चा बालज़ाक बन जाता है, ग़रीबी और यातना के झकझोरे खाता हुआ एक लड़का गोर्की बन जाता है। यह दर्द जब सृजनात्मक हो जाता है तो करामाती बन जाता है और स्वयं को पहचानते-पहचानते इन्सान पॉल पॉट्स बन जाता है, ख़लील ज़िबरान बन जाता है।

पॉल पॉट्स ने जिस औरत से मुहब्बत की, उस ने पॉल को पहचाना नहीं था। न पहचाने जाने के दर्द ने पॉल को एक जनून दे दिया कि वह अपने मन की ख़ूबसूरती को ऐसे शिखरों की ओर ले जाये कि जब कभी वह औरत जाने या अनजाने ही उस ख़ूबसूरती की ओर देखे तो उस के अन्दर पॉल के दर्द जैसा ही एक दर्द जाग उठे, कि उस ने ऐसे आदमी को पहचाना नहीं था। पैरों से ये रास्ते बाँधकर पॉल सारी उम्र उस शिखर की ओर चलता रहा और चलते-चलते वह जो कुछ अपने से बातें करता रहा, आज वही बातें दुनिया भर के आशिक़ों का वेद बन गयी हैं, क़ुरान बन गयी हैं :

"जब तुम ने मेरे प्यार को स्वीकारने से
इनकार कर दिया
मैं ने चौखट से गुज़रे बिना
तुम्हारे सोने के कमरे का दरवाज़ा भिड़का दिया।
और अपने हाथ में पकड़ी हुई विवाह की अँगूठी को
बाहर सड़क पर खड़े हुए—
एक भिखारी के पात्र में डाल दिया।"

उस दिन हमारी भाषा के शब्द भी
कराह रहे थे,
जिस दिन मैं ने तुम्हें अलविदा कही।

जैसे हमारी तवारीख दो हिस्सों में बँटी हुई है
ईसा के जन्म से पहले, और ईसा के जन्म के बाद
मेरी जिन्दगी भी दो हिस्सों में बँटी हुई है
तुम्हें देखने से पहले, और तुम्हें देखने के बाद।

एक दिन मैं ने गली में मौत को देखा था।
वह बिलकुल इस ज़िन्दगी जैसी है,
जो ज़िन्दगी मैं तुम्हारे बिना जी रहा हूँ।

ईश्वर! लोग तुझे करामाती कहते हैं
क्या तुम इतना नहीं कर सकते
कि मेरे दिल की खूबसूरती में से
एक चुटकी भर निकाल लो
और वह चुटकी मेरे जिस्म में डाल दो।

तुम्हें फिर से देखना ऐसा होगा
जैसे अन्धा होने के बाद कोई आँखों को पा ले।

अगर तू मेरे साथ चलती
मैं सारी उम्र अपने मन की अमराइयों में
तुम्हारा हाथ पकड़कर चलता रहता।

माइकेल ऐंजेलों जब किसी खूबसूरत पत्थर को देखा करता था तो उस की आँखों में बैठी हुई तसवीर आँखों में से उतरकर सामने पत्थर पर जा बैठती थी, और जिस की ओर देखते-देखते उस के हाथों में पकड़ी हुई छेनी उतावली हो उठती कि वह इस तसवीर के आसपास लगा हुआ पत्थर छील दे ताकि वह प्रत्यक्ष होकर सब को दिखायी देने लगे। इस तरह के इश्क़ से माइकेल ऐंजेलो पत्थरों को गढ़ा करता था, पॉल पॉट्स ने इस तरह के इश्क़ से अपनी शख़्सियत को गढ़ा।

एक बड़ी छोटी-सी बात है। जिन दिनों जंग छिड़ी हुई थी, दियासलाई

की डब्बियां नहीं मिलती थीं। पॉल ने एक दुकानवाले को कुछ पैसे पेशगी देकर कुछ डब्बियां सुरक्षित करवा ली थीं। एक दिन जब वह अपनी डब्बियां लेकर लौटने लगा तो एक औरत बड़ी ज़रूरत से आयी और दुकानवाले से एक डब्बी मांगने लगी। दुकानवाले के पास सचमुच ही और डब्बी नहीं बची थी। औरत का मुंह उतर गया। पॉल ने अपनी जेब से एक डब्बी निकाली और उस औरत को दे दी। औरत जवान थी, खूबसूरत थी; पर जब वह डब्बी लेकर लौट पड़ी तो पॉल ने उस लौटती औरत की पीठ की ओर भी न देखा, ताकि जाने या अनजाने उस औरत की खूबसूरती को सराहता वह अपनी डब्बी की क़ीमत न वसूल कर रहा हो। यह एक छोटी-सी बात है, पर इतना बारीक खयाल एक बड़े कलाकार को ही आ सकता है ताकि उस के व्यक्तित्व के बुत में ज़रा-सी क़सर भी न रह जाये।

एक वह समय था जब मैं ने 'कम्पन' नज़्म लिखी थी :

धरती को आज व्रत तोड़ना है
दिल का थाल कैसे परसूं
गीतों का धान कूटते हुए
कांपने लगी ओखली।
क़िस्मत ने है रुई पिंजाई
ज्यों-ज्यों चरखा गूंज सुनाये
कांप रही है प्राण जुलाहिन
कांप रही है तकली।

आज गगन की सीढ़ी कांपे
तारे उतरे एक-एक कर
मन के किन महलों में सहसा
मची हुई है खलबली।

किस पापी ने तीर चलाया
इश्क़ का जंगल सहम गया है
डरती और कांपती हुई भाग गयी है
यादों की मृगावली···।

मुझे याद है कि इस कम्पन से घबराकर मैं उस रात ख़लील ज़िबरान पढ़ने लग गयी थी, पर ख़लील ज़िबरान का कोई भी बोल मुझ तक नहीं पहुँचा था। और मैं हारकर किताब को जब बन्द करने लगी तो ख़लील ज़िबरान ने कहा था : "अगर मेरे अक्षर आज तुम तक नहीं पहुँच रहे तो कोई बात नहीं—

कभी फिर सही।" मैं शिकवे की हालत में थी। मुझे किसी से कोई शिकवा नहीं था, अपनी प्यास से शिकवा था।

दो वर्ष बीत गये, मन की हालत कुछ इस तरह ही रही :

रात जैसे पीतल की कटोरी है
चाँद की सफ़ेद क़लई उतर गयी

आज कल्पना कसरा गयी है
और सपना कड़वा गया है।

इश्क़ की देह ठिठुरती जाये
गीत का कुरता कैसे सीये

ख़यालों का टाँका खुल गया है
क़लम की सुई टूट गयी है।

आत्म-परिचय का यह वही लम्बा रास्ता था जिसे पॉल पॉट्स भी काट रहा था :

तू ने इसलिए यह शराब न पी
कि गिलास सुन्दर नहीं था।

उस औरत की उपस्थिति में
जिसे तुम प्यार करते हो
ईश्वर इस धरती पर विराजा लगता है
पर अगर वह औरत कभी तुम्हें प्यार करती हो
तो क्या होता है, यह मुझे पता नहीं—
क्योंकि मेरे साथ कभी यह घटा नहीं।

शहर की गलियों में अकेले घूमते
मैं कई बार गलियों के नुक्कड़ों पर
उसी औरत को देखता हूँ—

जिसे मैं प्यार करता हूँ
वह भी अकेली होती है, नितान्त अकेली
और उस आदमी को खोज रही होती है—

हम भरे समुद्र में
उन दो जहाज़ों की तरह होते हैं

जो अपने अनचाहे दिलों के झण्डे
एक पल के लिए एक-दूसरे के आगे झुकाते हैं—
और फिर एक-दूसरे के पास से गुज़र जाते हैं।
इस तरह एक-दूसरे के पास से गुज़रते जहाज़
एक-दूसरे के बन्दरगाह नहीं बन सकते।

किसी उस से प्यार करना
जो तुम्हें प्यार न करता हो
किसी उस देश का नुमाइन्दा बनना है
जिस मुल्क का अस्तित्व ही कोई न हो।

कभी गुज़रा तो शायद इसी राह से ही होगा, पर अब ख़लील जिबरान बहुत आगे पहुँच चुका था, दिखायी नहीं देता था। दूर कहीं से उस की आवाज़ आयी : "मैं तुम्हें इनकार की राह नहीं पकड़ने दूँगा। पूर्ति की राह की ओर आओ। थकान तुम्हें नहीं रास आयेगी। इस थाह को पाना पड़ेगा। और वह भी हँसते होंठों से।" यह विराट् अन्तर की आवाज़ थी, इसलिए शिकवे की आँखें नीचे झुक गयीं। वह थक भी बहुत गया था, रास्ते में ही रह गया। मैं उस से मुक्त होकर आगे चल पड़ी। और देखा, पॉल पॉट्स भी आगे चल रहा था।

पॉल कह रहा था :

अगर तुम किसी उस औरत से प्यार करते हो
जो औरत तुम्हें प्यार न करती हो
उस समय एक ही ईमानदार बात हो सकती है
कि तुम दूर चले जाओ,
दूसरे शहर में, दूसरे देश में, दूसरी दुनिया में
कहीं भी चले जाओ।

पर ज़िन्दगी का वास्ता है, चले जाओ।
तुम चाहे पूरी तरह टूट जाओ,
पर 'उसे' न यह देखने देना।
वह तुम्हें एक भिखारी बना क्यों देखे
वह जो तुम में एक बादशाह देख सकती थी।

अगर मुझे अपनी सारी ज़िन्दगी का
एक शब्द में वर्णन करना हो
तो मैं कहूँगा 'एकाकीपन'
और फिर इस शब्द को दोहरा दूँगा।

अपने अगले रास्ते के गीत को मैं इसीलिए एक गीत का जन्म नहीं कहती, एक अवस्था का जन्म कहती हूँ, जिस अवस्था में एक आशिक़ उस चारपाई पर भी निश्चिन्त होकर सो सकता है जिस के चारों पाये हादसों के बने हों, और जिस चारपाई को पीड़ाओं की मूंज ने बुना हो और इस चारपाई पर सोनेवाला मुहब्बत की आग को हुक़्क़े की पालतू आग की तरह अपने सिरहाने रखकर सो सकता है।

इस अवस्था की देन है कि एक दिन जब मैं ने सामने देखा, ख़लील ज़िबरान ने अपने हाथ में पकड़ा हुआ जाम अपने माथे से भी ऊपर उठाया और फिर एक लम्बा घूंट भरा, मेरे नाम पर, पॉल पॉट्स के नाम पर, और आप सब के नाम पर जो अपनी ज़िन्दगी के जाम को अकेले पी रहे हैं।

मुझे अपने जाम से अपने ख़ून का और अपने आँसुओं का स्वाद आता है, इसी तरह, जैसे आप को अपने जाम से अपने ख़ून का और आँसुओं का स्वाद आता होगा। पर आज मैं प्यास की इस सौग़ात के लिए ज़िन्दगी का शुक्र कर सकती हूँ, अपनी ओर से भी और आप की ओर से भी, क्योंकि इस प्यास के बिना मेरा या आपका दिल उस सूखे हुए समुद्र का किनारा बन जाता जिस में न कोई गीत होता है और न कोई लहर।

दुब्रोवनिक (छब्बीस थियेटरों का शहर)

शायद हल्की-सी धुन्ध का जादू था कि रोम से यूगोस्लाविया जाते हुए राह का सागर और आसमान, एक-दूसरे में अपना रंग मिलाकर कुछ पलों के लिए एक हो गये लगते थे, अहसास होता था कि आधा आसमान पैरों के नीचे है, आधा सिर के ऊपर। या आधा सागर के नीचे बह रहा है और आधा सिर के ऊपर।

हेनरी मिलर के लिए उस के एक समालोचक ने कहा था कि वह किसी पारदर्शी ह्वेल मछली के पेट में पड़े हुए उस इनसान की तरह है जो अपनी जगह से हिल नहीं सकता, पर मछली के पेट से बाहर जो कुछ घटित हो रहा है उसे देख ज़रूर सकता है। देख सकता है और लिख सकता है। यह केवल हेनरी मिलर का नहीं, हर लेखक के भीतर के हेनरी मिलर का भुगता हुआ अहसास है। चिह्नात्मक मछली के पेट में पड़े होने का अहसास हम सब जानते हैं, पर जिन पलों की यह बात कह रही हूँ, वे पल फ़िज़ाँ की मदद से सिर्फ़ अन्दर की ही नहीं, बाहर की हक़ीक़त भी बने हुए थे।

आँखों के सामने सिर्फ़ अपना अस्तित्व था— जिस्म के हाथ सिर्फ़ इसी तक पहुँच सकते थे···पर सोच के हाथ बहुत लम्बे होते है, वह इस अस्तित्व का दुनिया के उस सब कुछ से अपना सम्बन्ध ढूँढ़ रहे थे, जो 'सबकुछ' इनसान की पकड़ में आ सकनेवाली बहुत खूबसूरत घटनाओं की शक्ल में भी घटित होता है, और भयानक घटनाओं की शक्ल में भी।

"सागर की हरी नीलाहट कितनी शायराना है, पर मैं क्या करूँ···मेरी आँखें इस पतली, कोमल और झिलमिलाती सतह के नीचे जाकर उस सतह के नीचे पड़े हुए मगरमच्छ भी देख लेती हैं"—मेरे हाथ के पास पड़ी हुई सार्त्र की एक किताब का एक पात्र सोच रहा था, और मेरे साथ की सीट पर बैठा हुआ एक बुजुर्ग चेहरा मुझे कह रहा था, "मैं इज़रायली हूँ, हम ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी जाने की जद्दोजेहद की है, पर अभी-अभी हुई अरब लोगों के साथ हमारी लड़ाई बड़ा उदास हादिसा है। हम जीना चाहते हैं—मरना और मारना नहीं चाहते,···पर" इस

'पर' के पीछे जो कुछ है, यह कहने की ज़रूरत नहीं थी। पिछले दिनों मैं ने एक नज़्म लिखी थी —"इज़राइल की ताज़ी मिट्टी और अरब की पुरानी रेत जब खून में भीगती है, तो उस की गन्ध ख्वाहमख्वाह शहादत के जाम में डूब जाती है।" — वह इज़राइली भी एक खामोश-सा ज़िक्र इसी 'ख्वाहमख्वाह' का कर रहा था। इजराइली लोगों की मेहनत और अक्लमन्दी में किसी को शक नहीं, पर लोगों की धरती छीनकर, अरबवासियों को हमेशा के लिए उन के विरोधी बना देना, वह 'पर' है जो सागर की हरी और नीली सतह के नीचे एक मगरमच्छ की तरह पड़ा हुआ है···

हलकी धुन्ध का जादू था या रंगों की साज़िश, या मेरी अपनी नज़र का कुछ। पल लम्बे होते गये। किसी ह्वेल मछली के पेट में पड़े होने का अहसास तीखा होता गया। बाहर जो कुछ हो रहा था, भयानक घटनाओं की शक्ल में भी दिखता रहा और खूबसूरत घटनाओं की शक्ल में भी। कल हिन्दुस्तान से आते समय एक अखबार के नुमाइन्दे ने एक सवाल पूछा था, "इस पन्द्रह अगस्त को हम ने पिछले बीस सालों की समालोचना करनी है, इन बीस सालों में हम ने क्या कुछ पाया, और क्या कुछ पाने से रह गया? तुम्हारा क्या जवाब है?" जवाब दिया था, "सब से बढ़कर जो कुछ पाया है वह इसी सवाल का अस्तित्व है। यह सवाल एक लेखक से आज़ाद देश में ही पूछा जा सकता है। लिखने की, बोलने की और सोचने की स्वतन्त्रता हम ने पायी है। जो नहीं पाया वह यह है कि इस के क़ाबिल उतरनेवाला अखलाक़ नहीं पाया। मौक़े विशाल हुए थे, हैं, पर इन्हें इस्तेमाल करनेवाले हाथ देश की समूची कमाई के लिए मिलकर आगे नहीं हुए, बल्कि जल्दी में उन्हें अपने-अपने दायरे में समेटने के लिए सिकुड़ गये हैं, जिस का नतीजा है दिन-पर-दिन बढ़ती हुई क़ीमतें, और दिन-पर-दिन निरुत्साह होती हुई जिन्दगी। पर इस सब कुछ में भी यह आस बची है कि शायद यही सबकुछ किसी दिन ललकार बन जायेगा···और आज भी सोच रही थी —हिन्दुस्तान का परदेशी मुल्कों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान केवल इसी आज़ादी की देन है। हम अपने मुल्क की सख्त लफ़्ज़ों में आलोचना करते हैं क्योंकि हमारे सपने उस के साथ जुड़े हुए हैं—सिर्फ़ उसी के साथ जुड़े हुए हैं···और वह हमारी आलोचना को सहता है, क्योंकि यह अपनत्व का तक़ाज़ा है। यही अपनत्व हमारी कमाई है···

'फ़्रॉम इण्डिया?' दुब्रोवनिक के एयरपोर्ट पर जब मेरे मेज़बानों ने पूछा, तो सब से पहला शुक्र मेरा ज़िन्दगी के साथ यही था कि आज मेरा मुल्क आज़ाद है, और मैं एक आज़ाद मुल्क के लेखक की हैसियत से यहाँ खड़ी हूँ।

दुब्रोवनिक बिलकुल सागर के किनारे, सरू और चीड़ के पेड़ों से लदी एक वादी है। शहर का घेरा सिर्फ़ दो किलोमीटर है, पर इस दो किलोमीटर का

चौगिरदा मीलों तक सरू के पेड़ों तक फैला हुआ है। यूगोस्लाविया छह रिपब्लिक्स में बँटा हुआ है, यह दुब्रोवनिक क्रोएशिया रिपब्लिक की हद में है। इस के उत्तर और पूर्व में पहाड़ है, दक्षिण और पश्चिम में सागर।

शहर को घेरे में लानेवाली पुरातन दीवारें 2,121 गज़ लम्बी हैं, और इन दीवारों का भीतरी हिस्सा 1,77,299 गज़ है। ये सब कोई बत्तीस गांव हैं। और कुल आबादी साठ हज़ार है। लेकिन तेईस हज़ार की शहरी आबादी में से, कोई छह हज़ार लोग पुरातन दीवारों के भीतरी हिस्से में रहते हैं, बाक़ी साथ लगती बस्तियों में।

इस शहर की जहाज़ी तिजारत बहुत पुरानी है। कोलम्बस के नये ढूंढ़े अमरीका में सब से पहले इसी शहर ने तिजारती जहाज़ भेजे थे। इस शहर की बढ़ती अमीरी के साथ जहाँ इस के लोगों को अपना शहर दुनिया के बहुत खूबसूरत शहरों की तरह बनाने का बलबला पैदा हुआ वहाँ जिन्दगी की अमीरी को मनाने के लिए उन्होंने नाच, नज़्म और नाटक भी बड़े उत्साह से अपनी ज़िन्दगी में शामिल किये। कोई बता रहा था, "दुब्रोवनिक के ताले दुनिया में बहुत मशहूर हैं।" और मैं हँस रही थी, "ताले भी और नाटक भी। ताले कमाई हुई दौलत को सँभालने के लिए और नाटक ज़िन्दगी के बन्द भेदों को खोलने के लिए।" कहा जाता है कि पुराने वक़्तों में भी कोई मेला या ब्याह, नाच और नाटक के बिना नहीं हो सकता था। इस समय इस शहर में छब्बीस ओपन एयर थियेटर हैं। हर साल नाटकों का एक 'समर फ़ैस्टीवल' मनाया जाता है। वैसे भी इस शहर की कमाई को शुरू से 'समन्दरी रोज़ी' कहा जाता है। तिजारती जहाज़ों की कमाई के अलावा, इन के किनारे जो अमरीकन, फ्रांसीसी, इतालवी और जरमन लोग गरमी की छुट्टियाँ मनाने आते है, उन से हुई कमाई भी इस की 'समन्दरी रोज़ी' में शामिल हैं। हर साल लोकगीतों और नाटकों का मेला भी परदेशियों के लिए आकर्षण का एक कारण है। यह मेला कोई डेढ़ महीना लगातार मनाया जाता है।

मेलों के प्रबन्धकों की तरफ़ से दिया गया सुनहरी बैज 'लिबरतास' अपनी कमीज़ से टाँगकर, इस लफ़्ज़ स्वतन्त्रता के साथ धरती के इस टुकड़े का पुराना इश्क़ भी देख सकती थी। जब नेपोलियन ने इस को अपनी जीत में शामिल कर लिया था और फिर नेपोलियन की मौत के कुछ सप्ताह बाद आस्ट्रिया ने, तो इस के निहत्थे हुए नौजवान अमीरों ने एक सौगन्ध ली थी कि वह बिन-ब्याहे मर जायेंगे ताकि उन की औलाद को गुलामी न देखनी पड़े···

शहर के मुख्य दरवाज़े के साथ लगते भीतरी दरवाज़े पर एक सतर खुदी हुई है, "दुनिया भर के सोने के मोल पर भी स्वतन्त्रता बेची नहीं जा सकती।" यह सतर इस दरवाज़े की पांच सौ साला बरसी मनाते हुए सन् 1922 में लिखी

गयी थी।

"हमारे पास छह रिपब्लिक्स हैं, पाँच क़ौमें, चार ज़बानें, तीन मज़हब, दो लिपियाँ और एक लालसा हमेशा स्वतन्त्र रहने की"—यूगोस्लाव लोग यह मुहावरा अक्सर दोहराते हैं। यह ठीक है कि यह सब कुछ यूगोस्लाविया का अपना है, पर इस सब कुछ को मुहावरेबन्द पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने किया था, और इस के लिए वे नेहरू के शुक्रगुज़ार हैं···

पुरातन दीवारों के घेरे से बाहर बिलकुल नयी इमारतें हैं—पहाड़ों के इर्द-गिर्द मीलों तक फैली, शीशों के दरवाज़ोंवाली और जिन दरवाज़ों के सामने देश-देश की कारें पंक्तियाँ बाँधे खड़ी हैं– पर तवारीख़ी शहर की गलियाँ, तवारीख़ के भारी क़दमों में मसलीं, आज भी केवल पैदल चलते पैरों के लिए खुली हैं। बड़ी गली के पहलू से निकलती छोटी गलियों के सिरे चुपचाप उस सागर की ओर तकते रहते हैं, जिस के पानियों को चीरकर इस शहर में कभी दौलत भी आया करती थी और हमलावरों की तलवारें भी···

एक खम्भे के पास बनी वे तीन सीढ़ियाँ आज बहुत थकी हुई लगती हैं, जहाँ कभी शाही फ़रमान सुनाये जाते थे—पहली सीढ़ी पर खड़े होकर शहरवासियों पर किसी नये लगे टैक्स का फ़रमान, दूसरी सीढ़ी पर खड़े होकर कोई उस से अहम मामले पर सुनाया जाता फ़रमान और सब से ऊपरी तीसरी सीढ़ी पर खड़े होकर सब से बड़ी बात—जंग के एलान जैसी –के बारे में सुनाया जाता था। आज इन सीढ़ियों के चौगिर्दे की चुप में जो सरसराहट है, लगता है वह उन लाखों और करोड़ों साँसों में भीगी हुई है, जो गरम साँस कभी इन फ़रमानों को सुनते हुए लाखों और करोड़ों होंठों से निकले थे···

चर्च के आँगनों की छाया उदासी हुई है। जाने कितने हाथों की प्रार्थना इस ने सुनी है। इस की छाया में उनींदे-से कबूतर हर वक़्त बैठे रहते हैं—शायद लोगों के जुड़े हाथों का चिन्ह बनकर बैठे रहते हैं।

इन पुरानी तवारीख़ी इमारतों के दरीचे और उन के खण्डहर, और क़िलों की चारदीवारियाँ, नाच और नाटक खेलने के लिए अजीब साज़गार है। पत्थरों और झाड़ियों की ओट से निकलते नाटकों के पात्र, और पुराने पहाड़ी वेशों में—फूलदार कढ़ाई के चोले, मोहरों के हार और लाल-काली कुरतियाँ पहने और सिरों पर पटके बाँधकर निकलती, नाचियाँ, वर्तमान का हाथ पकड़कर उसे बीते समय के घर बुलावा देने लगती हैं।

इस समय शहर में, इसी शहर की सोलहवीं सदी में हुए एक शायर और नाटककार, मारिन दरयिच के, समय की धूल में ढक गये नाटकों को, झाड़-पोंछकर फिर से पढ़ने और उन पर बहस करने के लिए एक सभा बनी है। अमरीका से भी कुछ साहित्य-विज्ञानी आये हुए हैं, यह बहस एक हफ़्ता रहेगी।

इस लेखक के दो नाटक इस समय शहर में खेले जा रहे हैं। एक नाटक परी-कहानी है। इसे खेलने के लिए सागर के किनारे एक पहाड़ी स्थान चुना गया है। पेड़ों का बहुत बड़ा एक घेरा है और उन में से निकलते ऊँचे-नीचे कितने ही रास्ते हैं। परियों के अलोप होने के लिए, या प्रत्यक्ष होने के लिए, और पेड़ों पर चढ़ने के लिए, या उन पर पड़े हरे पत्तों के झूले झूलने के लिए, अजीब क़ुदरती माहौल है।

शेक्सपीयर के नाटक भी बहुत मक़बूल हैं। एक पुराना क़िला इन नाटकों को खेलने के लिए इतना योग्य स्थान बन गया है कि वह सिर्फ़ शेक्सपीयर के नाटकों के लिए सुरक्षित रख लिया गया है।

'ऑथेलो' और 'हैमलेट' के पात्र, क़िले की लम्बी और अँधेरी सीढ़ियों में से निकल के झरोखों से लालटेनें लेकर झाँकते, मुँडेरों पर मशालें लेकर चलते और लकड़ी के बड़े-बड़े पुरातन दरवाज़ों के ताले खोलते और बन्द करते अपनी पूरी भयानकता से दर्शकों को मोह जाते।

समूची वादी के एक ओर जल-थल करता सागर है और दूसरी ओर मरे सागर (डैड सी) की जीती पसली पहाड़ों में खुबी हुई है। वादी का एक हाथ खुली हथेली की तरह लगता है, जिस पर क़ुदरत की खूबसूरती जगमग करती लगती है···और वादी का एक हाथ बन्द मुट्ठी की तरह लगता है जिसे सिर्फ़ बहुत होले-होले खोला और जाना जा सकता है। इतिहास की जद्दोजेहद इस मुट्ठी में बन्द है···

इस बार किसी देश को देखने का मेरा तजरबा बिलकुल अलग क़िस्म का है। दुभाषिये की जरूरत नहीं, उस के बिना शहर में चल जाता है। होटल शहर के दरवाज़े से बाहर है, बिलकुल सागर के किनारे। मेज़बानों ने कमरा ले दिया है पर रोटी ख़ुद ख़रीदनी है। उस के लिए वह 7,500 दीनार रोज़ के मेहमान को देते हैं, पर साथ यह कहकर, "हमें मालूम है, यह काफ़ी नहीं होंगे, बड़े होटल में इस से रोटी नहीं ख़रीदी जायेगी, पर अगर एक वक़्त रोटी किसी सस्ती जगह से खा ली जाये···" और शहर में सस्ती जगह ढूँढ़ने के लिए पलातसा के बाज़ार में और उस में से दायें-बायें निकली पत्थरों की गलियों में घूमते हुए, लोगों से सीधा वास्ता पड़ता है। नये दीनार चालू हो गये हैं (सौ पुराने दीनार एक नये दीनार के बराबर) पर अभी तक पुराने दीनारों में गिनती करनी लोगों को आसान लगती है। वे इसी में क़ीमत बताते और पूछते हैं।

अभी एक बड़ी उम्र की औरत ने बाँह पकड़ ली थी कि मैं उस से बाँस का बना एक छोटा-सा बैग ज़रूर ख़रीदूँ। क़ीमत पूछी, पता चला पाँच हज़ार दीनार। पास कोई लाल धागों के कढ़ाईदार थैले बेच रहा था। उस का तक़ाज़ा था कि मैं एक थैला ज़रूर ख़रीदूँ। क़ीमत पूछी, छह हज़ार दीनार। सुबह-सुबह

चाय के प्याले की ज़रूरत थी, बाज़ार बहुत दूर था, वैसे भी वहाँ चाय नहीं मिलती। इसलिए होटल में ही चाय पीनी थी जिस का बिल 1,440 दीनार था···

रोज़ समर समारोह के किसी नाटक का टिकट मुझे मेज़बान भेज देते हैं, वैसे उस टिकट की क़ीमत पाँच हज़ार दीनार है सिर्फ़ एक शो का।

देख रही हूँ—सामने चर्च में, माथे से, छाती से और घुटनों से बहते ख़ून-वाली ईसा की पेण्टिंग लगी हुई है। बाहर दीवार के साथ पीठ टिकाये आज के आर्टिस्ट अपनी पेण्टिंग्स फ़र्श पर रखकर बेचने के लिए बैठे हैं। गिन्सबर्ग की नज़्म याद आ रही है—"दुआ कर सिर्फ़ मर्द और औरत के लिए, जो अहसासों के बादशाह होते हैं और अपनी जीती हड्डियों के ईसा···"

शहर की पुरातन पथरीली दीवार पर चढ़कर सारे शहर के गिर्द घूमना एक अजीब तजरबा है···दीवार से ज़रा नीचे पर बिलकुल पास लगते घरों को यह एक ख़लल ज़रूर लगता होगा, क्योंकि उन के कमरों में बिछे बिस्तर, मेज़ों पर पड़ी रोटियाँ और आँगनों में सूखने डाले गये कपड़ों की क़तारें दर्शकों की आंखों के सामने बिछी रहती हैं। आधे शहर की दीवार पर घूमते हुए एक ओर सागर दिखता है और एक ओर घरों की क़तारें। और आधे शहर के एक ओर पहाड़ और नयी बस्तियाँ, और एक ओर पुराने घरों की क़तारें। सारी वादी अपनी विशालता से लेकर अपने भीतरी कोनों तक सब कुछ दर्शकों को दिखा देती है।

कबूतर वादी के लोगों की तरह ही इस वादी की रौनक़ हैं। चहलक़दमी करते कबूतर, शहर के सब से बड़े चौक में, बिलकुल निश्चिन्त रहते हैं। इनसानी हाथों से कोई ख़तरा उन्होंने कभी सूँघा नहीं लगता, इसलिए बड़े इतमीनान से, वे लोगों की हथेलियों पर से भी दाना चुग लेते हैं···

पिछली जंग में मैं ने लोगों की ज़िन्दगियों से बड़ा उधार किया था। जंग के दिनों ने, और उस के बाद की नयी उसारी ने, लोगों की उम्र के क़ीमती साल ख़र्च लिये थे, पर अब जब वह उधार चुकाने लगी है तो उस पीढ़ी के लोग ढलती उम्र को आ पहुँचे हैं। ज़िन्दगी को खुलकर ख़र्चने का वक़्त नहीं रहा। वे आज के जवान बच्चों को बड़े प्यार और रश्क से देखते हैं—जिन के साथ ज़िन्दगी बड़ी नक़द सौदा करती लगती है। दिन ढलते ही आज की जवान लड़कियाँ और लड़के किसी गिरजे की सीढ़ियों पर क़तारें बाँधकर बैठ जाते हैं। बारी से कोई गिटार बजाता है, कोई गाता है और फिर सुबह होनेवाली हो जाती है। ये जवान बच्चे नीले और भोले कबूतरों की तरह ज़िन्दगी की हथेली पर से दाना चुगते लगते हैं···

"आज जिस क़िले में 'हैमलेट' खेला जा रहा है, यह फ़ासिस्टों के वक़्त एक

जेल थी। मैं तीन साल इस क़िले में क़ैद रहा हूँ। आज जब अपने देश के लड़के और लड़कियों को इस क़िले की दीवारों के पीछे से किसी नाटक के पात्र बनकर निकलते देखता हूँ तो मेरे हाथ अनायास अपने कन्धों की ओर चले जाते···क़ैद के तीन बरस इन कन्धों पर नील बनकर पड़े हुए हैं···"

शहर के एक म्यूज़ियम का डायरेक्टर मिस्टर जोसिप लूएतिच आज मुझे कह रहा था, और मुसकरा रहा था। उस की मुसकराहट म्यूज़ियम की दीवारों पर लगी उन तसवीरों की तरह थी जो कभी जहाज़ों के कप्तानों ने, किसी समुद्री तूफ़ान से बचने के बाद, ख़ुद के शुकराने में बनवायी और गिरजों को अर्पण की थीं···

आग के फल : आग की लकीर

सागर के किनारे सूर्य डूबता नहीं लगता, आग की एक लपट पानी में बुझती लगती है। और फिर सागर उस कटोरे के पानी की तरह काला-नीला हो जाता है जिस में बहुत-से कोयले बुझाये हों। पर अम्बरी आग बुझती नहीं। कुछ घड़ियाँ ही गुज़रती हैं कि आग का वह टुकड़ा मल-मलकर पानी में नहाया हुआ, और आगे से भी ज़्यादा चमका हुआ, फिर पानी में से निकल आता है। आज कुछ सतरें अनायास होंठों पर फड़कने लगीं—

"आग का टुकड़ा मैं ने अभी पानी में बुझाया था
और फिर अभी जलता हुआ पानी में से निकल आया है
शायद तेरा इश्क़ भी अम्बर की आग है
कि जिसे बुझाने के लिए आज कोई सागर भी काफ़ी नहीं।"

सोच रही थी—नज़्में आग के फूल होती हैं। ये मनुष्य की छाती में खिलती हैं, माथे में खिलती हैं, और यहाँ तक कि रीढ़ की हड्डी पर भी इन के फूल पड़ जाते हैं। और वह मनुष्य एक अमानुषिक हद तक मनुष्य हो जाता है, पर मनुष्य-जाति से बिछुड़ जाता है। यह बिछुड़न उस पर क़हर भी करती है और करम भी। वह बाँहें पसारकर सारी धरती को गले से लगाना चाहता है, पर धरती की चंचलता फूलों से नहीं बहलती, वह ताक़त के और जंग के शोख़ खेलों से बहलती है। और उस की बाँहें खिलाव में फैल रह जाती हैं···और फूल एक-एक कर के ज़िन्दगी की अर्थहीनता की काली खाई में गिरते रहते हैं···

"जो कभी आजकल हमारी वेसना पारुन यहाँ होती! वह हमारी बहुत बड़ी शायरा है।" दुब्रोवनिक का एक शायर लुको पालीऐतक अभी मुझे कह रहा था, "पर धरती का कोई टुकड़ा भी उस के पैरों को थाम नहीं सकता। वह कभी किसी गाँव में होती है, कभी किसी शहर, कभी किसी देश में। सारी ज़िन्दगी उस ने अकेले गुज़ारी है इसी तरह, पैरों में सफ़र के छाले पहनकर···"

अब पालीऐतक ने उस के ख़यालों में खोकर उस की एक नज़्म की कुछ

पंक्तियाँ पढ़ीं :

"आज मैं ने अपनेआप से कहा कि वह मेरी बात सुने !
मुझे वहाँ ले जाये — जहाँ कुछ जाना-पहचाना न हो
सिर्फ़ पार का बादल सुबह-सबेरे रास्ता दिखाये
और रात का चाँद मेरा पहरन बुने
आज मैं ने अपनेआप से कहा कि वह मेरी बात सुने !"

पर कोई सिर्फ़ तब ही तो नहीं होता, जब दिखता है। वैंमना पारुन वहीं थी, मेरे पास बेंच पर बैठी हुई। पालीगेतक उस की नज़्में पढ़ रहा था :

"जिस्म सागर के बहुत गहरे पानी की तरह होता है,
इस में सिर्फ़ कुछ मछलियाँ होती हैं—
जो कुलबुलाती हैं और चमक जाती हैं···
मेरा इश्क़ गुफा में से निकलते पानी की तरह है —
कौन जाने वह कहाँ से आया, और कहाँ पहुँचेगा !
अभी-अभी रोशनी का पैर एक पर्वत से फिसल गया
और पत्ते, जो मेरी छाती से उगे, अब छाती पर झर रहे···
वह जो इस राह कभी नहीं आया
मैं उसे एक चुप अदब भेज जाऊँगी
और आज मैं एक वर्जित पीड़ा गान गाऊँगी।"

इस ज़िन्दगी का कोई क्या करे जहाँ सिर्फ़ ख़ुशियाँ वर्जित नहीं होतीं, पीड़ा भी वर्जित होती है। कल रात नो मेनिओव के पेश किये हुए लोक-नृत्य देखे थे, जिस में मैसेडोनिया का एक लोक-गीत था :

"हो मोरे सुन्दरी ! हो मोरे सुन्दरी ! मैं क़ासद बनकर आया
मख़मल दे दे, धागा दे दे, मुझे अभी लौटकर जाना
मालिक मेरा विरागी बैठा तेरा पहरन सीता
कहाँ से आया क़ासिद बन्दा कौन है मालिक तेरा ?
मैं ने कभी आँख न देखा नाम न जाने मेरा
ओ मोरे सुन्दरी ! ओ मोरे सुन्दरी ! यही तो कहना मेरा
उस ने तेरी परछाईं देखी, नाम जानता तेरा···"

कहते हैं बारह दासियों के घेरे में कोई सुन्दरी हमाम की ओर जा रही थी कि एक कपड़ों के कारीगर ने उस की परछाईं देख ली, बुत ख़यालों में बस गया था, इसलिए नाप की ज़रूरत नहीं रह गयी थी, उस ने अपने एक शागिर्द को सुन्दरी के पास भेजा था कि उसे सिर्फ़ कपड़ा चाहिए, नाप नहीं चाहिए। परछाइयों को भी इश्क़ करनेवाले लोगों का कोई क्या करे ? ऐसे लोगों का और कुछ नहीं बनता सिर्फ़ गीत बनते रहे हैं :

एक और नाच का गीत था—

"ऊँचे झरोखे खड़ी सुन्दरी तरकीब बना
गज़-गज़ लम्बे बाल काट के एक रस्सी लटका
एक बार तेरा हाथ चूम लूँ
एक बार मैं तुझ तक पहुँचूँ
फिर चाहे मर जाऊँ···"

आज, सिर्फ़ आज, बस एक घड़ी जीने की कामना करता गीत था··· रात तो मेलिओव ने बताया था कि वह शायद इस साल के आख़िर में अपने लोक-नाच लेकर हिन्दुस्तान आयेगा। वह अपनी नाची लड़कियों को किसी पंजाबी या हिन्दी-गीत की एक-दो पंक्तियाँ सिखलाना चाहता था। पंजाब की एक बोली मैं ने उसे याद करवा दी :

"दो दिन घट जिअना पर जिअनामटक दे नाल···"

वह ख़ुश था कि जीने के फलसफे से भरी हुई यह सतर उस के किसी लोक-नृत्य में ख़ूब उतरेगी···

और आज इन गीतों की बात करते, और वैसना पारुन की नज़्में पढ़ते हुए पालीऐतक ने अपनी नज़्मों के कुछ वर्क़ पलटे—

"आज की रात बहुत भारी है···
तेरा बदन—सागर के पानी की तरह सिल्की और सलेटी
शायद माँ ने सागर की सेज पर तुझे कोख में डाला था
मैं ने तेरे हुस्न का एक घूंट पिया है और दर्द चखे है
और इस नज्म का जन्म पीडा की गुफा में हुआ है
एक मासूम बच्चे की तरह इस ने धरती पर पाँव रखे हैं"
"मैं कोई आधे साल से—
तेरे आँगन के पेड़ की परिक्रमा में खड़ा हूँ
और मेरी जन्महारी, सब कुछ जानती,
एक गहरी साँस भर रही
और पिछली कोठरी में बैठी चुप एक प्रार्थना कर रही
आज की रात बहुत भारी है
रात की छाती में एक सितारी आत्मा
और मेरे सीने में तेरे इश्क़ की दौलत
और एक गीत आज दबे-पाँव आसमान में चल रहा
प्रभात अभी बिलकुल क्वारी है
कि अभी उस ने वासना नहीं सूँघी
और तेरा बदन कवियों की तरह मेरे बदन पर बरस रहा

झरनों की कमर में पानी का लहँगा है
और मेरी पलकों पर तेरे हुस्न के साये
और तेरा बदन संगीत की तरह मेरे बदन से ऊपर रहा
सितार, आँगन की बेल पर अंगूरों की तरह लगे हैं
तू—हवा में लहराता चैरी का पेड़
और मैं - एक पेड़, बेनाम फलों से लदा
नहीं, हम पेड़ नहीं, हम···सिर्फ़···दो···ख़ामोशियाँ···"

नज़्म के भीतर की ख़ामोशी बहुत गहरी थी - नज़्म को पढ़कर या सुनकर भी उसे तोड़ा नहीं जा सकता था···

दुब्रोवनिक से थोड़ी दूर एक बहुत ख़ूबसूरत टापू है—लौकरम। इस समय हम इस टापू में थे। नज़्म की ख़ामोशी को तोड़ा नहीं जा सकता था, इसलिए कुछ देर बाद पालीऐतक ने सिर्फ़ इतना कहा, "इस टापू में सिगरेट पीना मना है, मैं सिगरेट नहीं पी सकता। चीड़ के पेड़ों के रूखे तिनकों को आग का ख़तरा रहता है।"

हँसी-सी आ गयी, सिर्फ़ इतना कह सकी, "पर नज़्में तो आग के फूल होती हैं, और हम सारा वक़्त इन चीड़ के पेड़ों के नीचे नज़्में पढ़ते रहे हैं।"

पालीऐतक की मदद से बसों और ट्रामों में घूमते हुए मैं ने दुब्रोवनिक की राहें भी देखी हैं और क्रोएशियन काव की कुछ पगडण्डियों पर भी चली हूँ।

या इस तरह कहूँ कि काव सागर की जल-थल करती गहराई को तरजुमे की छोटी-सी बेड़ी में बैठकर देखा है। कोई लहर बहुत पास से छू जाती थी, जैसे यूरे काशरेलान की एक सतर—

"मैं ने उसे अपनी रूह की तरह आज नग्न देखा
और ख़ुद असम्भव हो गया एक असम्भव की प्राप्ति के लिए"

कहते हैं तीनऊजेविच एक इमोतस्की नाम के बड़े निमाने से गाँव में पैदा हुआ था। पर उस के पैरों में जाने सफ़र की कितनी लकीरें थीं, वह सारी उम्र (सन् 1891 से 1955 ई.) घूमता रहा। दुनिया की बारह ज़बानें सीखीं, जिन में संस्कृत भी थी। सारी उमर घर नहीं बसाया। तीन साल सिर पर एक हैट पहने रखा और गलियों में और पुलों के नीचे सोकर सारी उमर नज़्में लिखीं (उस ने महाभारत के कुछ हिस्से तरजुमा भी किये थे) जिन्दगी से कोई भी समझौता उसे मंजूर नहीं था—यहाँ तक कि आख़िर जब मुल्क ने उसे डॉक्टर की डिगरी देनी चाही, उस ने लेने से इनकार कर दिया था। उस की नज़्में सुनते हुए, समय के काले अथाह पानियों से कई बार उस का चेहरा उभरता रहा :

"यह मेरे सीने का जलाल है कि मेरा माथा आग की तरह
चमकता है
पलकों की नज़र का पसीना, और हर सोच सपनों से लदा
लगता है—मैं अपने इस हुस्न के हाथों बहुत जल्द मरूँगा···
मैं अपनेआप का आख़ीर हूँ···
छाती में चुभी एक सुई के बिना
कहीं कुछ भी नहीं, जिसे मैं अपना कह सकूँ···
मैं सपनों के बोझ-तले एक पत्ते की तरह काँपता
और तू—जहाँ पहुँचकर एक परी-कथा ख़त्म होती है
जो एक बार मैं तेरे होंठ छू लूँ
मैं ख़ुदा को यह जन्म देने का क़ुसूर माफ़ कर दूँगा···
यह मेरे लफ़्ज अपनी गहराई, सदका लिये बहुत काले हैं···
मैं अपनेआप के लिए एक अजनबी हूँ
और शायद बहुत बड़े अँधेरे से टूटा, अंधेरे का एक टुकड़ा।
पर आत्मा की छाया में कुछ रंग खेलते हैं
छाती जब हिलती है, कुछ किरमिजी लकीरें मचलती हैं
मुझे चाँद पर जाना है, और सूरज को पार करना है
और फिर सब से दूर के सितारे पर पहुँचना है
मैं ख़ुद, ख़ुद पर, एक पुल की तरह बिछूँगा।
मेरा ख़याल है—मैं एक तीर हूँ
कमान से निकला—अम्बर में घूम रहा
एक तीर - सिर्फ़ आग की लकीर !"

रात गहरी हो गयी है। सामने क़िले की दीवार सागर में कोहनी की तरह खुबी है। दीवार पर जहाज़ों के निशान देने के लिए लाल बत्ती लगी हुई है—और वह पानी में एक लम्बी लकीर डाल रही है—लाल जलती आग की लकीर।

और लग रहा है, यह तीनऊजेविच की क़लम है—हर बन्दरगाह पर पानी में काँपती आग की लकीर···

एक बैठक : एक दुपहर

एअर-रेड की आवाज़ थी, फिर गिरते हुए बम्ब की, और फिर उस की आग की चमक देखकर, हैरानी से मस्त हुए बच्चों की आवाज़ें : 'मम्मी ! क्रीम बम्ब, डैडी ! क्रीम बम्ब।' और फिर बम्ब के फटने की आवाज, और बच्चों की वे आवाज़ें जो मुरदा माँ, और मुरदा बाप के सीने से लिपटकर रो रही थीं, 'मम्मी ! आई डोण्ट लाइक क्रीम बम्ब, डैडी ! आई डोण्ट लाइक क्रीम बम्ब।'

कमरे में वह टेप लगा हुआ था जिस में कुछ देर पहले, एक अमरीकन शायर माइकल ने मेरे घर आकर वियतनाम पर लिखी अपनी नज़्म गायी थी।

शिव के हाथ में से चाय का प्याला गिरते-गिरते बचा। हलवे की भरी हुई प्लेट को एक तरफ़ सरकाते हुए कहने लगा, "दीदी ! कुछ भी गले से नीचे नहीं उतरता, यह नज़्म सुनकर कुछ भी नहीं खाया जायेगा।"

सब के गले में इस नज़्म का धुआँ था। और साँसें कड़वी होती चली गयीं··· अब टेप पर एक अमरीकन लड़की जौनबेज़ गा रही थी, "हम मरे हुओं की गिनती नहीं करते, जब ख़ुदा हमारी तरफ़ है," जौनबेज़ की आवाज़ हमारे कानों में चुभ रही थी, दिलों को टीस रही थी। उस का व्यंग्य तेज़ छुरी की तरह मार कर रहा था :

मैं जिस देश में रहती हूँ, ख़ुदा उस की तरफ़ है···
तारीख़ बतायेगी—ख़ून बतायेगा
कि घोड़ों के दस्ते भागते हुए गुज़रे
औ' रेड इण्डियन कुचले गये
फिर घरेलू जंग औ' शहीदों के नाम
मुझे ज़बानी याद करने पड़े···

हाथ में बन्दूकें, साथ ख़ुदा खड़ा हुआ
पहली जंग आयी, गुज़र गयी,

औ' जंग के कारण का मुझे आज तक पता नहीं चला।
पर मैं ने उसे स्वीकारना सीख लिया है,
वह भी ग़रूर से
मरे हुओं की गिनती नहीं करते, जब ख़ुदा हमारी तरह है···
फिर दूसरी जंग भी आयी, औ' गुज़र गयी
हम ने जरमनों को माफ़ कर दिया, और उन्हें दोस्त कहा
भले ही उन्होंने साठ लाख लोग क़त्ल किये थे
अब जरमन भी हमारे साथ हैं,
और ख़ुदा उन की तरफ़ है···
मैं ने महान् रूसियों से नफ़रत करना सीखा
औ' यह भी कि हमें उन से ज़रूर लड़ना है
अब हमारे पास बड़े हथियार हैं, हम उन पर चलायेंगे
आप सवाल मत पूछें, पूछ नहीं सकते।

मैं ने वर्षों यह बात सोची है
ईसा मसीह रोया, तो हम ने एक चुम्बन से उसे दग़ा दे दिया
मैं कुछ नहीं कहती, आप सोचें!—ख़ुद सोचें
मैं बेहद थक गयी हूँ—
मैं ने, जो दुविधाएँ जानी हैं,
वक़्त उन का पता नहीं दे सकता
शब्द मेरे मस्तक में जमा होते हैं,
औ' फिर ज़मीन पर फिसल जाते हैं
मगर ख़ुदा मेरी तरफ़ है—तो जंग नहीं होगी···
नहीं होगी···

शिव ने हवा में बाज़ू फहराया, "ऐसी आवाज़ कभी नहीं सुनी, कभी नहीं सुनी, मैं मर गया···" जोनबेज़ की आवाज़ में तीनों काल लिपटे हुए प्रतीत होते थे—काल, जो लोगों के ख़ून में भीगता रहा। काल, जो लोगों के ख़ून में भीग रहा है। और काल, जो लोगों के लहू में भीगता रहेगा, तब तक, जब तक ख़ुदा सचमुच इस आवाज़ की बग़ल में आकर नहीं खड़ा हो जाता, और हर उस आवाज़ के पहलू में नहीं खड़ा हो जाता, जो ज़िन्दगी के लिए तड़प रही है···

मेरा बेटा एक टेप उतार रहा था, एक लगा रहा था। वह किंग लूथर के देश का गीत सुनाना चाहता था, 'यह आज हमारा नहीं पर कल हमारा होगा।" टेप में से आवाज़ आने में देर लगी तो शिव का सब्र क़ाबू में न रहा। उसे बताया गया कि टेप उलटा है, थोड़ी देर लगेगी, शिव ने हैरान होकर टेप की तरफ़ देखा,

'अभी यह सीधा था, अभी उलटा कैसे हो गया ?"'

मेरा बेटा हँस पड़ा - "अंकल ! यह तकनीकी बात है।"

"इसी तकनीक का तो मुझे पता नहीं चल सका," शिव मन की आग से पिघला हुआ था। कहने लगा, 'मैं मुहब्बत को हमेशा सीधा रखता रहा, पर वह हर बार न जाने किस वक़्त उलट जाती थी···अच्छी-भली आवाज़ न जाने कहाँ गुम जाती थी···फिर मैं बजाता कुछ था, बजता कुछ था···"

टेप में किंग लूथर के देश का गीत अभी नहीं मिल पाया था—कि अमरीकन मछुओं का गीत बज उठा, "मर्द का जन्म मेहनत करने के लिए हुआ है, औरत का रोने के लिए" · गीत के मछुए समुद्र में डूब जाते हैं, और किनारे पर उन की औरतें रोती हैं···

"दीदी ! हम सब इस गीत की तरह, आधे समुद्र में डूब जाते है, और आधे किनारे पर बैठे रोते रहते हैं,' शिव की आवाज़ दार्शनिक हो उठी, "शायर के दिल में मर्द भी होता है, औरत भी। वह मर्द की तरह मेहनत करने के लिए जन्म लेता है, और औरत की तरह रोने के लिए···"

सामने मेज़ पर 'अफरो-एशियन राईटिंग्ज़' का नया अंक पड़ा हुआ था। शिव कभी अपनी काँपती हुई उँगलियों में दबे हुए सिगरेट को जलाता और कभी सामने पड़े अंक के पन्ने पलटता संभलने की कोशिश मे था कि अचानक बोल उठा, "थान हे मिल गयी" वियतनामी शायरा थान हे की नये अंक में तसवीर भी थी और नज़्म भी।

"सुनो दीदी !" शिव ने थान हे की नज़्म पढ़नी शुरू की, "सन्तरे के पेड़ों पर मैं जब चिड़ियों की चहक सुनती हूँ, तुम याद आते हो, और मेरे हाथ में से चरखे की हत्थी छूट जाती है। मैं इस तरह तुम्हारा इन्तज़ार कर रही हूँ, जैसे सन्तरे का पेड़ फल लगने का इन्तज़ार करता है···"

थान हे के हाथ मे से चरखे की हत्थी फिसली तो शिव के हाथ में से उस का अपनाआप फिसल गया। उस की आवाज़ पहले गले में काँपी फिर दीवारों से टकरायी, "मैं और सूरज फिर घर के पीछे चले जाते हैं, उसे घर की मरी हुई धूप दिखाता हूँ···"

पाकिस्तान की रेशमा ने जैसे शिव की बात का साथ दिया, टेप में से उस की आवाज़ बिलख पड़ी, "हाय ओए रब्बा ! नहीओं लगदा दिल मेरा···" (हाय ख़ुदाया ! मेरा दिल नहीं लगता···)

"देखो दीदी। रेशमा की धूप भी मरी हुई है, थान हे की धूप भी मरी हुई है, जौनबेज़ की धूप भी मरी हुई है, माइकल की धूप भी···और दीदी ! तुम्हारी धूप भी मरी हुई है। तुम ने जैसे लिखा था—मैं थी, रात थी, ख़यालों की शराब थी, और बड़े दोस्त···पर एक कोई वह था, जो बहुत बार बुलाने पर भी नहीं

आया था···" और शिव ने काँपकर पूछा, "यह जो एक होता है, वह कहाँ होता है?"

"इसी एक की तो सारी बात है, शिव?" मैं ने शिव को गरम चाय का प्याला दिया और कहा, "यह एक अपनाआप भी है, अपना महबूब भी, और जगह-जगह पर व्यर्थ मर रहे लोगों की साँस भी···"

शिव को डेढ़ बजे की गाड़ी पकड़नी थी, डेढ़ बज चुका था, गाड़ी जा चुकी थी। वक़्त अपनी रफ़्तार चला जा रहा था, सिर्फ़ शिव मरी हुई धूप के पास बैठा हुआ था···और रेशमा उस लाश के सिरहाने थी···थान हे बेहद उदास थी···माइकल बहुत चुप था···और जौनबेज़, उस लाश के पास खड़ी व्यंग्य से कह रही थी, "हम मरे हुओं की गिनती नहीं करते···"

और मैं—हम सब—इन्तज़ार कर रहे थे कि ख़ुदा सचमुच कब हमारी तरफ़ होगा?···?

इतालवी धरती

वैसे तो हर देश एक नज़्म की तरह होता है, जिस के कुछ अक्षर सुनहरे रंग के हो जाते हैं और उस की आबरू बन जाते हैं। कुछ अक्षर उस के लाल हो जाते हैं, उस की अपनी या बेगानी बन्दूक़ों से लहू-लुहान होकर। और कुछ अक्षर उस की हरियाली की तरह हमेशा हरे रहते हैं, जिन में से उस के भविष्य के नये पत्ते फूटते हैं···और इस तरह हर देश एक अधूरी नज़्म-सरीखा होता है। पर इतालवी धरती को छुआ तो लगा—जैसे एक नज़्म के पूरे या अधूरे होने के अमल को बड़ा प्रत्यक्ष देख रही हूँ। इस धरती के चप्पे-चप्पे पर संगमरमर के बुत ऐसे लगते हैं जैसे इस धरती में से बुत उगते हों। लगा—नज़्म के जो अक्षर ख़ानों में गिर गये वे संगमरमर बन गये, और जो अक्षर धरती में बीजों की तरह पड़ गये वे माइकल ऐंजलो के तथा और कलाकारों के हाथ बनकर उग पड़े···और इन सफ़ेद अक्षरों के इतिहास से लाल ख़ून से रंगे अक्षरों का इतिहास भी बहुत लम्बा है—जब स्पार्टकस जैसे हज़ारों ग़ुलाम, शासक रोमनों की तमाशबीनी के लिए एक-दूसरे की जान पर खेलते थे···

और इस नज़्म के अक्षर पीले भी हैं—खौफ़ज़दा—पोप के वेटीकन शहर की ऊँची दीवारों से टकराते और गुच्छा होकर ख़ुद ही अपने अंगों में सिकुड़ जाते। इतालवी धरती एक ऐसी होनी की धरती है, जहाँ कई अक्षर उस के हरे जंगलों की तरह भविष्य की शाखाएं भी बन गये हैं—और कई अक्षर हमेशा के लिए खो भी गये हैं—शायद पहली बार तब खोये थे जब 'डिवाइन कॉमेडी' का दान्ते जलावतन हुआ था और उस के साथ वे भी जलावतन हो गये थे···

और इस नज़्म के कुछ अक्षर वे भी हैं जो किसी सैलानो से नहीं पढ़े जा सकते—यह सिर्फ़ लिनार्दोडिवेन्सी की मोनालिसा की तरह मुसकराते हैं—रहस्य भरी मुसकान!

मेरी सम्पादकीय डायरी

हैलो ! प्यारे माइक !

प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार बोरिस पास्तरनाक जब अपनी महबूबा ओल्गा एवनिस्काया से बातें किया करता था, उन दोनों को अपने बीच एक तीसरी चीज़ का एहसास हमेशा रहता था। दोस्तों ने उन्हें सावधान कर रखा था कि उन के घरों की दीवारों में माइक्रोफ़ोन जरूर चिने हुए हैं। सो, पास्तरनाक कई बार हँसकर 'डीयर लिटल माइक' को याद किया करता था···यह माइक किसी-न-किसी सूरत में हमेशा एक साहित्यकार और दुनिया के बीच छिपकर बैठा रहता है—चाहे इसे किसी समाज ने रखा हो, चाहे किसी मज़हब ने या चाहे सियासत ने—और समय-समय पर दुनिया के कई कवियों और साहित्यकारों का इस से वास्ता पड़ता रहता है।

सत्रहवीं सदी में एक पंजाबी कवि हुआ—सुथरा। वह सब से ज़्यादा अपने बेबाक स्वभाव के लिए जाना जाता था। उन दिनों क़ाज़ी लोग किसी हिन्दू के माथे पर लगा हुआ तिलक जीभ से चाट कर मिटा देते थे, और वह आदमी दूसरे मज़हब में शामिल समझ लिया जाता था। सो, कहते हैं, सुथरा ने अपने माथे पर गन्दगी का टीका लगा लिया और दिल्ली की गलियों में घूम-घूमकर ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ लगाने लगा -"अब आये कोई क़ाज़ी और चाटे इसे।" पर उस के माथे पर लगे हुए गन्दगी के टीके को कौन चाटता ! सो, इस तरह सुथरा ने माइक को हाथ में लेकर उसे ललकारा था।

ब्रिटिश शासनकाल में हिन्दुस्तान में जिन कवियों की रचनाएँ ज़ब्त हुई थीं (उन 117 कविताओं की अब किताब छपी है—'ज़ब्तशुदा नज़्में') उनका सम्बन्ध आज़ादी की तड़प से था जो उन कवियों ने गुलामी के दु:ख से खौलते हुए लहू से लिखी थीं, और उन नज़्मों का ज़ब्त होना शायरों का इस माइक से खेला हुआ एक खेल था। पर इतिहास में ऐसी सैकड़ों वारदातें हैं जिन में यह माइक छिपकर शायरों-लेखकों पर वार करता है। मैं हंगरी में कई शायरों से मिली थी। उन में से एक ऐसे शायर ने, जिसे चार बरस साइबेरिया में एक जंगी कैदी

के तौर पर रहना पड़ा था, ख़ास तौर से मुझे इस माइक की कथा सुनायी थी। वह जब 1948 में रिहा हुआ तो उस की जेबें टटोली गयीं। उन में उस ने कुछ नज़्में लिखकर डाली हुई थीं। सो, नज़्में पढ़कर उसे एक बरस के लिए फिर क़ैद में डाल दिया गया। आज इस शायर को मुल्क का सब से बड़ा एवार्ड मिला हुआ है, पर इस की पहली नज़्म 1953 में, लिखने के नौ बरस बाद, छप सकी थी। हंगरी का नेशनल एवार्ड आज जिस शायर के नाम पर है, वह आतिला योज़ेफ सचमुच एक बहुत बढ़िया शायर हुआ है। पर उस समय तत्कालीन चिन्तन का न जाने कैसा भयानक माइक हवा में लटक रहा था, कि उस शायर को, उस से घबराकर, रेलवे लाइन पर लेटकर आत्महत्या करनी पड़ी थी।

हेनरी मिलर की किताब 'सेक्सस' (Sexus) के ज़ब्त होने पर उस ने अपने वकील को 27 फ़रवरी, 1959 में एक लम्बा खत लिखा था, जिसकी दो-तीन पंक्तियाँ यह थीं—"मैं विद्वानों, साहित्यिक पण्डितों, मनोवैज्ञानिकों और डॉक्टरों जैसे समझदार आदमियों के शब्दाडम्बर और बनावट से भरे हुए वर्णन से ज़रा भी प्रभावित नहीं हुआ। कचहरी में खड़े किये जानेवाले मुलज़िम का फ़ैसला समय के सयाने लोग नहीं, बल्कि उस के मरे हुए पुरखा करते हैं।"

दुनिया में शायद वह वक्त कभी भी नहीं था, और न होगा, जब समय के चिन्तकों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष माइक से वास्ता नहीं पड़ता था, या पड़ेगा। हाँ, एक वक्त ज़रूर था जब दागिस्तान की एक कहावत के अनुसार, पहला शायर सृष्टि की रचना से एक सौ साल पहले जन्मा था। तब उस शायर के मन में शायद यह कसक ज़रूर उठी होगी कि उस की शायरी को सुननेवाला कोई नहीं है, पर इस बात की तसल्ली भी ज़रूर हुई होगी कि उस के घर की दीवारों में चिना हुआ, या दीवारों की ओट में कान लगाकर बैठा हुआ, कोई माइक नहीं है।

आज एक रोमानियन शायर मारिन सोरैस्कू लिखता है: "मैं शाम पड़ने पर अपने पड़ोसियों के घर जाता हूँ और कुछ कुर्सियाँ माँगकर ले आता हूँ और फिर ख़ाली कुर्सियों को अपनी नज़्में सुनाता हूँ। बहुत अच्छी शाम होती है क्योंकि ख़ाली कुर्सियों के पास न उत्साह का दिखावा होता है, न कोई सेन्सर।" यह नज़्म बहुत प्यारी है। भले ही यह कविता किसी मसले का हल न हो, पर मसलों की भयानकता की ओर यह इशारा करती है जिससे हम सब का वास्ता है। हल सिर्फ़ यही है कि हर चिन्तक मुसकरा सके और मानसिक बल से ज़ोर से कह सके: "हैलो! प्यारे माइक!"

बार्दो होंद

इन्हीं दिनों एक लड़का मिलने आया और उस ने मुझ से पूछा—बार्दो होंद के बारे में आप का क्या ख़याल है ?" क्या कह सकती थी, हँस पड़ी। कहा—"भई, यह एक तिब्बती कल्पना है। लेकिन मैं तो जो लिखती हूँ अपने निजी तजुर्बे से लिखती हूँ या किसी भी देखी-सुनी के आधार पर। लेकिन तुम्हारे साथ एक इक़रार कर सकती हूँ कि तुम्हारा सवाल याद रखूंगी और अगले जन्म में अपना पहला नाविल बार्दो होंद के बारे में लिखूंगी और उस का नाम रखूंगी 'उनचास दिन'—और इस बात पर वह भी और मैं भी खुलकर हँस पड़े थे।

इस तिब्बती कल्पना के बारे में डॉक्टर जुंग लिखते हैं : "यह बार्दो होंद का काल प्रतीकात्मक रूप में उन उनचास दिनों का वर्णन है जो मौत के बाद और पुनर्जन्म से पहले बिताने पड़ते हैं।" सो, इस दशा को प्रतीकात्मक रूप में हम और क्षेत्रों में भी आरोपित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक लेखक के अरचनात्मक काल को हम बार्दो होंद कह सकते हैं—और अपने निजी अनुभवों से देख सकते हैं कि हम सब इतने दिन कैसे बिताते हैं :

हम सब जानते हैं कि हेमिंग्वे ऐसे दिनों में या तो शिकार खेलते थे या गहरे समुद्र में जाकर मछलियाँ पकड़ते थे या मशहूर स्पेनी खेल बुलफ़ाइटिंग के दर्शक होते थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जो दिन रचना-काल के नहीं होते थे, उन में वह रमते फ़क़ीरों के गीत (बाउल) सुना करते थे।

दोस्तोएव्स्की अपने ख़ाली दिनों में सिर्फ़ जूआ खेलते थे, और नीत्शे पहाड़ों की चढ़ाइयों और उतराइयों में कई-कई दिन खो जाना चाहते थे।

कृशन चन्दर कहानियों की तलाश में घूमते हुए सोचा करते थे कि सड़कों की पटरियों पर रहनेवाले लोगों में वह रात को जाकर चुपचाप सो जायें और उन के बिलकुल निजी दुखों और सुखों को कानों के रास्ते अन्तर में उतारकर, उन के यथार्थ की कहानियाँ लिखा करें।

मुझे याद है एक बार मैं ने देखा खुशवन्त सिंह अपने कमरे में मेज़ पर काग़ज़ रखकर हाथ में ली हुई पेंसिल का सिरा कभी ऊपर की ओर और कभी नीचे की ओर कर रहे हैं। बोले, "कुछ लिखा नहीं जा रहा । यह पेंसिल मैं पेरिस से लाया था। इसे उलटा करें तो इस पर खुदी हुई औरत के शरीर पर से पहने हुए कपड़े उतर जाते हैं। मैं सोच रहा हूँ, शायद इसे देख-देखकर ही लिखने की कोई प्रेरणा मिल जाये।"

प्रसिद्ध यूगोस्लाव कवि आस्कर दावीचे से मैं मिली तो उन्होंने बताया कि जिन दिनों उन के हाथ में कलम नहीं होता उन दिनों बन्दूक होती है और वह जंगल में जाकर सिर्फ़ शिकार खेलते हैं।

जैसे विलियम स्टैफ़र्ड एक कविता में लिखते हैं: "कभी धरती के इस टुकड़े पर कोई पुरातन कथा सरकती हुई दिखायी दे जाती है।" सारे लेखक अपने-अपने ढंग से घूमते-भटकते अचानक रचनात्मक पल को सरकते हुए देख लेते हैं, और उस का कम्पन अपने शरीर में सँभालकर रख लेते हैं।

सचमुच नयी रचना का आरम्भ लेखक का नया जन्म होता है। जिस प्रकार तिब्बती कल्पना है कि बार्दो होंद के तीन भाग होते हैं—पहला माइकिक अहसास, मृत्यु के समय का; दूसरा सपने की-सी दशा, और तीसरा पुनर्जन्म की चेतना। जो पहली दशा में शरीर की क़ैद से मुक्ति की सम्भावना होती है, और दूसरी दशा में चमकती हुई रोशनी के पल-पल मद्धिम होने पर अँधेरे का-सा, अनुभव होता है जिस में आँखों के आगे उभरते हुए कल्पना-चित्र भयानक और डरावने होते जाते हैं। और तीसरी दशा में चेतना का वह कम्पन होता है जो पुनर्जन्म का समय निकट आने पर अनुभव होता है। उसी प्रकार ठीक यही दशा लेखकों के उन दिनों की होती है जब पहली कृति को समाप्त कर लिया होता है, और नयी अभी आरम्भ नहीं की होती।

पर लेखकों में एक श्रेणी उन लेखकों की भी होती है जिन्हें पुनर्जन्म का विश्वास नहीं होता और वे घबराकर पहले जन्म की वास्तविकता का भ्रम पाले जाना चाहते हैं—अर्थात् पहली कृतियों के सहारे ज़िन्दा होने का यक़ीन करना चाहते हैं। सो, वे केवल इनामों-तमग़ों को हासिल करने के लिए अपना सारा जोर लगा देते हैं, उस के लिए चाहे कोई भी रास्ता अपनाना पड़े। स्पष्ट है कि उन की आँखों के आगे चमकती हुई रोशनी पल-पल पर मद्धिम पड़ती जाती है, और गहराते हुए अँधेरे में कई भयानक और डरावनी परछाइयों के आकार दिखायी देने शुरू हो जाते हैं। वे अपने डरे हुए दिलों की इस दशा को भुगतते हुए कोई विश्वास अवश्य चाहते हैं जो कह सके कि वे मरे हुए नहीं हैं। और इस प्रकार वे अपने आप को किसी-न-किसी इनामदाता के तरस के हवाले कर देते हैं।

कला वृक्ष

'कल्प वृक्ष की कल्पना कहाँ ख़त्म हुई थी, और उस की हक़ीक़त कहाँ से शुरू हुई थी, पता नहीं। यह आज हमारे लिए सिर्फ़ मिथहासिक कहानी है।

'बोधी वृक्ष' ऐतिहासिक सत्य है, पर जिस के नीचे सिर्फ़ कोई महान् गौतम ही कई वर्षों की साधना कर सकता है।

'इश्क़ वृक्ष' हमारी पुरातन जानकारी का भी सच है और हम में से कइयों के लिए उन के वर्तमान का भी सच है। इस वृक्ष की बात करते हुए मैं इश्क़े-हक़ीक़ी और इश्क़े-मजाज़ी की जोड़-घटा नहीं करूंगी, क्योंकि इस वृक्ष के नीचे बैठनेवाले का तप असल में उसे 'स्वयं' की पहचान तक ले जाता है, और 'स्वयं' की पहचान, इश्क़े-हक़ीक़ी और इश्क़े मजाज़ी की जोड़-घटा में नहीं पड़ती। इस वृक्ष के नीचे बैठनेवाले के लिए ख़ुदा 'यार' बनता है, और रांझा ख़ुदा बनता है।

पर दोस्तो! आज मुझे इन वृक्षों की बात नहीं करनी है। इन जैसा एक और वृक्ष होता है 'कला वृक्ष'। आज सिर्फ़ उसकी बात करूंगी, उन के लिए जिन्होंने इस वृक्ष की साधना को चुना है।

दोस्तो! वृक्ष तो और भी बहुत होते हैं, 'मोह वृक्ष' भी, 'माया वृक्ष' भी, पर जिन्होंने और सब वृक्षों को त्यागकर 'कला वृक्ष' को चुना, उन्होंने कुछ तो इस आकर्षण का भेद पाया होगा।

और यह भेद पानेवालो! फिर क्या कारण है कि आज कला के वृक्ष पर कोई फूल-पत्ते नहीं लगते, कोई उस के फल को चख नहीं सकता, कोई राह चलता मुसाफ़िर घड़ी-दो घड़ी के लिए उस की छांह में नहीं बैठ सकता···

दोस्तो! जैसे योग दो तरह का होता है—एक सबीज योग, और एक निर्बीज योग, कला की साधना भी दो तरह की होती है—एक सबीज साधना और एक निर्बीज साधना।

यह बीज सिर्फ़ 'स्वयं' होता है, जिस ने साधना की मिट्टी में पड़कर हरिया-

बल को भी जन्म देना होता है, रंगों को भी और सुगन्धों को भी।

पर पंजाबी में आये दिन जो बहुत सारा कुछ छप रहा है, किताबों के माध्यम से अधकचरा साहित्य, और अख़बारों के माध्यम से, निन्दा-साहित्य, क्या यह सब निर्बीज साधना नहीं है?

सबीज साधनावाले अपने पेड़ों को हसद और नफ़रत की दीमक नहीं लगने देते, और न दूसरे पेड़ों के लिए उन के हाथों में पत्थर होते हैं, यह सब कुछ निर्बीज साधनावालों के हाथों होता है।

दोस्तो! साधना चुननी है, तो सबीज साधना चुनो!

यह निन्दा-साहित्य की बात एक आँख से दिखायी देनेवाली वीरानी की बात है, और वह भी पंजाबी पत्रकारी तक सीमित। पर एक और वीरानी है जो पहली नज़र में वीरानी नहीं दिखायी देती, पर उसका कल्लर और भाषाओं की पत्रकारी तक भी फैला हुआ है। वह कल्लर 'आदेश रचना' का कल्लर है।

'आदेश रचना' के फीके रंग को चाहे 'समाजवादी' लफ़्ज़ के गहरे रंग के नीचे छिपाकर दिखाया जाय, पर वह काग़ज के फूलों की तकदीर है, धरती के फूलों और फलों की नहीं।

'स्वयं' के बीज बिना कोई समाजवादी फूल नहीं उग सकता। और न कोई 'स्वयं' किसी के आदेश से धरती में उगता है।

जैसे अच्छे फल का अस्तित्व अच्छे बीज पर निर्भर करता है, कलावृक्ष का अस्तित्व प्रबुद्ध और स्वतन्त्र 'स्वयं' पर निर्भर है।

संजीवनी विद्या

महाभारत में कहानी आती है कि शुक्राचार्य को संजीवनी विद्या आती थी। वह असुरों के राजा वृषपर्वा के गुरु थे। एक बार देवताओं ने अपने गुरु बृहस्पति के ज्येष्ठ पुत्र कच को संजीवनी विद्या सीखने के लिए शुक्राचार्य के पास भेज दिया। वह बड़े प्यार से कच को विद्या सिखाते रहे, पर दैत्यो को यह बात अच्छी नहीं लगी, यह कच को किसी तरह मार देने की साज़िश करने लगे।

एक बार कच गाएँ चराने के लिए जगल मे गया हुआ था कि वहाँ दैत्यों ने उसे पकड़कर मार दिया, और उस का खुरा-खोज मिटाने के लिए उस का मांस एक भेड़िये को खिला दिया। कच जब वापस नही आया तो गुरुजी ने संजीवनी विद्या से उसे जीवित करके उसे पुकारा। उस ने भेड़िये के पेट से बाहर आकर सारा हाल सुनाया।

इस तरह एक बार नहीं, अनेक बार हुआ। दैत्य उसे मार देते, पर गुरु शुक्राचार्य उसे फिर जीवित कर लेते। एक बार दैत्यों ने तंग आकर कच को मार-कर, उसकी राख शराब में मिलाकर खुद गुरुजी को पिला दी। फिर रात हो गयी, कच नहीं मिला तो शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या के बल से उसे जीवित कर लिया तो वह उन के पेट में से बोलने लगा कि मैं यहाँ हूँ।

गुरुजी ने उसे बहुत सारी विद्या सिखायी हुई थी, बाकी वहाँ पेट में ही सिखाकर कहा—"बेटा! तुम मेरे शरीर को चीरकर बाहर आ जाओ। बाहर आकर फिर इसी विद्या के बल से तुम मुझे जीवित कर लेना।"

पता नहीं महर्षि व्यास ने इस कथा को किन प्रतीकात्मक अर्थों में लिखा था, पर इस के जो अर्थ मेरे सामने एक-एक अक्षर करके खुल रहे है, वे आज के—मेरे और आप जैसे साधारण इन्सान की साधारण ज़िन्दगी के अनुसार है।

विश्वास से कह सकती हूँ कि एक छोटी-सी संजीवनी विद्या इन्सान के पास भी होती है, हो सकती है, मेरे पास भी, आपके पास भी।

कच, हर दिल के हुस्न, इल्म और ईमान का प्रतीक है, जिसे ज़िन्दगी के

दैत्यों जैसे हालात आये दिन क़त्ल करते हैं, पर आप के और मेरे जैसे इन्सानों की तरह ही कुछ इन्सान होते हैं जो अपनी संजीवनी विद्या के बल से उसे फिर जीवित कर लेते हैं।

कच को आर्थिक मजबूरियाँ भी आये-दिन उसकी रीढ़ की हड्डी की ओर से तोड़ती रहेंगी···

कच को सामाजिक गठन भी उसके दिल की ओर से बींधकर उसे घोर उदासियों के खड्डों में फेंकती रहेगी···

कच को राजनीतिक ज़ुल्म भी उस की शाहरग पर हाथ डालकर सलाखों के पीछे भेजते रहेंगे···

पर कच है—रहेगा, क्योंकि इन्सान के पास संजीवनी विद्या है।

यह या कोई भी विद्या, मांस के अंगों की तरह नहीं होती जो इन्सान के जन्म के साथ पैदा हो जाये। विद्या को प्राप्त करना होता है—साधना से, तपस्या से, विश्वास से।

यहाँ मुझे सिर्फ़ य: कहना है कि यह विद्या है, और इसकी प्राप्ति की सम्भावना हर किसी के लिए है। कच की कोई मौत अन्तिम मौत नहीं, सिर्फ़ अगर इन्सान इस विद्या की प्राप्ति के काबिल हो सके।

तर्क का शिष्टाचार

अभी हाल में लन्दन में एक किताब छपी है—'चूज़ लाइफ़।' यह सारी किताब दुनिया की समस्याओं को लेकर दो लेखकों के बीच की हुई बातचीत है, एक पश्चिम का लेखक है एर्नाल्ड टॉयनबी और एक पूरब का जापानी लेखक है दाइसेकू इकेदा। यह किताब दुनिया के कुछ लेखकों को जापान की ओर से भेंट-स्वरूप भेजी गयी है, सो मुझे भी मिली है, पश्चिमी लेखक के इस विश्वास के साथ 'मानव इतिहास के पिछले पृष्ठों मे सारी दुनिया में जो पश्चिम का नेतृत्व था, अब भविष्य में यह नेतृत्व पूरब के हाथ मे होगा। तकनीकी स्तर पर कोई पाँच सौ साल से पश्चिम के लोगों ने दुनिया के मनुष्यों को एक-दूसरे से जोड़ा है और अब इतिहास का अगला परिच्छेद, राजनीतिक तौर पर, और आध्यात्मिक तौर पर, मनुष्यों को एक-दूसरे से जोड़ेगा।'

पढ़कर लगा—जैसे ज़ेहन मे से कोई सपना बाँहें पसारकर बाहर सफ़ेद कोरे काग़ज़ों पर अनेक लकीरें बनकर बिछ गया हो···और लगा, अगर आज काग़ज़ों पर बिछ सकता है तो कल धरती के बंजर पर भी हरी घास की तरह बिछ सकता है···

पर यहाँ, इस पृष्ठ पर, मुझे इस किताब के सिर्फ़ एक पक्ष को लेकर बात करनी है कि इस किताब की सारी बातचीत जिस धरातल पर स्थिर क़दमों से बढ़ती है, वह एक शिष्टाचार की धरातल है, तर्क के शिष्टाचार की।

प्रत्येक व्यवसाय का एक निजी शिष्टाचार होता है। केवल व्यवसाय का ही नहीं, प्रत्येक अच्छे इन्सान का भी एक निजी शिष्टाचार होता है—जैसे कहते हैं कि शहीद उधमसिंह को जब अदालत में बयान देने से पहले गीता या किसी ग्रन्थ की शपथ लेने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा, "मैं सिर्फ़ वारिस शाह की हीर पर हाथ रखकर शपथ ले सकता हूँ।" यह शहीद उधमसिंह के विश्वास का शिष्टाचार था, और इसीलिए वारिस शाह रचित 'हीर' का अन्य ग्रन्थों से अधिक पवित्र होना एक सत्य था—उन का निजी सत्य।

और जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, साहित्य-सम्बन्धी चिन्तन का, उस का निजी शिष्टाचार तर्क होता है। तर्क शब्द में वे सब गुण मिले हुए होते हैं— पहचान के, क़द्रों-क़ीमतों के, सोच-सूझ के और उन से सम्बद्ध ज़िम्मेदारी के— जिन की तर्क को बुनियादी तौर पर आवश्यकता होती है। और यही शिष्टाचार, हम आज का सारा पंजाबी साहित्य ढूंढ़कर देख लें, हमें कहीं नहीं मिलता। जिस भी दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र-पत्रिका को सामने रखें, उस का इस शिष्टाचार से कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। अगर किसी की प्रशंसा मिलती है तो उस का भी तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अगर किसी को बिलकुल धिक्कारती और नकारती हुई आवाज़ है तो उस का भी तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं होता। सब फ़तवे और फ़ैसले उठायी हुई लाठियों-जैसे लगते हैं।

दोस्तो! चिन्तन के इतिहास में हर भाषा को अपना योगदान देना है — पंजाबी को भी। वारिस शाह की और शहीद उधमसिंह की भाषा को। और आज इसकी पहली आवश्यकता यह है कि हम पंजाबी पत्रकारिता को तर्क का शिष्टाचार दें।

यह भी सच है कि ऐसी पत्रकारिता अनेक लोगों की रुचि को असह्य है, पर मैं उन्हें भी चुप रहने का दोषी ज़रूर कहूँगी। दोस्तो! आप की रुचि आप से आवाज़ माँगती है कि आप उसे एक नयी 'हाँ' करें। और अच्छे भविष्य के पैरों को अच्छे वर्तमान का धरातल दें।

अंकुश

गणेश को हाथी का सिर कैसे मिला, इस के सम्बन्ध में कई कहानियाँ हैं —एक यह है कि पार्वती के घर उस का जन्म विष्ण के वर से हुआ था। परन्तु शनि की दृष्टि पड़ जाने से उस का सिर गिर गया, और उस की जगह विष्णु ने हाथी का सिर काटकर बच्चे के धड़ पर जोड़ दिया। एक और कहानी है कि शिव की अनुपस्थिति में पार्वती ने अपने शरीर के मैल को बटकर गणेश बनाया था। शिव ने वापस आकर उसे नहीं पहचाना था, और जब गणेश ने शिव को अन्दर जाने से रोका तो शिव ने गुस्से में उस का सिर काट दिया, और बाद में पार्वती का विलाप सुनकर हाथी का सिर उस के धड़ से जोड़ दिया। इसी प्रकार स्कन्द पुराण में बिलकुल अलग कहानी आती है कि गणेश वरेण्य राजा के घर पुष्पका नाम की रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, परन्तु उस की शक्ल देखकर राजा डर गया, और उसे पार्श्व मुनि के आश्रम के पास छोड़ आया, और मुनि की पत्नी 'दीपवत्सला' ने उसे पाल लिया।

कहानियाँ वास्तव में और कुछ नहीं, केवल गीली मिट्टी होती हैं, जिन से किसी कलाकार-कुम्हार के हाथ बर्तन गढ़ते हैं, और बर्तनों के रूप और गुण वास्तविक अर्थ को धारण करते हैं। गणेश के रूप में हम उस का सिर हाथी का देखते हैं, और उस के चारों हाथों में धारण किये हुए चार शस्त्र—शंख, चक्र, अंकुश और पद्म (गुरज)।

प्रतीक के अर्थों को समझ लें, तो हाथी और अंकुश का प्रतीक महान् अर्थों को धारण करता हुआ दिखायी देता है। आत्म-बल का और आत्मसंयम का महान् चित्र।

यह दो प्रतीक संयुक्त रूप से जिन्दगी का जो अर्थ बनते हैं—इन्हें पृथक् कर दें, तो यही ज़िन्दगी का अनर्थ हो जाते हैं।

सिर किसी और का हो, और अंकुश किसी और के हाथ में, तो यही प्रतीक घोर गुलामी का चिन्ह बन जाते हैं।

सत्ता का सिर धारण करके, अगर, अंकुश का प्रयोग अपने सिर के लिए नहीं है तो वही नृशंस-राज हो जाता है।

नेता के हाथों में ग्रहण की हुई नैतिकता जब 'स्वयं' के लिए नहीं होती तो पाखंड-राज चलता है।

मज़हब के मस्तिष्क को जब चिन्तन नसीब नहीं होता तो वह निरा वेश होता है।

लेखनी की शक्ति को यदि अपनी आलोचना का अंकुश प्राप्त नहीं है तो उसी शक्ति के हाथ सत्य के लहू से लथपथ हो जाते हैं।

गणेश का अपने धड़ का सिर, और अपने हाथ का अंकुश, जिन्दगी के एक महान अर्थ का चित्र बनकर खड़े हुए हैं। हमारे सारे विश्व का दुखान्त यह है कि हमने उन दो प्रतीकों को संयुक्त करने की बजाय पृथक् कर दिया है।

सिर हम अपने लिए चाहते हैं, और अंकुश दूसरे के लिए।

गणेश नाम के साथ जुड़े हुए विष्णु का एक आदेश है—"सब कार्यों के आदि में इस का पूजन करो!" यही पूजन 'स्वयं' को पहचानना है—स्वयं-शीश और स्वयं-साधना के रूप में।

एक हाथी-सिर का अपने ही हाथ में अंकुश लेकर बैठना—सचमुच विश्व का महानतम चिन्तन है।

हम ग़द्दार

मैं नहीं जानती —दुनिया में पहली कौन-सी राजनीतिक पार्टी थी, और समय का क्या दबाव था कि उसे लोगों की आँखों से ओझल होना पड़ा था। इसी तरह यह भी नहीं जानती कि दुनिया की वह कौन-सी वस्तु थी जिसकी लोगों को बहुत ज़रूरत थी, और कौन-से पहले मुनाफ़ाख़ोर ने उसे तहखानों में डाल दिया था। पर यह यक़ीनी तौर पर जानती हूँ कि इतनी तकनीकी तरक्की के होते हुए भी, यह ऐसा समय है जब इन्सानी रिश्ते ज़मीनदोज़ हो गये हैं।

मर्द और औरत के बड़े निजी रिश्ते से लेकर, इन्सान और राज्य के रिश्ते तक में, एक ऐसा सम्बन्ध होता है, जो एक बहुत कोमल और सुन्दर चीज़ हो सकता था, पर वही आज अंग-अंग को छीलता हुआ किसी से पहचाना नहीं जाता। यूँ तो ब्याह आज भी जश्न के साथ मनाये जाते हैं, चुनाव आज भी उत्साहपूर्ण नारों के साथ लड़े जाते हैं, और वफ़ादारी की कसमें आज भी उसी तरह सजावटी रस्मों के साथ खायी जाती हैं, पर घरों की सेजें भी उसी तरह चुप और उदास हैं जैसे हुकूमती कुर्सियाँ। सेजों और कुर्सियों ने जैसे अपनी-अपनी क़िस्मत के आगे हारकर सिर झुका दिया हो।

नहीं जानती—किस ने किस पर वार किया है, कोई चीज़ हर जगह मर रही है, और हवा में एक गन्ध भरी हुई है—जिस में हम सब साँस ले रहे हैं। और कोई चीज़ बहुत ज़ोर से हँस रही है—यह उद्देश्य की हँसी है, पर कैसा उद्देश्य! लगता है उस की जून बदल गयी है, और उसी अभिशप्त उद्देश्य की हँसी बहुत भयानक हो गयी है। कोई ऊँची विद्या की प्राप्ति के लिए कमाइयाँ लुटाता है, पर किसी इल्म की ख़ातिर नहीं, किसी उस साधन की ख़ातिर जहाँ लुटायी हुई कमाई को गुणा दर गुणा करके लौटाया जा सके। कोई दोस्तियाँ गाँठता है, किसी के दुःख-सुख में शरीक होने के लिए नहीं या विचारों के किसी विनिमय के लिए नहीं, सिर्फ़ दूसरे के साधनों पर पैर रखकर आगे बढ़ जाने के लिए। ब्याह की सेज भी तन और मन की साझेदारी के लिए नहीं होती, और

चाहे किसी भी उद्देश्य से हो, और चाहे सिर्फ़ इसलिए कि औरत का कानूनी-वेश्या बनना समाज की गठन में शामिल है।

ज़िन्दगी के बहुत क्षेत्र हैं जहाँ नित्य का इन्सानी वास्ता ज़िन्दगी की ज़रूरतों का हिस्सा है—पर हर वास्ता शंकाओं से भरा हुआ, और हर चीज़ बिकाऊ – इन्साफ़ से लेकर इन्सान तक।

तालियों की गूंज अभी कानों में ताज़ी होती है कि उद्देश्य का रूप बदल जाता है। कल की हार आज की जीत बनती है, तो बग़ावत जैसा लफ्ज़ उसी पल बदला बन जाता है। किसी के पैरों के नीचे कुचले हुए लोग बल पाते हैं तो सिर्फ़ जगह की अदला-बदली के लिए, कुचलनेवाले पैरों की जगह पर खड़े होने के लिए। कल बग़ावत जिनकी आस्था होती थी, वही आज अगर जगह की बदली कर लें, तो सबसे पहले आनेवाले कल की बग़ावत का रास्ता बन्द करते हैं।

एक रोमानियम नज़्म सामने आकर खड़ी हो गयी है, जिस ने एक भविष्य-वाणी की थी कि वह दिन जल्दी आयेगा जब हर चीज कागज़ की बनेगी—मनुष्य की चीखें कागज़ के सांपों की तरह रेंगेंगी और धरती कबाब खाकर उन लोगों से हाथ पोंछेगी जो पेपर नैपकिन बन चुके होंगे— और वह दिन आ गया है···

इस समय मैं ऐन्थनी विवन की आत्मकथा पढ़ रही हूँ, और इस सब कुछ के विद्रोह में उस की चीख़ सुनायी दे रही है— "हम सब ग़द्दार है—क्योंकि हम प्यार करना भूल गये हैं।"

भले ही यह सच है कि इन्सानी क़द्रों और क़ीमतों की अन्तिम मौत नहीं है, पर इन्सानी आचरण की ऐसी गिरावट है कि क़द्रें-क़ीमतें डरते हुए कहीं छिप गयी है। और इस मौत-जैसी खामोशी में अब सिर्फ़ किसी ऐन्थनी विवन की चीख़ सुनायी देती है···

सिरकाट राजा की बेटी

'रानी कोकिला' पंजाब की वह प्राचीन कहानी है जिसका काल अभी तक इतिहासकार निश्चित नहीं कर सके हैं। पर इस कहानी को शताब्दियों से ढोलसाँगी बजानेवाले गाते आ रहे हैं। और मनुष्य की कल्पना पर इसका अधिकार शताब्दियों से है। कहानी है --खत्रियों की एक सुन्दर लड़की एक दिन नदी में नहाने गयी तो वासुकी नाग से उस के गर्भ ठहर गया, और उस की कोख से सलवान का जन्म हुआ जो वासुकी नाग की सहायता से राजा बना। उस ने रानी इच्छरां से विवाह किया। उन्हीं दिनों एक बार परीजादी लूना और परियों के साथ धरती देखने आयी तो एक पेड़ से अटककर उड़ने की शक्ति खो बैठी। उसे एक चमार ने बेटी बनाकर पाला। बाद में उस के रूप पर राजा सलवान मोहित हो गया। वह राजा सलवान की दूसरी रानी बनी। पर राजा का बुढ़ापा कोकिला के दिल का दर्द बन गया। और वह अपने सौतेले पुत्र पूरन के रूप पर मोहित हो गयी। पूरन कैसे जती-सती रहा और कैसे अपने राजा-पिता के घर से दुत्कारा गया, वह एक अलग कहानी है, पर लूना के घर जो राजकुमार जन्मा उस का नाम रसालू था जिस के नाम के साथ दुनिया भर की बहादुरी की कहानियाँ जोड़ी जाती हैं। दूसरी ओर एक सिरकाट राजा था, जिस का राज्य अटक दरिया के किनारे की पहाड़ियों पर था। वह चौपड़ खेलता था और हारनेवाले से एक ही शर्त किया करता था जिस के अनुसार उस का सिर कटवा दिया करता था। इस तरह खोपड़ियों के ढेर लग गये तो उस का नाम सिरकाट राजा पड़ गया। रसालू ने इसी राजा के साथ चौपड़ खेली और जीतकर सिरकाट राजा की बेटी कोकिला को अपने महल में ले आया। कोकिला का जन्म उसी दिन हुआ था जिस दिन राजा रसालू जीता था। कोकिला को उस ने अपने हाथों से पालकर महलों का शृंगार बनाया। राजा रसालू को एक

ही शौक था, शिकार खेलने का। सो कोकिला सारे दिन हीरे-मोती पहनकर अकेली महल की खिड़की में बैठी रहती। एक दिन कोकिला ने जंगल में अपने बाल खोले तो बालों की सुगन्ध पर मोहित होकर जंगल के हिरन आकर एकत्र हो गये। हीरा नामक हिरन इतना मुग्ध हो गया कि राजा रसालू ने ईर्ष्या-वश उस हिरन के कान काट डाले। हीरा ने गुस्से में आकर होडी नामक एक राजा को उकसाया और जिस समय रसालू जंगल में शिकार खेलने गया हुआ था उस समय उसे कोकिला की सुन्दरता की एक झलक दिखा दी। राजा होडी कोकिला का आशिक़ बना, पर महल के तोते और मैना ने उस की चुगली कर दी और वह रसालू के हाथों मारा गया। और फिर बदले में होडी के भाइयों के हाथों रसालू भी मारा गया।

यह कहानी पता नहीं ऐतिहासिक या मिथक है, पर प्रतीकात्मक अवश्य है। और शायद प्रतीक इतने बलवान होते हैं कि बदलते हुए समय के साथ रूप बदलकर शताब्दियों के बाद भी मन को छील जाते हैं। यही कहानी पढ़ रही थी कि कोकिला सोये हुए अक्षरों में से जागकर बोल उती—"मेरा – नाम राजनीति है···" मैंने चौंककर उस के चेहरे की ओर देखा। पूछा—"क्या कहा ? राजनीति ?" वह हंस पड़ी—"हां राजनीति। मेरी आयु मनुष्य के इतिहास जितनी है। मैं हर बार किसी-न-किसी सिरकाट राजा के घर में जन्म लेती हूँ, कोई रसालू चौपड़ की बाज़ी जीतता है, और मुझे अपने महलों में डाल लेता है। मैं उस से बहुत कहती हूँ—'जिन्होंने हमारी सुध ली, राजाजी ! हमें उन्हीं के साथ मरना-जीना है' और एकान्त में पूछती—'राजाजी ! मैं तुम्हारी पत्नी हूँ या बेटी ?' पर राजा शिकारी होते हैं, वे दिलों के रिश्ते क्या जानें—मेरा साज-सिंगार व्यर्थ जाता। फिर मैं अपनी सूखी ज़िन्दगी से घबराकर किसा होडी से इश्क़ करती तो महलों के तोते चुगली खाते और मेरा आशिक़ मारा जाता··· फिर राजा रसालू मेरे उसी आशिक़ का कलेजा निकालकर कबाब बनाता और मुझ से खाने के लिए कहता···"

मैं हैरान होकर कोकिला से कहती हूँ—"पर तुम ने कबाब थूक दिये थे, और महल से कूद पड़ी थीं···" वह जवाब में मुसकराती है, कहती है, "पर मैं मरी नहीं, सिर्फ़ घायल हुई थी, और मुझ घायल को किसी धीमर ने पट्टियाँ बाँधकर अच्छा कर लिया था···"

कहानी आगे चलकर मेरे मन में सूत्र जोड़ती है—हां, सचमुच फिर कोकिला की कोख से धीमरों का वंश चला था, और मैं उस से जल्दी से पूछती हूँ—"फिर दुखों की मारी राजनीति से ब्याह किया वह एक कमेरा था। यह श्रमिक और कमेरे तुम्हारी कोख से पैदा हुए हैं। बताओ, फिर आज तुम्हारी औलाद क्यों रुल

रही है ?

वह धीरे से हंस पड़ती है। कहती है—"मेरी यही तक़दीर है···हर बार यही तक़दीर···हर देश में···हर काल में, मैं सिरकाट राजा की बेटी हूं···और बासुकी नाग का वंशज मुझे चोपड़ में जीतता है और महलों में डाल लेता है··· हाय, मेरे वंशज कभी तो जागें और मेरी तक़दीर को बदलें···"

एक आवाज़

शायद अचेतन मन का कोई विचार था जो साकार सपना बन गया। देखा—देवी सुन्दरी के समान एक औरत है, जिसकी ओर हैरान होकर देखते हुए मैं ने उस का नाम पूछा तो वह बोली—'मेरा नाम सीता है।' मेरे विचारों का सिरा इतिहास के प्रसिद्ध पात्रों से जुड़ गया। पूछा—'राजा जनक की बेटी सीता?' वह हँस पडी। बोली—'कहानीकार ने मुझे एक आकार दिया था, प्रतीकात्मक आकार। अब सब मेरे अस्तित्व को उसी से पहचानते हैं। शताब्दियाँ हो गयी है, मैं उस प्रतीक से जुड गयी हूं। पर मैं प्रतीक-मुक्त होना चाहती हूँ···' शायद मैं बहुत हैरान थी, बोल नहीं सकी। वह ही कहे जा रही थी, 'मेरा कहानीकार अगर मुझे मनुष्य का आकार न देता तो शायद मेरे दर्द की कहानी को कोई इस तरह कान लगाकर न सुनता। मैं उस की ऋणी हूँ। पर मुझे नही मालूम था, न मेरे कहानीकार को, कि प्रतीक इस तरह वास्तविकता बन जायेगा कि उस में लिपटा हुआ मेरा अस्तित्व खो जायेगा। मेरा नाम सीता है, पर लोग यह भूल गये है कि सीता हल की नोक को कहते है···'

मैं ने हैरान होकर पूछा—'इतिहास यह तो कहता है कि तुम राजा जनक को खेतों मे मिली थीं···'

उस ने कहा, "देखो! वास्तविकता का इशारा कहानीकार ने कितने सुन्दर ढंग से दिया था, पर लोग समझे नहीं। अन्न के लिए अगर हल की नोक चाहिए, तो और भी बहुत कुछ चाहिए—धरती चाहिए, बीज चाहिए, पानी चाहिए···राजा जनक एक अच्छे दिल के राजा थे। उन्होंने कमेरों और किसानों को ज़मीन दी, बीज दिये, पानी की नहरें दीं—यानी लोगों को रोज़ी और रोटी देने के लिए मुझे अपनी छत्रछाया दी। राजा अपनी प्रजा का पिता होता है। उन्होंने लोगों की मेहनत के सिर पर अपना रक्षा का हाथ रखा···"

"और राजा रामचन्द्र?"

"वह भी अच्छे राजा के प्रतीक थे जिन्होंने लोगों के हक को और मेहनत को पहचाना। हक और मेहनत को महलों में जगह दी; उन्हें राज-काज का अधिकारी बनाया।"

"पर चौदह बरस के वनवास का शाप?"

"लोगों के हक को तो राजा सदा से ही देश-निकाला देते आये है···"

"और रावण?"

"जिस ने मेरी कहानी लिखी है उस ने स्पष्ट लिखा है कि रावण अर्धराक्षस था। राक्षस राजा सदा ही लोगो के हक और लोगो की मेहनत चुराते आये है··· कहानी मे साफ लिखा है कि एक बार रावण ने ब्रह्मा से वर लिया था कि कोई भी देवता उसे मार नही सकेगा। पर जब धरती पर उस के अत्याचार बहुत बढ़ गये तब विष्णु ने चिन्तित होकर विचार किया कि उसे मारने का क्या उपाय किया जाये। उसे खयाल आया कि अब भले ही कोई देवता उसे नही मार सकता पर मनुष्य तो मार सकता है। इसी लिए उस ने मनुष्य के चोले मे जन्म लिया। इस का अर्थ समझते हो?"

"खोलकर बताइये।"

"यही कि बुराई अपनेआप नही मरती, न केवल सोचने से खत्म होती है। उस के लिए मनुष्य को कर्म की आवश्यकता है—चेतन जतन की। उस से जूझना होता है। उस से लडते हुए घायल भी होना होता है—तभी तो कहानी में लका जलायी जाती है जग लडी जाती है, और लोगो के हक को स्वतन्त्र करवाया जाता है···"

"तब फिर राम के हाथ से सीता की परीक्षा क्यों?"

"क्या फल को मेहनत की आग मे से नही गुजरना पडता? हर दर्शन को चिन्तन की आग से गुजरना पडता है। हर ज्ञान को तपस्या की आग मे से, हर हक को योग्यता की आग मे से···"

"पर अन्त मे सीता को फिर महल त्यागने पड़े। उस के बच्चो का जन्म भी महलो मे नही हुआ, ऋषि-कुटिया मे हुआ···"

"यही तो कहानी का सार है—समय का चिन्तन महलो मे जन्म नही लेता ···मेहनत की रूह वनो मे भटकती है···उस के पाँव मे आज भी छाले हैं···हाथों में आज भी काँटे हैं···"

"तो ऋषि-कुटिया मे जन्मे लव-कुश?"

"चिन्तन का प्रतीक है—समाज और राजनीति को बदलने के दो शाश्वत विचार, जिन की जननी हल की नोक है, और राजा-पिता उस की क़द्र का और बेक़द्री का प्रतीक।"

"शायद इसी लिए कहानी मे राजा रामचन्द्र के दो पहलू दर्शाये गये हैं···"

"इसीलिए यह गाथा हर काल की है—दो पहलू दो सम्भावनाएँ हैं···सारा इतिहास टटोल लो, यह सदा बनी रही हैं···बनी रहेंगी···"

चौंककर आँखें झपकायीं तो सामने कुछ भी नहीं था। कमरे में रखी हुई किताबों में कहीं-न-कहीं वह किताब अवश्य है जिस में प्राचीन देवी-देवताओं के चित्र हैं, और उन में सीता का भी पारम्परिक चित्र है, पर यह अजीब आवाज़ जो कमरे में ठहरी हुई है, वह किसी किताब के अक्षरों में से उठकर नहीं आयी, पर एक स्थूल-सी काया धारण कर के मेरे कानों के पास खड़ी हुई है, न जाने कहाँ से आयी है—शायद कहीं वहाँ से जहाँ हल की नीक के पास कोई ज़मीन नहीं है, कोई बीज नहीं है, और उस के गले में अड़ा हुआ अन्न का सपना बड़-बड़ाया है···

छोटे-छोटे ख़ुदा

वक़्त की गर्दिश में से कुछ क्षणों को पकड़कर एक जगह पर खड़ा कर लेने का एहसास जो किसी शायर को होता है, या सफ़ेद कागज़ों पर काली स्याही की लकीरों से विचारों और सपनों से भरे बड़े ही ज़िन्दा लोगों की दुनिया बना लेने का एहसास जो किसी कहानीकार को होता है—वह सचमुच कुछ घड़ियों, पलों के लिए ख़ुदा हो जाने का एहसास होता है, ज़िन्दगी का एक अजीब तीखा नशा, जो हर लेखक की हड्डियों में रच जाता है।

पर यह 'महामद्यपी' जहाँ अपनी उम्र के सारे साल इस नशे को ख़रीदने के लिए ख़र्च कर देता है—वहाँ उस का चेतन मन यह जानता है कि उस के लिए तीन तरह की कच्ची शराब बिलकुल वर्जित है—एक वह जिस में शोहरत का नशा होता है, दूसरी वह जिस में पैसे का, और तीसरी वह जिस में ताकत का नशा होता है। घड़ियों-पलों के लिए ख़ुदा हो जानेवाली उस की रचनात्मक अवस्था अगर उसके लिए अत्यन्त ज़रूरी नशा है तो वह जानता है कि जिस भट्ठी से यह शराब निकलती है, उस आग को चेतनता का और इल्म का ईंधन नित्य चाहिए, जो वह कच्ची शराब पीकर अपने अपाहिज हुए अंगों से कभी नहीं पा सकता। इतिहास में पहली शताब्दी के सिमोनियनों की कही हुई एक कहानी मिलती है कि एक बार सात शासकों ने समय की बौद्धिकता को बन्दी बना लिया और उन्होंने उसे ऐसी यन्त्रणाएँ दीं कि अन्त में उसे वेश्या बनने के लिए विवश कर दिया। और यह अवश्य समय के विचारकों का एक लम्बा संघर्ष रहा होगा कि शासकों के हाथों से बौद्धिकता को कैसे स्वतन्त्र कराया जाये। पर यह कहानी एक बीती हुई बात नहीं है, इसका बहुत सारा हिस्सा हर काल और हर देश का सच है। बौद्धिकता कहानी की वह नायिका है जिसे कई शासक अपने वश में करने के लिए उस का अति का सिंगार करते हैं और फिर अपने राजदरबार की नर्तकी बना लेते हैं, और कई इसे ज़बरदस्ती मज़दूरी के क्षेत्र में भेजकर उस का कस-बल तोड़ देना चाहते हैं।

दोनों साधन भयानक हैं, पर पहला बाहर से वैसा नहीं दिखायी देता जैसा दूसरा, इसलिए पहले उस का ललचानेवाला रूप कई बार ख़ुद लेखकों को आकर्षित कर लेता है - और यही उस कच्ची शराब जैसा होता है जो लेखकों के चेतन अंगों पर अन्तत: कोई घातक वार बन जाता है।

पता नहीं 'सात' शासकों की गिनती कहानी में क्या अर्थ रखती है, पर यह प्रतीकात्मक ज़रूर मालूम होती है। कुछ शासक तो सीधे अर्थों में राजनीतिक शासक थे, पर कुछ ज़रूर बौद्धिकता की अपनी ही विलासितापूर्ण रुचियों के प्रतीक प्रतीत होते हैं—जो उसे कच्ची शराब के नशे की ओर बरबस खींच लेते हैं। और रूह से किये हुए समझौते के अनुसार टुकड़े-टुकड़े रूह बेचकर इस नशे को ख़रीदने की आदत फिर बौद्धिकता को इस तरह बन्दी बना लेती है कि उस के लिए वेश्या हुए बिना कोई रास्ता नहीं रह जाता।

एक लेखक के अंग सिर्फ़ आँखें और हाथ-पैरों की सूरत में ही नहीं होते वह उस के इल्म की, उस की ईमानदारी की, और अपने लोगों के प्रति उस के उत्तरदायित्व के रूप में भी उस के अंग होते हैं। और वह अपना चुना हुआ पंथ सिर्फ़ साबत और स्वतन्त्र अंगों से चल सकता है।

भविष्य को विचारने और सिरजनेवाला पथ सिर्फ़ ख़ुदा की रीस का नशा नहीं है, यह सचमुच मनुष्य के इतिहास को बदल सकने का बल रखनेवाली वह शक्ति है जिस का रत्ती भर गलत प्रयोग अपने ख़ुदा को माफ़ नहीं कर सकता।

आंद्रे वोज़नेसेंस्की की एक कविता बरबस याद आ रही है—'हम शायर गानेवाली मछलियाँ हैं, समय के अधिकारी पानी में जाल डालते, हमें पकड़ते, चीरते, तलते और अपनी दावती मेज़ों पर सजाते हैं। पर हम मछली के काँटे की तरह ज़रूर उन के गले में अटक जायेंगे।' यह समय के गले में अटक जानेवाला बल उस काँटे का बल है जो परिस्थितियों से, और मौत तक से भी, निर्लेप होकर जीता है और यही एक लेखक का बल होता है। उस का एक ख़ुदाई अंश !

एक सतर—एक तक़दीर

वारिस शाह ने हीर का किस्सा आरम्भ करते हुए एक सतर लिखी है 'जदों इशक़ दे कम्म नूं हत्थ लाइए, पहिलों रब्ब दा नाम धियाइए जी !"[1] यह एक रस्मिया सतर नहीं है। यह विचार मनुष्य की होनी के साथ जुड़ा हुआ है, उस के व्यक्तित्व के वर्तमान के साथ, और इसलिए उस की रचना के भविष्य के साथ'।

यहाँ 'इशक़ दा कम्म' दोहरे अर्थों में है—एक, जब किसी इन्सान को किसी के लिए मुहब्बत के पहले कम्पन का एहसास होता है, एक चमत्कार जैसी घटना का बहुत निजी अनुभव, और दूसरा, जब वह किसी अनदेखे व्यक्ति के साथ घटी इस घटना को अपने रोम-रोम में उतारकर इस का वर्णन लिखने के लिए हाथ में कलम पकड़ता है।

अधिक स्पष्ट करने के लिए जिगर मुरादाबादी की ज़िन्दगी की एक घटना दोहराती हूँ—एक बार एक ग़ज़ल-गो जिगर के यहाँ जाकर उन्हें अपनी ग़ज़लें सुनाने लगे। जिगर कुछ देर चुपचाप सुनते रहे, फिर अचानक खीलकर बोल उठे—"मियाँ ! अगर इश्क़ करना नही आता तो ग़ज़लें क्यों लिखते हो?" वारिस शाह की इस एक सतर का आधा हिस्सा सचमुच कलम के उस व्यवसाय को एक जुर्म करार देता है जो अपने इस बुनियादी सच को छोड़कर आरम्भ होता है। अगर आज के पंजाबी साहित्य की एक-एक सतर भी टटोल लें तो कितने कलम है जो हमें इस बुनियादी सच से आरम्भ होते हुए मिलते हैं ?

वारिस की इस सतह का दूसरा आधा हिस्सा 'रब्ब' के नाम को ध्याने की बात करता है। यहाँ 'रब्ब' शब्द आम प्रयोग में आने के कारण बड़ा साधारण हो गया लगता है, पर जिस ने किसी सचमुच के लेखक के व्यक्तित्व का भेद पाया है वह जानता है कि यह शब्द यहाँ साधारण नहीं है। यहाँ वारिस शाह 'स्वयं' शब्द को धरती और अम्बर से लँघाकर 'रब्ब' शब्द तक ले गया है, क्योंकि

1. जब इश्क के काम को हाथ लगायें, तब पहले ईश्वर के नाम को ध्यान कर लें।

इल्म की अगमता, ईमान और अदल की यक़ीनी सूरत, और रूह के हुस्न की अपारता के पहलू से अभी तक मानव की कल्पना में यह अंतिम सच है। वारिस ने सचमुच 'स्वयं' 'शब्द को ही 'रब्ब' शब्द के अर्थों में लिखा है। इस की पुष्टि के लिए हाशिम की एक सतर दोहराती हूँ—"हाशिम तिन्हां रब्ब पिछात्ता, जिह्नां आपणा आप पिछात्ता।"[1] और इस रोशनी से अगर हम आज की कृतियों को देखें तो कितनी हैं जिनके बारे में लगता हो कि उन्हें आरम्भ करते समय किसी ने पहले 'स्वयं' को ध्याया है।

'स्वयं' को ध्याना एक साधना है—हर पक्ष से। इल्म के, जज़बाती अमीरी के, और तकनीकी जाँच के पक्ष से भी, और उन क़द्रों-क़ीमतों के पक्ष से भी जो आज से कहीं बेहतर इन्सानी नस्ल की कल्पना में से पैदा होती हैं।

यह 'कल्पना' शब्द किसी भी यथार्थ से बचाव और विमुखता के अर्थों में नहीं, यह आज के यथार्थ की पीड़ा में से पैदा कल के यथार्थ का अनुमान है। अनुमान भी और विश्वास भी। अनुमान और विश्वास की सामर्थ्य ही बुरे यथार्थ को कभी अच्छे यथार्थ में बदल सकती है।

वहम या भरम कही जा सकनेवाली एक लोककथा है कि बच्चे के जन्म के समय घर का बुज़ुर्ग प्रसूता की कोठरी में एक काग़ज़ और कलम-दवात रख दिया करता था और प्रार्थना किया करता था—"विधि माता। आप जब बच्चे के जन्म पर इस कोठरी में आयें तो बच्चे की तकदीर अच्छी लिखकर जायें।" इस कहानी में काग़ज़ पर लिखे हुए अक्षरों में एक साधारण मनुष्य का 'विश्वास' देखने योग्य है (चाहे वह अक्षर वह पढ़ नहीं पायेगा)—पर जो असाधारण है, साहित्यकार है, और जिसने अपने कलम से ज़िन्दगी के अँधेरे को एक लौ देनी है, क्या उसे अपने ही लिखे हुए में विश्वास का एक कण भर भी नसीब हुआ है?

वारिस की यह एक सतर एक निश्चित तकदीर की तरह है, जिसे भी नसीब हो!

इस सतर से दो ऐसे बुनियादी सवाल उठते हैं जिन का जवाब दिये या जाने बिना किसी भी साहित्य की न कोई परख सम्भव है, न उस का भविष्य।

1. हाशिम! उन्होंने ईश्वर को पहचान लिया जिन्होंने स्वयं को पहचान लिया।

खट्टण गयों ते खट्ट के ले आयों[1]

जैसे हर रोज उदय होनेवाला सूरज आँखों की आदत बन जाता है, उस के लाल चमत्कार की ओर विशेष रूप से नज़र नहीं जाती, उसी तरह कुछ लफ्ज होते हैं जो गा-गाकर या सुन-सुनकर ज़बान की या कानों की इतनी आदत हो जाते हैं कि उन के फ़लसफे की ओर कभी विशेष तौर पर ध्यान नहीं जाता। पर अगर कभी चला जाये तो हमारा 'चिन्तन' उन के मुँह की ओर देखता रह जाता है···

पंजाब के बड़े आम और साधारण गीतों में एक सतर बार-बार आती है : 'खट्टण गयों ते खट्ट के ले आयों···' असल में गीत की अगली सतर अर्थों के लिए होती है और यह पहली सतर सिर्फ़ अगली के सहारे के लिए। इस पहली सतर का आखिरी लफ्ज लोटा, मुंदरी, धेला या कुछ भी तुकान्त का काम देता है, इसलिए हर अगली सतर के बोल से बदल जाता है। यह बाकी की सतर सिर्फ़ तुक की लम्बाई को पूरा करने के लिए होती है—लय बाँधने के लिए। सो, स्वाभाविक तौर पर सब का ध्यान अगली सतर की ओर जाता है, इस पहली की ओर नहीं।

पर इस का 'खट्टण' लफ्ज सचमुच सूरज की तरह है। जैसे धरती पर सब उगना-विकसना सूरज के अस्तित्व से है, उसी तरह ज़िन्दगी की सब क़द्रें-क़ीमतें 'खट्टण' लफ्ज की फ़िलासफ़ी से जुड़ी हुई हैं। पैसा जब खट्टण लफ्ज को छोड़कर किसी भी और लफ्ज से जुड़ता है—जैसे 'लेना', 'देना', 'माँगना', 'छीनना', 'बाँटना', 'चुराना', 'लूटना' या 'छिपाना' जैसे लफ्ज से, तो उस की शक्ल बदल जाती है। वह या तरस का साधन बन जाता है, या पाप और ज़ुल्म का। उस की पाकीज़गी सिर्फ़ 'खट्टण' लफ्ज़ में है, और किसी लफ्ज़ में नहीं।

पंजाबी संस्कृति ज़रूर कभी ऊँची रही होगी, तभी यह लफ्ज अस्तित्व में आया और रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का हिस्सा बनकर आम साधारण गीतों का हिस्सा भी बन गया।

लगता है—जिस ने भी पैसे को हिक़ारत की नज़र से देखा है उस ने इस के

1. कमाने गया और कमाकर ले आया।

'खट्टण' लफ्ज़ के हुस्न को नहीं पहचाना है। यह एक ही लफ्ज़ है जो साझेदारी में विश्वास करता है—पूरा तोलने में, पूरा बोलने में।

खट्टण लफ्ज़ की पृष्ठभूमि में समझ और मेहनत जैसी ईमानदार शक्तियाँ होती हैं जो हर रचना की और हर ईज़ाद की बुनियाद होती हैं। खट्टण ज़रूरतों को अच्छी-से-अच्छी पूर्ति देने में से पैदा हुआ हक होता है जिस की बुनियादी शक्ति इन्सान की समझ और योग्यता की ज़मीन में होती है। इसलिए पैसे को नकारना समझ और योग्यता को नकारना होता है।

पैसे से हिक़ारत की जड़ इसके 'खट्टण' में नहीं है, 'न खट्टण' में है, और जिस सामाजिक गठन में इस का रुख उलटी तरफ़ मुड़ जाता है—मेहनत करनेवाले हाथों की बजाय छीननेवाले हाथों की तरफ़, वह गठन हिक़ारत के क़ाबिल होती है क्योंकि उस गठन के कानून मेहनती हाथों की रक्षा नहीं करते, बल्कि छीननेवाले हाथों की रक्षा करते हैं। और यह वह समय होता है जब संस्कृति गरीब हो जाती है क्योंकि पैसा गुण की उपज होता है, यह गुण को उपजा नहीं सकता।

साम्यवादिता लफ्ज़ को भी सही अर्थों में किसी ने नहीं पहचाना है। यह हमेशा पैसे को बाँटने के अर्थों में लिया जाता है, 'खट्टण' के अर्थ में नहीं। खट्टण के अर्थ योग्यता में होते हैं, बाँटने के योग्यता को नकारने में। और इसीलिए अभी तक दुनिया के किसी हिस्से में साम्यवादिता नहीं आ सकी है।

जब तक इन्सान का चिन्तन पैसा कमाने की पहचान से और उसके आदर से नहीं जुड़ता, संस्कृति मानसिक तौर पर भी ग़रीब रहेगी और बौद्धिक तौर पर भी। संस्कृति की ग़रीबी न सही अर्थोंवाला कोई समाजवाद ला सकती है, न साम्यवादिता।

एक लफ़्ज़ का इतिहास

इन्सान के जन्म के साथ ही जो सब से पहला लफ्ज़ जन्मा था वह 'रक्षा' लफ्ज़ था—'स्वयं' से जुड़ा हुआ, भूख से और धूप-पानी से 'स्वयं' की रक्षा।

और इस तरह इस लफ्ज़ का प्रयोग मेहनत से और मेहनत के फल से जुड़ा, उन की क़द्रों से।

और जान माल की क़द्र के साथ, इसका प्रयोग मानसिक विकास से भी जुड़ा और चारित्रिक मूल्यों से भी।

और इस तरह यह रक्षा लफ्ज़ अक्ल, इल्म और शऊर से लेकर हर तरह की कीमती चीज की क़द्र से जुड़ गया।

इस का सच सिर्फ़ वह था जो 'स्वयं' के साथ पैदा हुआ था, 'स्वयं' की आवश्यकता मे से, 'स्वयं' की पहचान में से, 'स्वयं' की क़द्र में से। और इसलिए बाहर जो कुछ जहाँ क़ीमती था, तगड़ा था, उस की रक्षा की आवश्यकता भी अपने मूल रूप में थी—अपने पाक रूप में।

वह 'स्वयं' की नैतिकता थी···

पता नहीं कब और कौन-सी भयानक घटना इसके साथ घटी, इस लफ्ज़ का कर्म उलट गया। यह हर तरह की ताक़त की बजाय हर तरह की कमज़ोरी की रक्षा के लिए प्रयोग किया जाने लगा। मेहनत की बजाय नाकारेपन की रक्षा के लिए, योग्यता की बजाय अयोग्यता की रक्षा के लिए, प्राप्ति की बजाय विवशता की रक्षा के लिए, दलील की बजाय बेतुकी की रक्षा के लिए और उपज की बजाय आढ़त की रक्षा के लिए।

और जो भी इस उलटे हुए कर्म के हाथों 'सुरक्षित' हो चुके थे वे बहु-संख्या के आधार पर इस की पुष्टि करने लगे।

इसी 'पुष्टि' को क़ानून के लम्बे हाथ दे दिये गये, और इसी पुष्टि को नैतिकता की ज़बान की नक़ल उतारनेवाली ज़बान दे दी गयी।

दुनिया में जहाँ और जो भी भयानक है, उस की बुनियाद इसी एक लफ्ज़

'रक्षा' के उलटे हो चुके अर्थों में है।

इस एक लफ्ज़ की तक़दीर पूरी इन्सानी नस्ल की तक़दीर है, और इस एक लफ्ज़ का इतिहास पूरी इन्सानी नस्ल का इतिहास है।

इसी उलट गये इतिहास का एक चीख़ थी, जैक लंदन के लफ्ज़ों में—'मुझे सच के चेहरे की झलक देख लेने दो, मुझे बताओ कि सच का मुँह कैसा होता है?"

हर इन्क़िलाब भी एक चीख़ होता है, पर लहू की नदियों को चीरकर जब वह किनारे लगता है, हाथों को ज़रूर बदलता है, पर हाथों के कर्म को नहीं बदलता। और इसलिए वह चीख़ एक वक्ती चीख़ बनकर रह जाती है—फिर से एक चुप का हिस्सा बनने के लिए।

पर जो चीख़ जैक लंदन की आवाज़ के अर्थों में शाश्वत चीख़ है वह सच का चेहरा देखने के लिए है। और वह चेहरा सिर्फ़ तब दिखायी दे सकता है जब इस लफ्ज़ के उलटे हुए अर्थ सीधे हो सकेंगे। यह चीख़ हाथों को बदलने के लिए नहीं, हाथों के कर्म को बदलने के लिए है (सही अर्थों का इन्क़िलाब)—कि रक्षा के अमल को मानसिक ग़रीबी से जोड़ने की बजाय मानसिक अमीरी से जोड़ा जाय।

यह 'स्वयं' की नैतिकता है—हर स्वयं की नैतिकता।

रक्षा लफ्ज़ सिर्फ़ तब नैतिकता है जब यह सिर्फ़ अपनी ज़रूरत में से इस्तेमाल होता है। यह जब भी दूसरे की ज़रूरत के कारण बरता जाता है—अनैतिकता बन जाता है। क्योंकि वही वह जगह होती है जहाँ खड़े होकर 'हक' लफ्ज़ दान बन जाता है, और मान लफ्ज़ तरस हो जाता है, जो अपना भी निरादर होता है, दूसरे का भी—और इसीलिए अनैतिकता।

गुण और प्रतीक

चिन्तनशील लोगों ने कुदरत के भेदों को समझने के लिए और इन्सान को नैतिक मूल्यों का विचार देने के लिए, हर विचार को आकार दिया, यानी देवी-देवताओं का स्वरूप चित्रित किया। मिथक मूर्तियाँ सामने हैं—कि कैसे भीतरी गुणों.के प्रतीक खोजकर मूर्तियों के हाथों में थमाये गये ताकि साधारण व्यक्ति दृश्य से अदृश्य की कल्पना कर सके।

महाभारत के टीकाकार, द्रौपदी के पंच-पति (पाँच पाण्डव) को, उत्तरी भारत की बहु-पति प्रथा को दर्शाने का प्रतीक कहते हैं। इसी तरह देवताओं की अनेक पत्नियाँ दक्षिण भारत की बहु-पत्नी प्रथा को दर्शाने का ढंग कहते हैं। पर अगर इस से भी गहरी दृष्टि से देखा जाये तो अधिकांश पति या अधिकांश पत्नियाँ, अनेक गुणों का प्रतीक दिखते हैं।

जैसे समरूपता का आचरण हमें देवी-देवताओं के आचरण में बहुत प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जैसे विष्णु के अनेक अवतार माने जाते हैं। यह एक ही तत्त्व के कई रूपों और कई नामों की समरूपता है। समुद्र-मन्थन के समय देवताओं और दानवों के पाँवों को धरती के सहारे की आवश्यकता थी, इसलिए विष्णु ने कछुए का रूप धारण किया और अपनी कठोर विशाल पीठ पर देवताओं और दानवों के खड़े होने के लिए एक सहारा बन गया। इसी तरह वामन का, परशुराम का, राम का और कृष्ण का रूप धारण किया।

लक्ष्मी का आदि रूप पृथ्वी है, कमल के फूल पर बैठी हुई देवी। यह द्रविड़ कल्पना थी। आर्यों ने उसे आसन पर से उतार कर उसका स्थान ब्रह्मा को दे दिया। पर अनेक शताब्दियों तक साधारण लोगों में पृथ्वी की पूजा बनी रही तो लक्ष्मी को ब्रह्मा के साथ बिठाकर वही आसन उसे फिर दे दिया गया। लक्ष्मी का पहला रूप ब्रह्मा के साथ था, बाद में विष्णु के साथ हुआ। विष्णु के वामन अवतार बनने के समय लक्ष्मी पद्मा कहलायी, परशुराम बनने के समय वह धरणी बनी, राम के अवतार के समय सीता का रूप बनी, और कृष्ण के समय

राधा का। यह सब समरूपता का आचरण है।

इसी प्रकार ज्ञान और कला की देवी सरस्वती वैदिक काल में नदियों की देवी थी। फिर विष्णु की—गंगा लक्ष्मी के संग एक और पत्नी के रूप में। और फिर ब्रह्मा की 'वाक्-शक्ति' के रूप मे ब्रह्मा की पत्नी। यह सब पति-पत्नियाँ बदलने का रूप प्रतीकात्मक है। गुणों की समरूपता।

समरूपता का उदाहरण महादेवी भी है जो अपने पति से कुपित होकर अग्नि मे भस्म हो गयी थी और सती कहलायी थी। परन्तु महादेवी का वही एक रूप नहीं है, वह अम्बिका भी है, हेमवती भी, दुर्गा, पार्वती और काली देवी भी।

काली देवी का मूल रूप भी अग्नि देवता की पत्नी के रूप मे था। फिर महादेवी सती के रूप में हुआ।

आधार, गुण होते है, मूल तत्त्व जिन के बाहरी प्रतीक खोजकर उन्हें चित्रित किया जाता है।

जैसे ब्रह्मा का आसन जल है जो ज़िन्दगी के मूल स्रोत— जल के रूप में उत्पत्ति का प्रतीक है।

विष्णु का आसन कमल फूल है जो उगने-विकसित होने, और निर्लिप्त होने का प्रतीक है।

विष्णु का सुदर्शन चक्र एक अजेय शस्त्र का, गदा—राजसी सत्ता का, और शंख दानवों पर विजय की घोषणा का प्रतीक है।

शिव के सारे बाहरी चिह्न, उसकी भीतरी बहुमुखी शक्ति के प्रतीक है। शेर की खाल का आसन, गले की माला और घुमक्कड़ साधुओं का कमण्डल, उस के संन्यासी पक्ष को दर्शाते है, और लम्बे बालों का जूड़ा, और चन्द्रमा की एक किरन, उत्पन्न होने की प्रवृत्ति को। यह जन्म और विकास के प्रतीक है। इसी तरह शिवलिंग सृजन शक्ति का प्रतीक है। शिव की जटाओ से निकलती हुई गगा (गंगा का रूप विष्णु के चरणों से निकलने का भी है) जीवन के स्रोत—जल का संकेत है। शिव का शंख—ध्वनि का अर्थात् जीवन के संचार का प्रतीक है, और त्रिशूल जीवन के अन्त का, अर्थात् मृत्यु का प्रतीक है।

त्रिमूर्ति —उगने, विकसित होने, और मुर्झाने के क्रम का साकार रूप है।

सरस्वती की चतुर्भुजाओं मे से दो मे ली हुई वीणा—लय और संगीत का प्रतीक है। तीसरे हाथ मे ली हुई पाण्डुलिपि उस की विद्वत्ता का प्रतीक है और चौथे हाथ में कमल फूल निर्लिप्तता का प्रतीक है। उसका वाहन हंस है—दूध पानी, यानी सच और झूठ को अलग कर सकने का प्रतीक है।

ब्रह्मा द्वारा किये गये यज्ञ के अवसर पर सरस्वती के पहुँचने में देर हो जाने के कारण ब्रह्मा का गायत्री से विवाह कर लेना, वास्तव में गायत्री मन्त्र से, अर्थात् चिन्तन से, जीवन के शून्य को भरने का संकेत है। गायत्री की मूर्ति में

उस के पाँच सिर दिखाये जाते हैं। यह एक से अधिक सिर मानसिक शक्ति के प्रतीक हैं। गायत्री चिन्तन में कमल-आसन पर गायत्री मन्त्र भी लिखा हुआ मिलता है, जो मन्त्र को ही आकार के रूप में दर्शाने का संकेत है।

इसी तरह गणेश का हाथी का सिर उस के इस गुण के आधार पर है कि वह घने जंगलों की कठिनाइयों को भी चीरकर गुज़र सकता है, पथ की बाधा बनकर खड़े हुए पेड़ों को भी उखाड़ सकता है। गणेश की चूहे पर सवारी भी एक प्रतीक है—कि जहाँ बन्द दरवाज़ोंवाले किले हैं वहाँ भी कोई बिल बनाकर भीतर प्रवेश करने का साधन उसके पास है। उस के चारों हाथों में थामे हुए चार शस्त्र – शंख, चक्र, अंकुश और पद्म उस के बाहुबल का प्रतीक हैं। (गणेश के हाथ में जो पद्म है वह कमल फूल के अर्थों में नहीं है, उसी के आकार के एक शस्त्र गुरज़ के अर्थों में है)।

इसी तरह गणेश की दो पत्नियाँ—सिद्धि और ऋद्धि, उस की शक्ति और बुद्धि का प्रतीक हैं।

ये कुछ थोड़े से उदाहरण मैं ने सिर्फ़ इसीलिए दिये हैं कि लेखकों के हाथ में लिये हुए कागज और क़लम जैसे औज़ार उन की कैसी मानसिक शक्ति और बुद्धि के औज़ार हैं, इस अर्थ को पहचाना जा सके।

जब आन्तरिक शक्तियाँ समय पर बाहरी प्रतीकों के अनुसार नहीं रहतीं तो वह सचमुच शक्तियों का भी निरादर होता है, और उन के बाहरी प्रतीकों या औज़ारों का भी।

जैसे विश्वकर्मा – तेसा, आरी और हथौड़ी जैसे लोहार और बढ़ई के काम के औज़ारों का देवता समझा जाता है, और औज़ारों के निरादर से अनुमान किया जाता है कि यही औज़ार उसे थामनेवाले को काट देंगे, यह कोई वहम या भ्रम नहीं है। यह काम से आदर को जोड़ने की विचारणा और साधना है। इसी तरह हाथ में कागज़ और कलम लेनेवाले व्यक्ति का, क़लम का अनुचित उपयोग करना, उस के औज़ारों का अपमान है। यह अनुचित उपयोग बदलाखोरी की भावना से निन्दा-साहित्य के रूप में भी हो सकता है, और पैसे के लिए बेचे गये कलम से सच को झुठलाने के रूप में भी। यह दोनों हत्या के रूप हैं और ज़िन्दगी के साधनों को क़त्ल के रूप में उपयोग करने का कर्म।

आज हमारे देश के कई कलमोंवालों के नाम सी. आई. ए. के तनख़ाहदार एजेन्टों के रूप में गिनाये जाते हैं। ख़रीदार कोई भी हो—सिर्फ़ अमरीका का प्रश्न नहीं है, इस की जगह अपने-अपने देश की सरकारें भी हो सकती हैं। प्रश्न अपने पवित्र औज़ारों के अनुचित उपयोग का है।

विश्वकर्मा की हथौड़ी का अनुचित उपयोग अगर हाथों को काटकर रख सकता है, तो दोस्तो! विश्वास रखना कि कलम जैसे औज़ार का अनुचित उपयोग भी अपनी ही आत्मा का क़त्ल सिद्ध होगा।

दीवारों में चिनी हुई लड़कियाँ

दुनिया के लोकगीत न जाने कैसा आँगन होते हैं, जहाँ सदियों से मर चुकी ज़िन्दगियाँ, रूहें बनकर एक साथ मिलकर बैठती हैं···

उन के चर्खे—उन की भाषाएँ— एक-दूसरे से अपरिचित होती है, पर अजीब संयोग कि उन चर्खों पर कातने के लिए दुःखों की पूनियाँ एक-सी होती हैं···

दुनिया के अलग-अलग देशो की भाषा शायद अलग-अलग जंगलों की लकड़ी होती है, जिन की ज़मीन अलग-अलग होती है, पर रूप-गुण और कर्म एक-सा होता है। और उन से बनाये गये ज़िन्दगियों के चर्खों में से दर्द की एक जैसी आवाज़ सुनायी देती है;

अभी-अभी मैकेडोनियन भाषा का एक लोकगीत मुझे मिला है, जिस में कांगड़ा के गीत 'कुल्ल-कुल्ल' की कथा, बिलकुल ज्यों-की-त्यों वर्णित है।

कांगड़ा के गीत में—गाँव 'चढ़ी' के लोगों ने जब कुल्ल (नहर) निकाली तो पानी ऊँचाई पर नहीं चढ़ता था। मैकेडोनियन गीत मे जब शतरुगा का पुल बन रहा होता है, तो जो दीवार दिन में बनायी जाती है, वह रात को गिर जाती है।

कांगड़ा के गीत में राजा को सपना आता है कि कुल्ल का पानी तब चढ़ेगा अगर यहाँ किसी की बलि दी जाये। और मैकेडोनियन गीत में जो नौ भाई, नौ राज, पुल का निर्माण कर रहे हैं, उन्हें अकस्मात यह खयाल आता है कि यह दीवार तब तक नही बनेगी, जब तक किसी को दीवार में न चिना जाये।

कांगड़ा का राजा सोचता है कि बेटे की बलि देने से कुल का नाश हो जायेगा, इसलिए बहू की बलि दूंगा, और बेटे को फिर से ब्याह लूंगा। उधर नौ राज सोचते हैं कि अगली सुबह जिस राज की बीवी सुबह पहले खाना लेकर आयेगी, उसे दीवार में चिन देंगे।

कांगड़ा के गीत में राजा बहू को मायके से बुला भेजता है, उस दिन बहू

जब शृंगार करती है उस की माँ के कलेजे में हौल-सा उठता है कि मंगलवार का जाना बुरा, पर बहू अपने ससुर का हुक्म नहीं टाल सकती। उधर मैंकेडोनियन गीत में सभी राज घर जाकर अपनी-अपनी बीवी से कह देते हैं कि वह सुबह खाना लेकर न आये। पर सबसे छोटी उम्र का राज 'मैनोल' अपनी बीवी से कुछ नहीं कह सकता, और वह सुबह खाना लेकर पहुँच जाती है।

कांगड़ा के गीत में बहू जब कुल्ल की यात्रा पर जाने लगती है, सास के पाँव छूती है, तो सास के दिल में हौल-सा उठता है, मुँह से निकलता है, "बुरी आयी जी···" और उधर मैंकेडोनियन गीत में मैनोल की बीवी जब खाना लेकर पहुँच जाती है, मैनोल फूट-फूटकर रोने लगता है···

एक जवान सुन्दरी कांगड़ा के गीत के अनुसार दीवारों में चिनी जाने लगती है, और जवान हसीना मैंकेडोनियन गीत के अनुसार और जिस तरह कांगड़ा के गीतवाली सुन्दरी तड़पकर कहती है "अग्गे ताँ चिणने ओ, पिच्छे वी चिणने ओ, छातियाँ रक्खी लैणी नंगी जी, इसा बत्ता अर्जन सुर्जन औंगे, चिचुए दा घुट्ट पियाँगी जी"—उसी तरह मैंकेडोनियन गीत की हसीना बिलखकर कहती है "एक न चिनना दायीं बहियाँ, एक न चिनना बायीं चूची, मैं बिटवा को दूध पिला लूँ···"

और मन भर-भर आता है कि फ़र्क़ सिर्फ़ ज़मीन का होता है, काल का होता है, क्या मानवी-चिन्तन के दुःखान्त की नींव हर स्थान और हर काल में एक ही होती है?

मोहब्बत : एक वक्री ग्रह

ज्योतिष शास्त्र में वक्री ग्रह का स्वभाव इस तरह बयान किया जाता है कि इस ग्रह के समय, इन्सान के पाँव पहले लपककर आगे बढ़ते हैं, फिर वही पाँव घबराकर पीछे हट जाते है···

इतिहास गवाह है कि सदियों से औरत के लिए 'मोहब्बत' लफ्ज़ एक वक्री-ग्रह बना हुआ है···

कोई ग्रह वक्री-ग्रह क्यों बनता है— इसका सम्बन्ध आसमानी मौसमों की हलचल से होता है "Critical states of various mixtures is the pressure temprature composition"—जिसे ज्योतिषी अपने सीधे-सादे लफ्ज़ों में बताते हैं कि सूरज के गिर्द घूमते हुए ग्रहों में से जब किसी मोड़ पर कोई ग्रह ज़रूरत से ज्यादा सूरज के क्षेत्र में आ जाता है, वह उस की कशिश से उस की ओर खिंच जाता है। पर सूरज का तेज उस की सहन-शक्ति से अधिक होता है, अगली ढलान उस की मदद करती है, और उस के पैर पीछे की ओर लौट आते हैं···

पर औरत-जात के लिए 'मोहब्बत' लफ्ज़ वक्री कैसे बना इसका सम्बन्ध सदियों से चले आ रहे सामाजिक-नज़रिये की हलचल के साथ है जिसे RHODE आइलैंड यूनिवर्सिटी की साइकालोजी डिपार्टमेंट की प्रोफेसर बर्निस लॉट (Bernice Lott) ने 'जेंडर रोल आइडियालोजी' का नाम दिया है।

कोई ग्रह कितनी देर तक वक्री रहता है—इसकी मियाद ग्रहों की चाल के अनुसार होती है। जैसे मंगल जो फ़ासला डेढ़ महीने में तय करता है, बृहस्पति तेरह महीनों में करता है, और शनि ढाई साल में। उसी हिसाब में वह ग्रह वक्री रहते हैं— मंगल और बृहस्पति थोड़े से दिन, और शनि कुछ महीने। पर शनि भी ज्यादा से ज्यादा छह महीने तक वक्री रह सकता है, इससे ज्यादा नहीं। पर औरत जात का दुःखान्त यह है कि उस के वक्री ग्रह की मियाद उस की उम्र जितनी लम्बी होती है।

इस मियाद की तशरीह में जायें तो इसका सम्बन्ध हमारे सामाजिक नज़रिये के उस हलचली मौसम के साथ जुड़ जाता है, जिस ने औरत के रोमांस में ताबेदारी के अर्थ को जोड़ दिया, उस की मोहब्बत के एहसास में कुर्बानी के अर्थ को, और उस की खुशी में दर्द के अर्थ को। और यही बुनियादी प्रशिक्षण, औरत की प्रत्यक्षवादी और प्रमाणवादी मोहब्बत में मायूसी और व्यर्थता मिला गया। इसी कारण उस की मोहब्बत में नफ़रत भी शामिल हो गयी, मजबूरी भी, और उस का नज़रिया वक्री ग्रह बनकर हमेशा एक लपकता हुआ कदम मर्द की ओर बढ़ाता है, और फिर सहमकर डरकर वही कदम पीछे हटा लेता है।

बर्निस लॉट की 'जैंडर रोल आइडियालोजी' उस चिन्तन-शैली के अर्थों में है—जो औरत को हमेशा नाबालिग अवस्था में रखती है। और यही बुनियाद होती है जिस के कारण मोहब्बत लफ्ज़ के अर्थ मर्द के लिए और हो जाते हैं, औरत के लिए और।

यही फ़र्क मर्द को शक्ति के अर्थ दे जाता है, और औरत को कमज़ोरी के। और जहाँ मर्द की परख पहचान उस की काबलियत के साथ जुड़ जाती है, वहाँ औरत की सिर्फ़ उस की जवानी के साथ और जिस्मानी खूबसूरती के साथ।

औरत का यही वसफ़ (सब पहलुओं से सिमटकर सिर्फ़ एक पर आ गया वसफ़) औरत और मर्द की साझेदारी में औरत को उस का एक पक्ष बनाने की बजाय, एक वस्तु बना देता है।

ज़ाहिर है कि ज़हनी काबलियत की मियाद बहुत लम्बी होती है, और जिस्मानी-कशिश की बहुत छोटी। इनका लेनदेन दोनों के लिए सिर्फ़ कुछ समय की तसल्ली बनता है, पर उस के बाद दोनों पक्ष थक जाते हैं, हार जाते हैं।

हमारे सामाजिक ढांचे में क्योंकि आर्थिक क्षेत्र मर्द के हाथों में है, इसलिए मर्द की उदासी और थकावट उस के लिए घातक साबित नहीं होती, पर औरत को वह तन-मन से तोड़कर उस की बाकी ज़िन्दगी के लिए उसे अपाहिज बना जाती है।

इस तवारीखी दु:खान्त की जड़ में वही 'जैंडर रोल आइडियालोजी' है जिस के कारण औरत—मोहब्बत के अर्थ रोटी, कपड़े और घर की हिफ़ाज़त में से खोजती है। जबकि हँसकर यह कीमत चुकानेवाला मर्द, कुछ देर बाद इसे बहुत महँगा सौदा समझकर खीझ उठता है। और मोहब्बत लफ्ज़ दोनों के लिए (अलग-अलग पहलू से) सिर्फ़ एक छलावा बन जाता है।

बालिग मोहब्बत छलावा नहीं होती। पर बालिग मोहब्बत के अर्थ हैं—बराबर शख्सियतवाले मर्द और औरत का मिलन। जिस में दोनों का अकेला-

पन टूटता है, पर दोनों में से किसी की भी शख्सियत नहीं टूटती।

दुनिया का साहित्य भले ही और हज़ारों बरस मोहब्बत की चमत्कारी कहानियाँ लिखता रहे, पर वह पलों का यथार्थ रहेगा, बरसों का यथार्थ नहीं बन सकेगा, जब तक बालिग मोहब्बत के चिन्तन तक पहुँचने के लिए, सामाजिक नज़रिये की दी हुई यह 'जैंडर रोल आइडियालोजी' नहीं बदलेगी।

कौवे-आदमी

पूर्वी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की एक दन्त-कथा है कि किसी ज़माने में आग का रहस्य सिर्फ़ सात औरतों को मालूम था, और किसी को नहीं। उन सात औरतों के पास सात छड़ियाँ थीं, जिन के एक ओर के नुकीले सिरों से वे ज़मीन की खुदाई, बुआई करती थीं, और दूसरे गोल सिरों में वे आग को सँभाल कर रखती थीं। और जब ज़मीन में से कोई फसल उगती-पकती थी, उस के अन्न को वे आग पर पका लेती थीं।

इसी तरह जंगली जानवरों को भी वे छड़ियों के नुकीले सिरों से पकड़तीं, और गोल सिरों में रखी आग से लकड़ियाँ जलाकर, जानवरों को भून-सेंक कर खा सकती थीं।

बस्ती में एक कौवा-आदमी था, जिसे हमेशा उन औरतों से ईर्ष्या होती थी, और वह सोचता रहता था कि किसी-न-किसी तरीके से वह आग का रहस्य जान ले।

वह सात औरतें सारे गाँववालों को अन्न पका कर देती थीं, जानवर भून कर देती थीं, पर उस कौवे-आदमी का दिल ईर्ष्या की आग में हमेशा जलता रहता था···

एक दिन कौवे-आदमी ने यह बात जान ली कि वे सात औरतें चाहे बहुत निडर हैं, सारा जंगल उनकी सेवा में रहता है, पर वे साँप से डरती हैं। सो कौवे-आदमी ने जंगल में एक जगह बहुत सारे साँप घेर कर गड्ढे में भर दिये। वहाँ बहुत-सी मिट्टी डालकर गड्ढा भर दिया। और जब वे सातों जंगल में गयीं, वह भी पीछे-पीछे चलता गया। एक जगह जब वे पेड़ के नीचे आराम कर रही थीं, कौवा-आदमी जाकर कहने लगा कि आज आपको शिकार नहीं मिला, इसलिए आप भूखी और थकी हुई हैं। मैं आपको एक ख़ज़ाने का पता बताता हूँ, आप छड़ियों से वह ख़ज़ाना खोद लीजिए और इस तरह वह सातों औरतों को उस गड्ढे के पास ले गया, जहाँ उसने साँप दबाये हुए थे।

औरतों ने जब छड़ियों से उस स्थान की खुदाई की, तो अचानक कई सांपों ने औरतों पर हमला कर दिया। उन्होंने घबरा कर छड़ियों से कई सांप मार डाले, पर फिर भी सांपों से डर कर वे जंगल की ओर दौड़ीं, इस घबराहट में उनकी छड़ियों के गोल सिरे खुल गये, और आग की कई चिंगारियां बाहर गिर पड़ीं···

कौवे-आदमी ने जल्दी से वह चिंगारियाँ इकट्ठी कर लीं, और बस्ती में आकर आग का राजा बन गया···

सातों औरतें कौवे-आदमी की इस चालाकी से इतनी उदास हो गयीं कि वे धरती को त्याग कर आसमान पर चली गयी। तब से वे सात तारे बन कर आसमान में रहती हैं······(ये वही सात तारे हैं, जिन्हें हम अपने देश में सप्त ऋषि कहते हैं)।

कौवे-आदमी ने बस्ती के सारे लोगों को अपने से दूर हटा दिया। उन का अन्न पकाने से भी इन्कार कर दिया और उनका शिकार भूनने से भी।

लोग दुखी होकर कच्चा अन्न और कच्चा मांस खाने लगे, और साथ ही कौवे-आदमी को गालियाँ देने लगे। एक दिन उन्होंने गुस्से में कौवे-आदमी की झोंपड़ी पर हमला कर दिया, और इस पर कौवे-आदमी ने गुस्से में जब लोगों पर आग फेंकी, तो वह आग उसकी झोंपड़ी में लग गयी···

इसी आग में कौवे-आदमी का, इन्सानी हिस्सा जल गया, और कौवेवाला हिस्सा उड़ कर पेड़ पर जा बैठा। वह कौवा, तब से पेड़ों पर बैठ कर कांव-कांव कर रहा है···

पौराणिक कथाओं में बुनियादी सच्चाई की वह शक्ति होती है कि सदियों बाद भी उस शक्ति की ताब बनी रहती है। यह आज भी सच है कि कौवा-मनुष्यों का, मानवी-हिस्सा हमेशा उनके स्वार्थ की आग में जल कर राख हो जाता है, और जो बाकी रहता है वह सिर्फ़ उनकी कांव-कांव वाला हिस्सा होता है। आज हम चाहे समाज को सामने रखें, चाहे साहित्य को, चाहे राजनीति को, जिन लोगों की, काम करने के बजाय, सिर्फ़ कांव-कांव सुनायी देती है, वह इस पौराणिक-कथा के मुताबिक आज के कौवे-आदमी हैं···

एक कर्म : अनेक रूप

जैसे

सैक्स का कर्म अगर कमाई का साधन हो तो वह व्यापार हो जाता है जिसमें औरत एक वस्तु होती है और मर्द एक ख़रीदार। यही कर्म अगर किसी ख़ास उद्देश्य की पूर्ति का साधन बने तो रिश्वत का एक रूप हो जाता है।

यही कर्म अगर बाहु-बल के ज़ोर से दूसरे की मजबूरी में से पैदा हो तो बलात्कार हो जाता है।

यही कर्म अगर एक व्यक्ति के लिए उम्र भर की सुरक्षा का और दूसरे व्यक्ति के लिए उम्र भर के स्वामित्व का साधन बने तो उसका रूप विवाह हो जाता है।

यही कर्म अगर सिर्फ़ वंश चलाने का वसीला बने तो एक मशीनी कर्म हो जाता है।

पर यही कर्म अगर दो रूहों की पहचान बने, और एक-दूसरे के अस्तित्व के आदर में से पैदा हो, तो ज़िन्दगी का जशन हो जाता है। सैक्स के कर्म को प्रतीक के तौर पर उपयोग कर के तंत्रविद्या ने इसे शिव और शक्ति का मेल कहा है जिसके बिना शिव भी परम-शिव नहीं बन सकता।

उसी तरह

कलम का कर्म अगर बचकाना रुचियों में से निकले तो जोहड़ का पानी हो जाता है।

यही कर्म अगर किसी प्रतिशोध में से जन्मे तो कूड़े का ढेर हो जाता है।

यही कर्म अगर मात्र पैसे की कामना में से निकले तो नकली माल हो जाता है।

यही कर्म अगर सिर्फ़ प्रसिद्धि की लालसा से उत्पन्न हो तो कला का कलंक हो जाता है।

यही कर्म अगर बीमार मन में से निकले तो ज़हरीली आबोहवा होता है।

यही कर्म अगर किसी भी सरकार की ख़ुशामद में से निकले तो जाली सिक्का हो जाता है।

यही कर्म अगर रिश्वत के ज़ोर पर एक नारा या प्रचार बने तो लोगों से दग़ा हो जाता है।

पर यही कर्म अगर चिन्तन की साधना में से निकले तो एक चमत्कार हो जाता है। यहाँ इस कर्म के इस रूप को अगर तंत्रविद्या वाली भाषा में कहूँ तो कह सकती हूँ—शुद्ध चिन्तन—शिव है, और कला एक कर्म-शक्ति, जिन के मेल के बिना कोई शिव परम-शिव नहीं हो सकता।

यहाँ परम-शिव शब्द वास्तविक कलाकार के अर्थों में है।

एक नज़्म का विस्तार

दुनिया की पहली नज्म—चढ़ते सूरज के पहले उजाले की स्तुति में लिखी गयी थी जिसका बुनियादी कारण रात के अँधेरे का भय था। इसीलिए उषा ऋग्वेद की देवी है। सूरज इसीलिए पूज्य था क्योंकि वह इन्सान को अँधेरे से पैदा होने-वाले ख़तरों से बचाता था।

प्रागैतिहासिक काल का हमारे पास कोई हवाला नहीं है। पर ईसा-काल से पहले का ऐतिहासिक समय अगर पाँच हज़ार बरस भी मान लिया जाये और ईसा-काल की बीस सदियाँ उसमें शामिल कर ली जायें, और इस इतने लम्बे अर्से को चीर कर—जहाँ आज का साहित्य पहुँचा है, उसे सामने रख लें तो देख सकते हैं कि किसी भी देश का साहित्य भय-मुक्त इन्सान की रचना नहीं है। बल्कि लगता है कि साधारण इन्सान के लिए हज़ारों बरस पहले जो ख़तरा सिर्फ़ रात के अँधेरे का ख़तरा था वह अब दिन के उजाले में भी फैल गया है।

आज अँधेरा जैसे एक अन्त-हीन चीज़ हो और उसे किसी प्रभात का उजाला कभी न चीर सकता हो।

यह अँधेरा चाहे आज एक लुटेरे वर्ग के हाथों साधारण इन्सान के लिए कमाई के साधन छीने जाने की शक्ल में है, चाहे किसी एक मज़हब के अनु-यायियों के हाथों किसी अन्य मज़हब के अनुयायियों की पीठ में घुपनेवाले छुरे की शक्ल में है, चाहे हाथ-पैरों के लिए और विचारों के लिए हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ बन चुके—जातियों, राष्ट्रों, या रंगों और नस्लों के भेदभाव में है, चाहे अन्धी ताक़त की शैदाई हाकिम श्रेणियों के हाथों जंग के हथियारों से लाखों लोगों की बे-आई होनेवाली मौतों की शक्ल में है, और चाहे इन्सान के दिनों-दिन बढ़ते हुए अकेलेपन में है। पर एक अन्तहीन अँधेरा है और उससे खौफ़ज़दा इन्सान आज भी जो कुछ लिखता है, लगता है—जो पहली नज्म उसने रात के अँधेरे से डर कर लिखी थी, यह सब कुछ, अलग-अलग स्तर पर, उसी एक नज्म का विस्तार है।

वाक्य-रचना

प्राचीन भारतीय सभ्यता का विश्वास था कि इन्सानों में कुछ पवित्र तपस्वा रूहें होती हैं जिन्हें अदृश्य को देखने की अद्वितीय शक्ति का वरदान मिला हुआ होता है। इसी आधार पर कवि और तपस्वी में एक समानता मानी जाती थी। वह कल्पना-शक्ति से देवताओं से सम्बन्ध जोड़ सकते थे, उन से बात कर सकते थे, और कविता के उच्चारण से उन्हें अपने पास बुला सकते थे, और इस तरह 'वेद-रचना को, कवियों के आत्म-ज्ञान के आधार पर, काल की सीमा से स्वतन्त्र समझा गया। मेरे ख़याल में, यह कवि की शाश्वत महानता को वर्णन करने का एक बहुत प्यारा अन्दाज़ था।

प्रेरणा, चिन्तन और बुद्धि का आचरण भी प्राचीन कवियों ने शुरू से ही जान लिया था। एक प्राचीन उदाहरण है कि कवि एक उड़ती हुई चील की तरह आसमान में विचरता है, और इन्तज़ार करता है कि कब कौन से क़ीमती ख़याल का टुकड़ा उस की नज़र की हद में आ जायेगा और इस के बाद वह एक बढ़िया बिम्ब के दर्शनवाले पल को अपनी कलम से समेट लेता है। मेरे ख़याल में यह ज्ञान-प्राप्ति की निरन्तर साधना का एक प्रेरणादायक उदाहरण था। इसी तरह कहा जाता था कि इन्द्र, अग्नि, वरुण और मित्र कवि के मन की एकाग्रता में सहायक होते थे। यह प्राकृतिक शक्तियाँ—अवश्य ही प्रेरणा, तीक्ष्णता, चेतनता और एहसासो की अमीरी का चिह्न होंगी। पुरातन काल में कवि का प्रभात को सम्बोधन करना भी उस के अपने मन में उठते हुए उजाले का प्रतीक होगा, और उस के धारण किये हुए सफ़ेद वस्त्र भी मन की निर्मलता के प्रतीक।

पुरातन हवालों में कवि के सपनों में होनेवाला देव-दर्शन, मेरे ख़याल के अनुसार, इन्सान की पहली पीढ़ियों के तजुर्बों से विरासत में धारण किये हुए इल्म का प्रतीक था, जिसका विश्लेषण सदियों बाद आज के मनोवैज्ञानिकों ने 'कोलेक्टिव नालिज' के रूप में किया है।

पर प्राचीन भारतीय चिन्तन की जो बात सब से अधिक चकित करती है—

.ई कवि की वाक्य-रचना के सम्बन्ध में है। वाक्य की हमारे ऋषि-कवियों ने उस स्त्री के रूप में कल्पना की थी जो सिर्फ़ देखने और सुननेवाले को अपना तन-मन अर्पित नहीं करती—वह सिर्फ़ उस मर्द को (उस कर्त्ता को या उस श्रोता को) अपना आप देती है जिसे वह अपनी रूह की गहराइयों में से प्यार करती है।

मेरे ख़याल में साहित्य की शैली के बारे में, नये-से-नय अन्दाज़ के बारे में, और हर समय बदलते हुए लहजे के बारे में, इससे ज्यादा ख़ूबसूरत मिसाल नहीं दी जा सकती कि रचना की शैली (यह सुन्दरी) अपने कर्त्ता को भी अपनी रूह तब छूने देती है जब वह रूह की क़द्रों-क़ीमतों से उसे प्यार करती है और अपने अर्थों को दूसरे के दिल में उतारने के लिए अपने पाठक की मित्र भी तब बनती है जब वह पाठक की सूझ और शख़्सियत की क़दर कर सकती है···

यह परीज़ाद औरत—यह कलम की शैली—जिस भी लेखक की महबूबा है, और जिस भी पाठक की मित्र—वह हर युग के ख़ुशनसीब लेखक हैं, और हर युग के ख़ुशनसीब पाठक।

नहीं तो—शैली को महबूबा बनाने की बजाय वेश्या बनानेवाले लेखकों का भी अन्त नहीं है—और उस का चीर-हरण करनेवाले पाठकों का भी कोई अन्त नहीं है···

स्वयं कृष्ण और स्वयं अर्जुन

इन दिनों एक प्यारे मासूम दिल की औरत मेरे पास आयी जिसे एक ख़ास पहलू से शिक्षित भी कह सकती हूँ—वह कुछ बरसों से प्रकृति-विज्ञान के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने का जतन कर रही है···

उस के बड़े उदास मुँह के पहले लफ़्ज़ थे—"अमृता ! तुम मेरा कृष्ण बन जाओ ! मेरा मन बहुत भटका हुआ है, मुझे गीता जैसा कोई उपदेश दो कि मेरा मन ठहर जाये···"

'उपदेश' जैसा लफ़्ज़ मेरे कानों के लिए और मेरे विचारों के लिए बड़ा 'ऊपरा' सा था, पर उस का दर्द समझ सकती थी, इसलिए कहा—"दोस्त ! अपनी जिन्दगी के तजुर्बे का सार जो पाया है, जो समझा है, तुम्हें हाज़िर कर सकती हूँ, तुम चाहे इसे कोई भी नाम दे लो !"

उस ने रिश्तों के रेगिस्तानों-जैसी दुनिया में अपनी प्यासी रूह का एक-एक पहलू मेरे सामने रख दिया कि पैदा होते ही माँ ने गले से लगा कर नहीं पाला, बहुत बच्चे होने के कारण घर की दादी-नानी जैसी औरत के हवाले कर दिया था जहाँ वह माँ-बाप और बहनों-भाइयों के मोह से वंचित होकर पली। साधारण घर में ब्याह हुआ, पर सास, ननदों, देवरानियों और जिठानियोंवाले घर में उसकी हस्ती बिलकुल नगण्य-सी रही, इतनी कि जिस की ओर ध्यान देने की उस के पति को भी जरूरत नहीं थी। उसका अस्तित्व किसी जगह से इतना व्याकुल हुआ कि उस ने पढ़ाई की एक डिग्री लेकर आर्थिक पक्ष से भी और आत्म-सम्मान के पक्ष से भी कुछ समर्थ होना चाहा। वह सामर्थ्य कुछ हद तक हासिल हो गया पर पढाई और नौकरी में समय बँट जाने के कारण, अपने बच्चों को सारा प्यार देते हुए भी, शायद उतना समय नहीं दे सकी—जिसका शिकवा अब बच्चे एक उलाहने की तरह उसे अकसर देते हुए कुछ निर्मोही-से हो गये हैं।

और मन की इस विकलता में से उसे एक मित्र-मर्द के लिए ऐसी मुहब्बत जाग उठी जिस के प्रत्युत्तर के लिए न उस मर्द के पास समय था, और न शायद

वह तीक्ष्णता जिस की इस औरत को जन्म से प्यास थी ।

यही दिल के किसी सूने कोने की पीड़ा थी जो इस औरत की इतनी बेचैनी थी कि उस ने आँखों के आँसुओं से मुझ से कहा—"अमृता ! तुम मेरा कृष्ण बन जाओ..."

उस ने जो कहा—यहाँ इसलिए दुहरा रही हूँ कि यह दर्द उस अकेली का ही कोई अकेला दर्द नहीं है, यह पता नहीं कितनी ही हजारों-लाखों औरतों की किस्मत का और हसरत का दर्द है। कहा—"घटनाओं के चेहरे अलग होते हैं, पर दर्द का चेहरा एक ही होता है, दोस्त ! यह दर्द मैं ने भी देखा हुआ है। इसलिए इस की रग-रग पहचान सकती हूँ। जो तुम ने मुझे आज कृष्ण कहा है, तो कानों से कहो कि मेरे 'उपदेश' को धारण कर लें !"

उस ने सारे दिल को जैसे अपने कानों में डाल लिया। मेरे लफ़्ज़ थे—"मेरी दोस्त ! जहाँ तुम खड़ी हुई हो, वहाँ से बस एक सीढ़ी ऊपर होकर खड़ी हो जाओ। यह नीचे की सीढ़ी वह है जहाँ तुम हाथ फैला कर कभी माता-पिता के प्यार को माँगती हो, कभी बहनों-भाइयों के प्यार को, कभी खाविन्द की तवज्जो को, कभी बच्चों के आदर को, और कभी किसी मित्र की भीगी हुई नज़र को...

"रूह का पका हुआ फल कोई न तोड़े, कोई न चखे, इस का दर्द मैं और तुम तो क्या, खलील जिब्रान भी नहीं सह सका था, उस ने भी तड़प कर कहा था—'कोई आये और मेरी रूह का पका हुआ फल तोड़कर चख ले, और मुझे इस भार से मुक्त कर दे।'—पर दोस्त ! यह किसी और के हाथों की मोहताजी का दर्द है—अगर रूह अपनी है, फल अपना है, तो इसे तोड़कर चखने और बाँटनेवाले हाथ भी अपने ही हो सकते हैं।

"इस रूह के पके हुए फल को बस दूसरे के हाथों की मोहताजी से बचा लो ! यह नीचे की सीढ़ी माँ-बाप, बहन-भाई बच्चे, या खाविन्द-मित्र के हाथों की मोहताजी की सीढ़ी है, जहाँ खड़े होकर हर एक को हाथ फैलाना पड़ता है। पर ऊपर की सीढ़ी तुम्हारे अपने ही दिल की दौलत से भरी हुई मुट्ठीवाली अवस्था है, जहाँ खड़े होकर तुम्हें लेना नहीं, देना है...

"तुम्हारी ग़ैरत अगर पैसे जैसी चीज माँगने के लिए हाथ नहीं फैला सकती, तो कोई प्यार-तवज्जो या मान-इज्ज़त माँगने के लिए अपना हाथ कैसे फैला सकती है ?

"दोस्त ! तुम से भी ज्यादा हमारे आलिमों-फाज़िलों का यह दुःखान्त है कि वह भी कुछ शोहरत माँगने के लिए दुनिया के आगे हाथ फैलाकर खड़े हुए हैं...

"यह सारा कर्म अपने आप को छोटा करने का है। रिश्तेदार-सम्बन्धी या राज-सरकारें कौन होती हैं ? हम तुम आप ही उन के सामने किसी निचली सीढ़ी

पर खड़े होकर उन्हें दाता बना देते हैं, और खुद भिखारी हो जाते हैं···

"तुम्हारी या किसी की भी अमीरी—दो बातों में होती है, एक : अपने दिल की दौलत में और दूसरी : इल्म मे। और यही दोनों दौलतें अपने हाथों की कमाई होती हैं। अपने अस्तित्व का मान मेरी गीता का सार सिर्फ़ एक ही फ़िक़रा है—कि भरे हुए हा··· किसी के मोहताज नहीं हो सकते। हमें स्वयं ही कृष्ण बनना है, स्वयं अर्जुन···"

अपना कोना

पिछले दिनों एक कारोबारी साहब मिलने आये, और कारोबार की बातें करते हुए बोले, "ईमानदारी क्या होती है? आज की दुनिया ईमानदार आदमी को कोने में लाकर धर देती है। फिर वह कोने में बैठा रहे अपनी ईमानदारी को लेकर…"

यह बात वह पहले भी कई बार कह चुके थे। पहले कई बार मैं ने बहस की थी, पर देख चुकी थी कि बहस व्यर्थ जाती है, इसलिए इस बार मैं ने कुछ नहीं कहा—सिर्फ़ धीरे से हँस दिया।

इस ख़ामोशी का और इस मुसकराहट का भेद उन्होंने नहीं जाना। पर यह भेद अपने पाठकों को बताना चाहती हूँ कि यह एक ईमानदार इन्सान की कितनी बढ़िया क़िस्मत है कि उसे आख़िर इस दुनिया में एक वह कोना नसीब हो जाता है जिसे वह अपना कोना कह सकता है, और अपने अस्तित्व का बीज उस कोने में बीज कर वह अपनी छाया में बैठ सकता है…

नहीं तो यह कोने, यह पेड़, और यह छायाएँ कब किसी को नसीब हुई हैं?

कारोबारी दुनिया में बगूलों की तरह भटकते हुए लोग कभी किसी सियासी रचना की छाया खोजते हैं, कभी किसी समाजी रचना का आसरा, और कभी किसी मज़हबी रचना की ओट।

यह कारोबारी मित्र, अपने और कारोबारी मित्रों की तरह, मौसम का तापमान देख कर, कभी गुरुओं, पीरों की तस्वीरें छापते, बेचते हैं, कभी किसी सियासी नेता के 'बचन', और मौसम के हाल के अनुसार—कभी ग़रीबी की भयानकता के नुमाइशी चित्र, या अर्द्ध-नग्न सुन्दर नारियों के नुमाइशी चित्र।

यह एक कोना-विहीन दुनिया का लम्बा सिलसिला है जिसका मुनाफ़ा मनुष्य के मुँह को जब ख़ून की तरह लग जाता है, वह इसी ख़ून को सूँघते हुए, कभी मुनाफ़े की मुट्ठी को भिक्षा की तरह माँगता है, कभी उसे चोरी से उठाकर जेब में डाल लेता है।

चोरी और भिक्षा का विश्लेषण एक ही होता है। भिक्षा असल में चोरी का ही बिचारा-सा हुआ रूप होती है। झपट्टा मार कर छीनने की बजाय हाथ फला कर मांगने की क्रिया।

भिक्षा के लिए फैलनेवाला हाथ कभी झपट्टा भी मार सकता है, या झपट्टा मारनेवाला हाथ कभी भिक्षा के लिए फैल सकता है, यह दोनों जन्‍ -के के तापमान के अनुसार होते हैं। और मौके का तापमान भी मौसम के - तरह बदलता है···

और यह भी—कि चोरी या भिक्षा जैसे हीन शब्द—हीन म- होते है, पर जब यही हीन मनुग्य कभी संयोग से किसी मठ या रा- ..रा-जैसी-छाया खोज लें या छीन लें, तो उनके यही हीन शब्द अपनी बातों में एक-पक्षीय कानूनों के कीमती कपड़े पहनकर—उन हीन शब्दों की नग्नता को भी ढक लेते है, और अपनी हीनता को भी।

कीमती कपड़ों से अभिप्राय—सिर्फ़ शाही कपड़े नहीं, यह वोटों के व्यापारियों के सफ़ेद भेस भी हो सकते हैं और रूहों के व्यापारियों के भगवे भेस भी···

पर यह वास्तविकता है कि मांगी हुई या छीनी-लूटी हुई जगहों के व्यापारी - कभी वह कोना हासिल नहीं कर सकते, जहाँ वह एक ईमानदार इन्सान को कोने में लाकर बिठाते हैं। यह कोना सिर्फ़ एक ईमानदार आदमी की तकदीर होती है जहाँ वह अपने अस्तित्व का सच बीज कर अपनी छाया में बैठ सकता है···

उस दिन मेरी खामोशी और मेरी मुसकराहट का भेद सिर्फ़ यह था कि मैं दिल के सारे अदब के साथ कोनोवालों को कोना मुबारक ! कह रही थी···

अक्षर-शक्ति

अपने छोटे-से बगीचे में पौधों को पानी दे रही थी कि कुछ पुराने गमलों को देख कर ख़याल आया—सूरजमुखी के बीज पड़े हुए हैं, कुछ गमलों में लगा दूं। एक टूटे हुए गमले के ठीकरों को नये गमलों के निचले हिस्से में रखकर, मिट्टी भरी, फिर मिट्टी में बीज रखे, उन्हें मिट्टी से ढका, फिर उस पर पानी छिड़क दिया, और उन्हें एक ओर रखकर, जिन पेड़ों-पौधों में सूखे हुए पत्ते अड़े हुए थे, वह झाड़ने लगी -- साथ ही ख़याल आया कि यही तीन कर्म—बीज को बीजने का, फिर उसे पानी देकर पालने का, और फिर उसके सूखे पत्ते झाड़ने का -- दुनिया की रचना का आदि कर्म है। इसी का नाम ओम होता था ··

ओम शब्द तीन अक्षरों का संक्षेप है—जिसमें 'अ' रचना का मूल है, 'उ' उसके पालन का चिह्न, और 'म' उसके झड़-सूख जाने का संकेत। यह एक ही शक्ति के तीन रूप हैं, जिसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव का नाम भी दिया जाता है।

साथ ही—अपनी धरती के प्राचीन फ़लसफ़े से एक प्यार आ गया। हैरानी भी आयी कि हज़ारों बरस पहले जब विज्ञान नाम की चीज़ नहीं होती थी, मेरी इस धरती ने पूरी दुनिया की सृष्टि रचनेवाली पचास कास्मिक वाइब्रेशन्ज़ कैसे खोजी थीं···

मन—हज़ारों बरसों की तहों में उतरता गया···आँखों की ताकत सिर्फ़ वर्तमान के थोड़े से हिस्से को देख-समझ सकती है, उस से जो कुछ भी परे होता है उसकी सामर्थ्य से परे ही रह जाता है, पर एक नज़र होती है, जिस्म का हिस्सा नहीं होती, पर होती है, मैं ने उस घड़ी उस 'नज़र' की सामर्थ्य देखी -- देखा कि कोई मेरे जैसे ही खाकी बदन हैं—जो पचास ख़िलायी लहरों को कागज़ों पर लकीरों की शक्ल में लिख रहे हैं···कुछ लकीरें ऊपर से नीचे की ओर जा रही हैं, और कुछ बायें से दायें···और इन पचास तरह की शक्लों में वह पचास ख़िलायी लरज़िशें लिपट गयी हैं···

चेतन मन हँस-सा पड़ा, बोला—दोस्त ! तुमने आज तक जो भी लिखा या पढ़ा है, उसकी बुनियाद वही पचास लकीरों के रूप हैं—जो संस्कृत के पचास अक्षर होते हैं, और हर अक्षर, हर खिलाई लरज़िश का रूप होता था···

चेतन मन के जवाब में मैं ने कुछ नहीं कहा, पर अपने सारे बदन में एक झनझनाहट महसूस की। उस समय चेतन मन ने ही कहा "यही झनझनाहट होती है जिसे ओम लफ़्ज़ से जोड़कर ओमकार बनता है, ओङ्कार बनता है। और यही लफ़्ज़ सारी ख़िलाई ताक़तों की जमा होता है···"

मैं मुग्ध-सी उसे सुन रही थी कि वह अचानक हँसने लगा। इस बार उसकी हँसी बहुत कड़वी थी, इतनी कि उसकी कड़वाहट से मेरी जीभ सूख गयी। वह बोला, "हर अक्षर, हर ख़िलाई ताकत का रूप होता था, पर अक्षरों को धारण करने के लिए इन्सान के चिन्तन से लेकर उसके होंठों तक—सच की आवश्यकता होती है। उसी सच के साथ कर्म की आवश्यकता होती है, चेतन-साधना की आवश्यकता होती है जो उसकी आत्मिक शक्ति को जगाती है। उसके बिना हर अक्षर बेजान होता है। आज जहाँ भी, जो कोई भी, जो कुछ कहता है—सब अक्षर शक्तिहीन होकर मिट्टी में गिर रहे हैं···अक्षरों का कर्म मानसिक और ख़िलाई ताकतों का रूप होकर एक शक्ति बनना था। देखो ! आज वही, सबके होंठों पर और काग़ज़ों पर पड़े हुए अर्थहीन हो गये हैं···"

और मैं चुप हूँ—मन की चेतना भी हैरान और चुप है।

पहचान

इन्हीं दिनों मेरे पास एक बहुत प्यारी लड़की आयी। मेरे नाविलों में स्त्री-पात्र का अध्ययन—उस के उस पेपर का विषय है, जो उसे इस वर्ष के अन्त में, अमरीका में हो रहे किसी सेमीनार में पढ़ना है। उसी सम्बन्ध में उसे मेरा नज़रिया विस्तार से जानना था, इसलिए मेरे नाविल 'नागमणि' की अलका के सम्बन्ध में उसने खास तौर से पूछा—"पूरे नाविल में अलका आज की औरत है, तगड़ी और निस्संकोच। पर अन्त में वह दकियानूसी औरत हो जाती है—जब अपने महबूब की बीमारी की ख़बर सुनकर उसके पास वापस जाना चाहती है। जिस ने ख़बर सुनायी थी— उस ने कहा, 'पर अगर तुम्हारे पहुँचने तक वह ज़िन्दा न हो ?' तो वह कहती है 'तब भी मैं वहाँ अपने घर रहूँगी, एक विधवा औरत की तरह···' वह सिर्फ़ एक ही मर्द के बारे में क्यों सोचती है? वह अगर ज़िन्दा न भी हो, तब भी। यह सिर्फ़ एक मर्द वाला नज़रिया आज की औरत का नज़रिया नहीं है···"

मैं ने उस प्यारी लड़की को जो जवाब दिया था, वह अपने पाठकों से भी बाँट लेना चाहती हूँ—मुहब्बत के बारे में अपने नजरिये को स्पष्ट करने के लिए। कहा—"पूरा नाविल अलका और कुमार की शक्ल में दो विरोधी विचारधाराओं का टकराव है। कुमार के विचार में मुहब्बत एक बन्धन है, और अलका के विचार में 'स्वयं' की पहचान, इसलिए स्वतन्त्रता। कुमार मुहब्बत को स्वीकार भी करता है, उस से इनकार भी करता है। पर अलका को कोई दुविधा नहीं है। उसका 'एक मर्द' का फ़ैसला औरत के जद्दी पुश्तैनी संस्कारों में से नहीं, 'स्वयं' की पहचान में से है। नाविल की आखिरी सतर—अगर संस्कारों के अधीन होती तो वह आज की तगड़ी औरत का विचार नहीं कही जा सकती थी, वह सचमुच एक दकियानूसी विचार होती, हड्डियों में रची हुई ग़ुलामी का इज़हार। पर वह सतर औरत के जद्दी पुश्तैनी नज़रिये से भी मुक्त है, संस्कारों से भी। इसलिए वही लफ़्ज़ जो आज तक औरत की कमज़ोरी

और मजबूरी में से कहे जाते हैं, अलका के मुंह से कहे जाते हैं, अलका के मुंह से पहली बार औरत की स्वतन्त्रता और ताकत बनकर निकलते हैं।

अलका जैसा पात्र जो जदीद अदब में भी 'अति जदीद' माना गया है, उस के मुंह से कहलवाया आख़िरी फ़िकरा मेरी चेतन विचारधारा है। वही लफ़्ज़ जो सदियों से आज तक औरत कहती रही है, मैं ने यही फ़र्क़ बताने के लिए इस्तेमाल किये हैं कि यह लफ़्ज़ जब ज़िन्दगी की कमज़ोरी और मजबूरी में से निकलते हैं तो कितने भयानक होते हैं, ज़िन्दगी के अर्थों को खो देनेवाले, पर यही लफ़्ज़ जब किसी की स्वतन्त्रता और ताकत में से निकलते हैं तो कैसे 'स्वयं' की महक होते हैं, ज़िन्दगी को अर्थ देनेवाले।

मेरे लिए 'एक मर्द' या 'बहुत से मर्द' का फ़लसफ़ा, न भारतीय औरत की परम्परा से जुड़ा हुआ है, न परम्परा से बदला लेने की इच्छा से। यह सिर्फ़ 'स्वयं' की पहचान से जुड़ा हुआ है, और पहचान के फ़ैसले से।

आबेहयात

मुहब्बत लफ़्ज़ को आबेहयात लफ़्ज़ से एकाकार करते हुए मैं दुनिया के एक बहुत बड़े चिन्तक बर्ट्रेण्ड रसेल की वह पंक्तियाँ दुहराना चाहती हूँ जो उस ने अपनी आत्मकथा के आमुख में लिखी हैं कि उस के जीवन का उद्देश्य क्या है :

"मेरी ज़िन्दगी की हाकिम तीन बातें हैं — बहुत सादी सी, पर बहुत तगड़ी —एक मुहब्बत की तलाश, दूसरी इल्म की जुस्तजू, और तीसरी बर्दाश्त की हद के बाहर जो इन्सानी दुख-दर्द है, उन का दारू खोजना। यह तीनों वेग—तेज़ हवाओं जैसे मुझे कहीं भी उड़ा-भटका कर ले जाते रहे हैं।" और मुहब्बत की तशरीह करते हुए बर्ट्रेण्ड रसेल लिखता है, "मुहब्बत की तलाश मैं ने इसलिए की कि यह ज़िन्दगी को ख़ुमार देती है—इस ख़ुमारी के कुछ घंटों पर मैं सारी बाक़ी ज़िन्दगी न्योछावर कर सकता हूँ···मैं इसे ढूंढता-खोजता रहा, क्योंकि यही होती है जो इन्सान को अकेलेपन से मुक्त करती है। अकेलापन — जिस में कोई काँपती चेतना से, ज़िन्दगी के सिरे पर खड़े होकर ऐसे झाँकता है—जैसे एक ठण्डी, गहरी और बेजान खाई में देख रहा हो···"

आगे जाकर रसेल यह भी लिखता है, "बहुत सारे मर्द औरतों से प्रभावित होने से डरते हैं। पर जहाँ तक मेरा तजुर्बा है यह एक मूर्ख डर है। मुझे लगता है कि मर्दों को औरतों की आवश्यकता होती है, और औरतों को मर्दों की—मानसिक तौर पर भी, और जिस्मानी तौर पर भी।···जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं उन औरतों का ऋणी हूँ जिन से मैं ने मुहब्बत की है। उन के बिना मैं बहुत तंगदिल इन्सान रह जाता···"

मार्लन ब्रैण्डो को मैं फ़िल्म के क्षेत्र का एक ऐक्टर नहीं, एक कलाकार मानती हूँ। और उस के इन शब्दों के साथ सहमत हूँ कि दुनिया में हर कोई ऐक्टर है, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि कई लोग इसे कारोबार के तौर पर अपना लेते हैं, वह दूसरों से इस व्यापार को कुछ ज्यादा जानते हैं, और उन्हें इस का मोल भी मिलता है। वैसे ज़िन्दगी में भी लोगों को इस का मोल मिलता है—

जैसे जिस सेक्रेटरी को मालूम हो कि उस में सैक्स अपील है, वह इस का इस्तेमाल करती है, और दूसरों से महँगी हो जाती है···और हम सब दिल से जानते हैं कि फ़िल्मों के सितारे कलाकार नहीं होते···मेरी नज़र में एक भी कलाकार नहीं –" मैं मार्लन ब्रण्डो को ऐक्टर की बजाय कलाकार मान कर, मुहब्बत और औरत के बारे में उसके नज़रिये को मैं मान देती हूँ – "मर्दों का औरतों को नफ़रत करना असल में मर्दों का औरतों से ख़ौफ़ खाना है। उन्हें यह ख़ौफ़ औरतों पर आधारित होने के ख़याल से आता है···मर्दों को औरतें पालती हैं, वह उन के सहारे बड़े होते हैं—और इसी मोहताजी के ख़ौफ़ से इतिहास इन बातों से भरा हुआ है कि औरतें कितनी बुरी हैं, कितनी खतरनाक हैं। सारी बाइबल में उन की निन्दा के हवाले हैं। औरत मर्द की पसली से बनायी गयी थी—यह कहानी भी बाद में मर्दों ने घड़ ली अपने ही ख़ौफ़ में से—"

इस तरह मुहब्बत के असल अर्थों से सिर्फ़ औरत वंचित नहीं हुई, मर्द भी वंचित हुआ है। और इस के अर्थों को नगण्य कर के औरत ने मर्द से मिलनेवाले सुखों के साधन को मुहब्बत समझ लिया है, और मर्द ने औरत की जवानी को, और औरत के रूप को, मुहब्बत का नाम दे लिया है···मेरे अनुसार मुहब्बत के अर्थों को आबेहयात के अर्थों में समझा जा सकता है—जिस की एक घूंट पीने से कोई मौत-रहित हो जाता है—'स्वयं' के विश्वास की मौत से, और किसी भी तरह के उत्साह, सच, और साहस की मौत से मुक्त···

मुहब्बत से लबरेज़ हुए पलों में – इन्सान अपने महबूब पर ज़िन्दगी को न्योछावर करने के समर्थ हो जाता है,—यही निडरता आबेहयात होती है, जो उसे मौत के भय से मुक्त कर देती है। और यही भय-मुक्त हो जाना मौत-रहित हो जाना होता है।

यह मुहब्बत के खोये हुए अर्थ हैं—कि आज जिन के पास पदवी, अमीरी, जवानी और हुस्न जैसी नेमतें भी हैं—उन के अन्तर में भी अकेलेपन का कम्पन उतरा हुआ है···किसी मर रहे अंग का कम्पन···

यथार्थ जो है, और यथार्थ जो होना चाहिए

"यथार्थ जो है, और यथार्थ जो होना चाहिए"—अगर इन के बीच का अन्तर मुझे पता न होता, तो मेरा ख़याल है, मुझे अपने हाथ मे कलम पकड़ने का कोई हक़ नहीं था।

इस बात की तशरीह करने के लिए यहाँ मैं बंगाल के लेखक बिमल मित्र की एक कहानी 'धरन्ती' का हवाला देना चाहूंगी। कहानी का आरम्भ लेखक इस तरह करता है "अगर यह कहानी मुझे न लिखनी पडती तो मैं खुश होता" —यह आँखों-देखी कहानी कोई मिसेज़ चौधरी आकर लेखक को सुनाती है, और साथ ही बड़ी शिद्दत से कहती है "बिमल ! तुम यह कहानी जैसे मैं ने सुनायी है, हू-ब-हू वैसे ही लिख दो, पर इस का अन्त बदल कर !"

कहानी यह है कि मिसेज़ चौधरी एक मकान-मालकिन है और मकान के कमरे एक-एक रात के हिसाब से उन लोगों को किराये पर देती है, जिन्हें किराये की औरत के साथ रात गुज़ारने के लिए कमरे की ज़रूरत होती है। यह कमाई उस के गुज़ारे का साधन है और इस क़ारोबार में एक अनहोनी बात हो जाती है कि एक जवान, सुन्दर और ईमानदार लड़की के पास अपने महबूब से मिलने के लिए कोई जगह नही है, इसलिए वह लड़की और उस का महबूब कभी-कभी मिसेज़ चौधरी से पाँच रुपये कुछ घण्टों का किराया देकर एक कमरा ले लेते हैं। दोनों छोटी नौकरी करते हैं, विवाह करना चाहते हैं, पर कोई घर किराये पर ले सकने की उन में सकत नहीं है, इसलिए विवाह का, और घर का सपना वह पूरा नहीं कर सकते। दोनों में इतनी सकत भी नही कि बाहर कहीं मिल कर खाना खा सकें। इसलिए लड़की घर की पकी हुई रोटी लपेट कर ले आती है, वह दोनों साथ मिलकर, उस कमरे में बैठकर, खा लेते हैं, बातें कर लेते है, घड़ी भर जी लेते हैं।

मिसेज़ चौधरी शुरू से इस कारोबार में नहीं थी। वह भी कभी शरीफ़-ज़ादी थी, घर की गृहिणी थी, तुलसी की पूजा किया करती थी। पर ज़िन्दगी

की कोई घटना ऐसी घट गयी थी कि उसे गुज़ारे के लिए यह कारोबार करना पड़ा था। इसलिए उसे इस सच्ची, सादी, और सुन्दर लड़की से मोह-सा हो जाता है। कभी उन के पास पाँच रुपये भी नहीं होते तो मिसेज़ चौधरी तीन रुपये ही ले लेती है, और कभी कमरा उधार पर भी दे देती है।

उस मकान में आनेवाले सब मर्द ऐश-परस्त हैं, नित नयी लड़की चाहते है, सो उन में से एक कोई अमीरज़ादा पाँच सौ, आठ सौ, एक हज़ार रुपया खर्च करने के लिए भी तैयार है, अगर कभी उसे एक रात के लिए वह लड़की मिल जाए जो अपने महबूब के सिवा किसी की ओर नज़र उठाकर नहीं देखती। मिसेज़ चौधरी उस की पेशकश को ठुकरा देती है, क्योंकि यह बात उसे असम्भव लगती है।

तभी लड़के की नौकरी छूट जाती है और उस का सपना हमेशा के लिए अधूरा रह जाने की हद तक पहुँच जाता है। इस हालत मे मिसेज़ चौधरी उस लड़की से उस अमीर आदमी की सिर्फ़ एक रात के लिए एक हज़ार रुपये की कीमतवाली बात कह देती है। लड़की आँखें झुकाकर कहती है, "अच्छा, मैं उस से पूछ लूँ"—और फिर वापस आकर वह एक रात की कीमत एक हज़ार रुपया कबूल कर लेती है।

मिसेज़ चौधरी का विश्वास डिग जाता है। पर वह लड़की एक रात उस आदमी के साथ गुज़ारकर, एक हज़ार रुपया लेकर चली जाती है। और फिर कुछ दिन के बाद उसे लड़की के विवाह का निमन्त्रण पत्र मिलता है। वह अचम्भे से भरी हुई विवाह में जाती है—वही लड़की सुहाग का जोड़ा पहने बैठी हुई है, और उस का वही महबूब उस की माँग में सिन्दूर भर रहा है।

मिसेज चौधरी के पैरों-तले की धरती हिल जाती है। वह उसी शाम को कहानी-लेखक के पास आकर यह कहानी लिखने के लिए कहती है, और साथ ही बड़ी शिद्दत से कहती है "तुम इस कहानी का अन्त बदल देना। यह विवाह यथार्थ नहीं हो सकता। ऐसी घटना के बाद सिर्फ़ तबाही यथार्थ होती है। आज का विवाह कल का तलाक बन जायेगा। वह लड़की भी आख़िर में मेरी तरह मेरे जैसा धन्धा करेगी। यही सदा से होता आया है, और होता रहेगा···"

कहानी-लेखक कई बरस तक कहानी नहीं लिख सकता, क्योंकि वह नहीं जानता कि कहानी का क्या अन्त लिखना चाहिए। और इस तरह पन्द्रह बरस बीत जाते हैं। वह दोनों पात्रों को ढूंढ़ने की कोशिश करता है, पर वह कहीं नहीं मिलते। फिर एक संजोग घटता है कि कलकत्ते से दूर मध्य प्रदेश में एक नयी लाइब्रेरी के उद्घाटन पर लेखक को बुलाया जाता है, और समारोह के बाद लाइब्रेरी का वैलफ़ेयर आफ़िसर उसे अपने घर चाय पर बुलाता है। वह घर एक छोटा-सा बँगला है, जिस का छोटा-सा बगीचा है, और घर की एक-

एक चीज़ पर सुखी ज़िन्दगी की मोहर लगी है। दोनों पति-पत्नी उस से किताबों की बातें करते हैं। उन का बच्चा बहुत प्यारा है, पर उस का नाम इतना अनोखा है—कि लेखक के आश्चर्य करने पर, मर्द बताता है कि हम पति-पत्नी दोनों ने अपने नामों को मिलाकर -अपने बच्चे का नाम बनाया है। यहाँ लेखक को अपने खोये हुए पात्र मिल जाते हैं। यह दोनों वही मुहब्बत के दीवाने हैं जो कभी मिसेज़ चौधरी के घर कुछ घण्टों के लिए कमरा किराये पर लिया करते थे···

अब लेखक पन्द्रह बरस से मन में अधूरी पड़ी हुई कहानी लिख सकता है। पर जैसे मिसेज़ चौधरी ने कहा था कि इस कहानी का अन्त सिर्फ़ दुखान्त लिखना चाहिए, क्योंकि दुःखान्त ही इसका यथार्थ है, कहानी-लेखक वह नहीं लिख सकता।

पराये मर्द की सेज पर सोकर एक हज़ार रुपया कमानेवाली लड़की के अंगों को वह रात बिलकुल नहीं छू सकी। वह रात—उस की रूह और उस के बदन से हटकर परे खड़ी रही। सिर्फ़ लड़की की रूह से परे नहीं, उस के महबूब की रूह से भी। और वही एक हज़ार रुपया --उन दोनों के सपनो की पूर्ति का साधन बना, उन के वस्ल का सच, उनके घर की बुनियाद।

यह कहानी एक बहुत ख़ूबसूरत सम्भावना है उस यथार्थ की जो, अगर सम्भव नही, तो सम्भव हो सकना चाहिए।

कोई भी अदीब, अगर ज़िन्दगी की नयी और सशक्त क़द्रो से जुड़ी हुई सम्भावनाओं को -- ज़िन्दगी के यथार्थ की हद में नहीं ला सकता, तो मेरे विश्वास के अनुसार वह सही अर्थों में अदीब नही है।

एक लेखक की—अपने पाठकों से वफ़ा, सिर्फ़ इन अर्थों मे होती है कि वह पाठकों के दृष्टिकोण का विस्तार कर सके। जो लेखक यह नही कर सकता वह अपनी कलम से भी बेवफ़ाई करता है, पाठकों से भी।

'धरन्ती' कहानी का लेखक जब यह कहता है "अगर मुझे यह कहानी न लिखनी पड़ती तो मैं ख़ुश होता" तब वह सिर्फ़ वह मनुष्य है जो सदियों से चले आ रहे उस यथार्थ का कायल है जिसका अन्त सिर्फ़ दुःखान्त होता है। पर जब वह कहानी का अन्त वह नहीं लिख सकता जो सदियों से होता आया है, तब वह सही अर्थों में एक कहानीकार है।

मैं ने भी जब और जो भी लिखा है, या लिखती हूँ, सही अर्थों में एक कहानीकार होने के विश्वास को लेकर लिखती हूँ। और साथ ही इस फ़र्क़ को सामने रखकर– "अमृता जो है—और अमृता जो होनी चाहिए" -- बिलकुल उसी तरह "यथार्थ जो है—और यथार्थ जो होना चाहिए।"

जवानी की बावरी लटें

पूस का पाला मुंडेरों से नीचे उतरते हुए—अब बदन पर भी उतरने लगा था, और मैं धूप की एक कतरन ढूंढ़कर घर की छत पर, पीली दरी का टुकड़ा बिछा कर, अलसायी-सी हो गयी थी कि घर की झाड़-पोंछ करनेवाली दोनों मुनिया और कम्मो छत पर झड़े हुए नीम के पत्ते बुहारने के लिए आ गयीं···

धूप की कतरन अब तक फैल कर कोई दो चारपाइयों की जगह घेर चुकी थी—इसलिए मुनिया और कम्मो मुझ से थोड़ी-सी दूरी पर, मुकड़कर बैठते हुए बोलीं—'माँ ! हम भी पीठ को धूप लगा लें ?'

कुछ मिनट बीत गये । वह दोनों झाड़ू की सींकों की तरह इकट्ठी-सी हो कर बैठी रहीं । फिर धूप ने हौले-हौले उनकी गाँठ ढीली कर दी, और वह हौले-हौले बातें करते हुए झाड़ू की सींकों की तरह खुल गयीं···

धूप के सेंक से मैं ऊँघ सी गयी थी, जब कम्मो की आवाज़ एक सींक की तरह चुभी और मैं चौंक-सी गयी । कम्मो मुनिया से कह रही थी —लुगाई की जून ही बुरी होती है, मर्द की जीभ सिली हो तो सास की जीभ फट जाती है, ससुर की आँखें···

मैं जानती थी कि दोनों ब्याही हुई हैं, दो-दो बच्चों की माँ हैं, और चाहे उन की जवानी अभी भी कोरे कपड़े के समान है, पर उस पर कई जगह ग़रीबी की खौंचें लगी हुई हैं···

मैं ने उन की ओर एक बार देख भर लिया, कहा कुछ नहीं । लगा—कुछ पूछूं-कहूँगी तो वह फिर बुहारी की तरह बँध जायेंगी···

धूप के सेंक से शायद मुनिया का बदन मचल उठा था, वह ज़िन्दगी के मेह-पाले को बदन से झाड़ते हुए कम्मो से बोली, "अरी, तू अपना बुड्ढा मेरी बुढ़िया को दे दे—दोनों की जोड़ी बनती है । तेरा ससुर बहुत ही पाजी है, और मेरी सास भी उस के मुक़ाबले की है···"

जवाब में कम्मो ने कहा, "बात तो तू ने खरी कही । मेरी सास तेरे ससुर

जैसी घुन्नी है, दोनों की जोड़ी खूब रहेगी···" तो मुनिया बोली, "उन की जून भी सँवर जायेगी, हमारी भी। चल, फिर दोनों के फेरे करवा दे! बाम्हन ने तो अपने टके ही लेने हैं, और क्या···आधे पैसे तू डालियो, आधे मैं डालूंगी···"

अब मुनिया टको से पानी का मग लेकर ईंटों के फ़र्श पर अपनी एड़ियाँ रगड़ रही थी। मैली एड़ियाँ कुछ चमक उठी थीं, और शायद इसी लिए एड़ियों की तरह मुनिया भी चमककर बोली, "बाम्हन को तो बस टकों का मोह होता है, किसी के दिल से तो होता नहीं···"

मुझे मुनिया की बात की थाह नहीं मिली थी, पर कोई घड़ी भर को चुप रहने के बाद जब कम्मो ने मुनिया के दिल को छेड़ दिया तब बात की थाह मिल गयी। और मैं भी हुंकारे की तरह उन की बातों में रिल गयी। लगा, अब मुनिया इस तरह एक-एक सींक कर के बिखर चुकी थी कि मेरे सामने जल्दी से बुहारी की मुठिया की तरह नहीं बँधेगी। मुनिया ने कम्मो की जगह मेरी ओर देखते हुए कहा, 'माँ! तुम बताओ! मन्त्र सच्चे हैं या टके? हम दो बहनें थीं, दोनों के फेरे दो भाइयों के साथ पड़े। मैं भी काठी की इकहरी थी, और दोनों भाइयों में छोटा भी काठी का इकहरा था, उधर मेरी छोटी बहन भी भारी काठी की थी, और दोनों भाइयों में बड़ा भी भारी काठी का था। मेरी सास देखने आयी तो मेरी माँ से कह गयी 'बड़ी के फेरे छोटे से करवाना, और छोटी के बड़े से। जोड़ियाँ तब ही बनेंगी।'—और मेरी माँ ने फेरे करवा दिये। हम दोनों अपने-अपने मर्द के साथ ससुराल आयीं तो ससुरजी बोले, 'नहीं, मुझे तो यह मंज़ूर नहीं' बड़ी बड़े के साथ, और छोटी छोटे के साथ—तभी जोड़ी ठीक बनती है।"

"फिर?" मैं ने ज़रा-सा चौंककर पूछा, और साथ ही दरी पर छाँह आ जाने के कारण मैं ने दरी को घसीट कर धूप में कर लिया।

"फिर क्या! घुन्ने ने बाम्हन बुलवाकर चार टके दिये और मेरे फेरे बड़े से करवा दिये, और मेरी बहन के छोटे से, और हमें अपने-अपने मर्द की खाट से उठा कर दूसरे की खाट पर डाल दिया।"

मुनिया से कुछ पूछने की बजाय मैं सोच में उतर गयी कि यह कसक संस्कारों की है या दिल में उतरी किसी की सूरत की है?—"शायद दोनों बातों की···" मन ने कहा, पर साथ ही कहा, "अभी जो अपने ससुरों और सासों के विवाह रचा रही थीं वह संस्कारों की पकड़ में कैसे हो सकती है···"

इतने में मेरी जगह मुनिया से कम्मो पूछ रही थी, "दुनिया तो होती ही खोटी है, पर तू खरा बात बता कि तुझे अभी भी छोटा याद आता है?"

मुनिया ने कम्मो को उत्तर देने के स्थान पर मुझ से पूछा, "माँ! तुम बताओ! एक बार जिस के साथ फेरे डल गये, वह ही अपना मर्द नहीं हो गया?"

मुनिया का जवाब संस्कारों में से खोजा हुआ जवाब था। मैं कुछ कहने जा रही थी कि कम्मो ने कहा, "अरी, तू सच बात कह। मैं तुझ से पूछती हूँ कि तुझे छोटा अच्छा लगता है?"

मुनिया की एड़ियाँ अब और भी ज्यादा चमक रही थीं। मुंह भी एड़ियों की तरह चमक पड़ा। पर वह बालों की लटूरियों का जूड़ा बाँधने लगी। बालों की दो लटें जूड़े में नहीं बंध रही थीं। उस ने थक कर सारा जूड़ा खोल दिया, और बोली, "कम्मो भाभी! बात तो दिलों की सच्ची होती है, दिल में तो छोटे का मुंह ही बसता है···"

और मैं अभी तक सोच रही हूँ: पता नहीं—यह गीत किस ने लिखा था "अहल जवानी दियाँ मेढियाँनी माए, डरदा कोई वी ना गुंदे···" (भरी जवानी की लटें, माँ री! डर का मारा कोई न गूंथे)

शुद्ध-स्वर

राग-ऋषियों ने सात सुरों की कल्पना इस प्रकार की है—मोर की आवाज़ से खड़ज, पपीहे की आवाज़ से ऋषभ, बकरी की आवाज़ से गन्धार, कूंज की आवाज़ से मद्धम, कोयल की आवाज़ से पंचम, घोड़े की आवाज़ से धैवत और हाथी की चिंघाड़ से निशाद।

राग-विद्या के यह सात स्वर शुद्ध स्वर हैं। स्व का अर्थ है अपनेआप, और र का अर्थ है शोभावान यानी सहज सुन्दर।

बाद में कई रागों के लिए ऊँचे-नीचे स्वरों की आवश्यकता पड़ी तो पाँच विकृत स्वर बनाये गये, जिन में से ऋषभ, गन्धार, धैवत और निशाद विकारी होकर कोमल हो जाते हैं, और मद्धम विकृत होकर तीव्र हो जाता है।

रागों के सिलसिले में गृह-स्वर, वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी लफ़्ज़ प्रयोग किये गये हैं। गृह-स्वर वह होता है जहाँ राग के अलाप की समाप्ति हो। वादी स्वर वह होता है जो राग का प्राण हो। संवादी स्वर वह होता है जो वादी स्वर का सहायक हो। अनुवादी स्वर वह होता है, जो वादी और संवादी को मदद देकर राग की पूरी सूरत सामने ले आये। और विवादी स्वर वह होता है—जो अच्छे-भले राग की सूरत बिगाड़ दे। इस विवादी स्वर को वर्जित-स्वर भी कहते हैं, शत्रु-स्वर भी।

स्वर केवल राग विद्या की सम्पत्ति नहीं होते, हर भाषा के प्राण होते हैं। ख़ासकर तब, जब भाषा कला का माध्यम बनती है।

अदबी ज़ुबान के शुद्ध स्वर किसी भी अदीब के यह सात वसफ़ कहे जा सकते हैं—अनुभव की अमीरी, एहसास की तीक्ष्णता, चिन्तन की गहराई, विशाल मुताल्या, खोज की रुचि, सच का इश्क और जीवन के नैतिक मूल्य।

हुनर का क्राफ़्टवाला पहलू साधना के अर्थों में होता है।

नज़्म हो, नस्र हो, या तनकीद हो, उसी के अनुसार इन सात शुद्ध स्वरों में से कोई स्वर गृह-स्वर होता है, कोई वादी स्वर, कोई संवादी, और कोई

अनुवादी। पर अदबी ज़ुबान में जो विवादी स्वर होता है, वह इन्सान के निकृष्ट विचारों का स्वर होता है, कला का शत्रु स्वर। हुनर का वर्जित स्वर। अदब में बेअदब स्वर।

ज़िन्दगी के हादसे कई रागों की स्थापना करते हैं, जिनके लिए नये स्वरों की जरूरत पड़ती है, ऊँचे-नीचे स्वरों की। पर वह पाँच विकृत स्वर—इन्सान के अकेलेपन, उदासी, विरक्ति, और चुप या चीख़ के एहसास होते हैं। वह विकृत स्वर होते हैं—पर वर्जित नहीं।

साहित्य का जादू राग के जादू जैसा होता है, आत्मा में दीये जला सकनेवाला, मन के मेघ से नीर ले सकनेवाला, और सर्प-रुचियों को बाँध सकनेवाला।

पर हमारा आज का बहुत-सा साहित्य लोक-कानों के लिए यदि शोर बन गया है, तो दोस्तो! यह हमें देखना है कि हम कहाँ-कहाँ निकृष्ट विचारों के वर्जित स्वर लगा रहे हैं।

सूर्य-नाड़ी चन्द्र-नाड़ी

पौराणिक विचारधारा ने अर्धनारीश्वर फलसफ़ को इन्सानी जिस्म में इस तरह पाया है कि इन्सान के दायीं ओर उस की सूर्य-नाड़ी होती है और बायीं ओर चन्द्र-नाड़ी।

सूर्य-नाड़ी शिव का प्रतीक है, मर्द का, जिसे हठयोगवाले पिंगला कहते हैं। और चन्द्र-नाड़ी शक्ति की प्रतीक है, औरत की, जिसे हठयोगवाले इड़ा कहते हैं। इन दोनों शक्तियों को इन के कर्म के आधार पर प्राजना और उपाय कहते हैं।

साधना से इड़ा और पिंगला का मिलन सम्भव होता है। और दोनों के बीच, दोनो के मिलने के स्थान को, हठयोगवाले सुषुम्ना कहते है। कहते हैं कि अनहत शब्द इसी स्थान से सुनायी देता है, इसीलिए इस का नाम ब्रह्म मार्ग भी है महा पथ भी।

यह सारी संरचना, ज्यों-की-त्यों, ज़िन्दगी की संरचना भी है। एक मर्द और एक औरत का शाश्वत आकर्षण, जिसे मोहब्बत से शक्ति लेकर महा पथ पर चलना होता है और वस्ल का अनहत शब्द सुनना होता है।

योगियों ने इन्सानी शख्सियत के विकास के लिए, साधना का जो रास्ता नियत किया है—वह है, साधना की चार मंज़िलें, जिन्हें वे चार कमल कहते हैं। यह चार कमल उन्होने इन्सानी जिस्म के चार हिस्सों में कल्पित किये हैं।

पहला—मनिपुर चक्र, जिसे निर्माण-काया भी कहते हैं, वह इन्सान के केन्द्र-बिन्दु नाभि में होता है।

दूसरा—अनहत चक्र, जिसे धर्म-काया भी कहते हैं, वह हृदय में होता है।

तीसरा—संभोग चक्र, यानि संभोग-काया, वह गर्दन के नज़दीक होता है।

और चौथा कमल इन्सान के सिर में होता है. हज़ारों नाड़ियों का गुच्छा, हज़ारों पत्तियोंवाला कमल फूल, जिस पर सहज-सच विराजमान होता है। यही सहज-अवस्था उस महा-सुख के अनुभव की प्रतीक है, जो अनुभव छोटे-से पिण्ड

को ब्रह्माण्ड के साथ जोड़ता है। इसी अनुभव को दैव-रूप मे कल्पित कर के विष्णु कहा गया है, जो कमल फूल पर विराजमान है···

यह इन्सान की स्वयं-शक्तियो के नाम है, जिन्हे साधना के बल से जगाया जाता है। यह निर्माण-शक्ति का वह रास्ता है, जिसे मस्तक तक पहुँचना होता है, और विष्णु का रूप हो जाना होता है।

यही मजिलें औरत और मर्द के मिलन की मज़िलें है। इस मिलन ने निर्माण काया की पहली मजिल से आगे जाकर, धर्म-काया और सम्भोग-काया मे से गुजरकर, वस्ल के विष्णु का स्वरूप बनना होना है। अर्धनारीश्वर का रूप।

निर्माण-काया से अगली मजिल धर्म काया, अद्वैत की मजिल होती है जिस मे मजहब, कौम या कानून हायल नही होते। सूर्य-नाडी और चन्द्र-नाडी का मिलन जिन्दगी का यथार्थ है, पर जिस के लिए साधना जैसे सामर्थ्य की आवश्यकता होती है।

ऊंचा आसमान

आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कहानी प्रचलित है कि पहले समय में आसमान बहुत नीचा था। इतना नीचा कि धरती के लोग सीधे खड़े होकर नही चल सकते थे। वह धरती पर रींगकर चलते थे। तब धरती पर घुप अँधेरा रहा करता था और धरती के लोग कन्द-मूल टटोलकर खोजते थे और अपनी भूख मिटाते थे···फिर धरती के पछियों को ख़याल आया कि यह दशा बड़ी दुखदायी है, अगर किसी तरह अम्बर को धकेलकर ऊँचा कर दिया जाये तो धरती के लोग सिर उठाकर चल सकेंगे···

सो पंछियों ने मिलकर लम्बे लम्बे तिनके इकट्ठे किये और उन के जोर से आसमान को ऊपर की ओर धकेलना शुरू किया। आसमान सचमुच ऊपर हो गया, और धरती के सारे आदमी, जो घुटनो के बल रींग रहे थे, सिर ऊँचा कर के खड़े हो गये।

साथ ही एक चमत्कारी घटना घटी कि आसमान के ऊँचा हो जाने से उस के पीछे जो सूरज छिपा हुआ था वह सामने आ गया, और सारी धरती पर उजाला हो गया।

यह कहानी सिर्फ़ बीते हुए समय की नहीं है, मेरी नज़र में हर काल की कहानी है, हर क्षेत्र की, पर अपने अपने अर्थों में।

यह कहानी इन्सानी रिश्तों के क्षेत्र में आज भी सच है। सिर्फ़ अन्तर यह है कि इस क्षेत्र में हर एक का आसमान अपना-अपना होता है। पछियों की रूह-वाले जो इन्सान अपने जोर से कुछ तिनके जोड़कर अपना आसमान ऊँचा कर लेते हैं, उनकी धरती पर उजाला हो जाता है, और वह अपने पैरों-तले की धरती पर सिर उठाकर चलते हैं। नहीं तो—सारा समाज सामने गवाह है—जहाँ हर मर्द और हर औरत घने अँधेरे में एक-दूसरे को बिना पहचाने सारी उम्र घुटनों के बल रींगते रहते हैं···

और यह कहानी हमारे पंजाबी साहित्य के क्षेत्र में भी सच है, जहाँ नुक्ता-

नज़र का आसमान इतना नीचा है कि हमारे साहित्यकार शोहरत की भूख लगने पर, बड़े हाथ-पाँव मारकर, मान-सम्मान के फूल-पत्ते खोजते रहते हैं। और एक-दूसरे की निन्दा-चुग़ली के अंधेरे मे रींगते हुए कभी भी सिर ऊंचा कर के नहीं खड़े हो सकते।

हमारे साहित्य में जो भी कुछ साहित्यिक-मिआर के आधार पर होना चाहिए वह व्यक्तिगत दोस्ती और दुश्मनी के आधार पर हो रहा है।

दोस्तो ! हमारे हाथों का सहारा हमारी कलमें हैं। यही कलमे ऊँची कर के हम नीचे आसमान को उठाकर ऊँचा आसमान कर सकते है और जिस ओट ने हमारा सूरज छिपा रखा है, उसे हटाकर हम अपना सूरज ढूंढ़ सकते है।

सूरज एक हकीक़त है, उस का उजाला एक हक़ीकत है, आप आजमाकर देख लें दोस्तो कि अँधेरे का यथार्थ, यथार्थ नही है।

और पंछी-रूह का वरदान पानेवाले दोस्तो ! आसमान जितना ऊंचा होगा, उस की ख़िला को चीर सकनेवाली आपकी नजर भी ऊँची हो जायेगी। और सूरज, चाँद-तारे नजर की हद में आ जायेंगे।

दोस्तो ! साज़िशों के अँधेरे में हाथों-घुटनों के बल हो कर चलना सचमुच पंछी-रूह की तौहीन है।